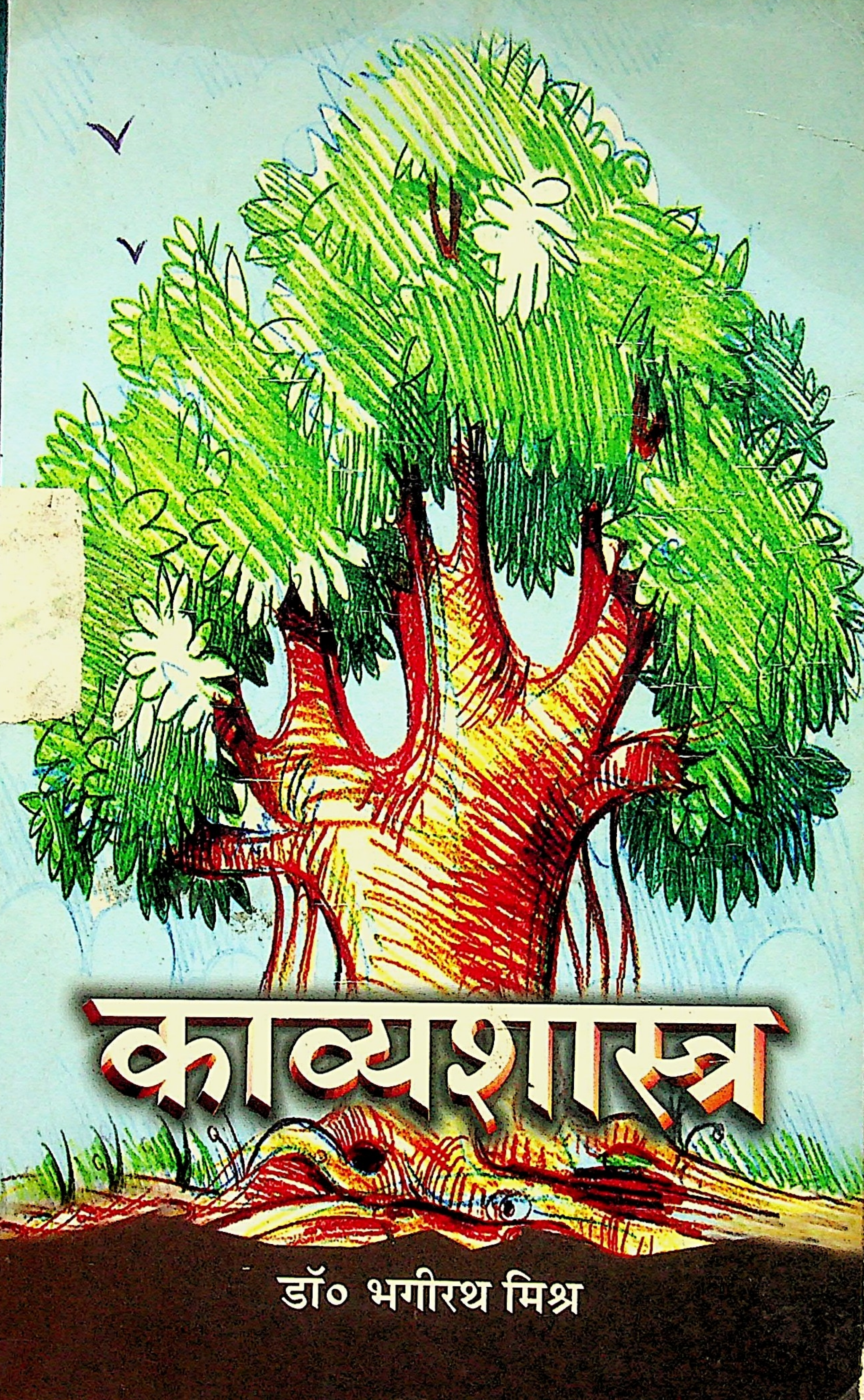


काव्यशास्त्र

डॉ० भगीरथ मिश्र

काव्यशास्त्र

[काव्य के स्वरूप, तत्त्व, सिद्धान्तों और समस्याओं का प्रामाणिक विवेचन]

लेखक

डॉ० भगीरथ मिश्र, एम० ए०, पी-एच० डी०, साहित्य वाचस्पति

पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष

एवं पूर्व कुलपति

हिन्दी-विभाग, सागर विश्वविद्यालय

तथा

उपाध्यक्ष, म० प्र० तुलसी अकादमी

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

KAVYASHASTRA

(Principles of Literary Criticism)

by

Dr. Bhagirath Mishra

Paperback ISBN : 81-7124-427-0

Bound ISBN : 81-7124-428-9

षोडश संस्करण : २००५ ई०

संवत् २०६१

प्रकाशक

विश्वविद्यालय प्रकाशन

चौक, वाराणसी - 221 001

फोन व फैक्स : (0542) 2413741, 2413082

E-mail : vvp@vsnl.com • sales@vvpbooks.com

Website : www.vvpbooks.com

मुद्रक

वाराणसी एलेक्ट्रानिक कलर प्रिण्टर्स प्रा० लि०

चौक, वाराणसी - 221 001

प्राक्कथन

'काव्यशास्त्र' का यह संस्करण अध्येताओं के बीच प्रस्तुत करते हुए मुझे सन्तोष और प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। इसका कारण यह है कि इन ग्रन्थ का पर्याप्त उपयोग इस विषय के अध्येताओं ने किया है। मेरी कल्पना थी कि सम्भवतः इस विषय के कतिपय विद्वानों का ध्यान इधर जायेगा। विशेष रूप से इसके परवर्ती संस्करणों की ओर तो विचार आवश्यक था, क्योंकि इसके द्वितीय और तृतीय संस्करणों में प्रथम संस्करण की अपेक्षा नई सामग्री जोड़ दी गई है। यह सामग्री विशेष रूप से साहित्यालोचन के पाश्चात्य मानदण्डों के रूप में है। पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का अनुशीलन करने से हमें ऐसा प्रतीत होता है कि वहाँ काव्य की समग्र विवेचना के लिए वैसे सिद्धान्तों और मानदण्डों का निर्माण नहीं हुआ जैसा कि संस्कृत-साहित्य के अन्तर्गत हुआ है। फिर भी, कुछ पाश्चात्य वाद ऐसे हैं जिनका उपयोग हम काव्य की आलोचना के प्रसंग में कर सकते हैं। इनका महत्त्व ध्वनि, रस या अलंकार के समान काव्य के शास्त्रीय विवेचन में उतना नहीं है जितना कि काव्य को समझने और उसका मूल्यांकन करने के लिए एक दृष्टि प्रदान करने में है। इन पाश्चात्य वादों और सिद्धान्तों में कुछ तो सौष्ठववादी सिद्धान्त हैं जो काव्य के कलापक्ष को या रूपपक्ष को समझने की भूमिका प्रदान करते हैं। साथ ही कुछ दूसरे हैं जो हमें काव्य के वस्तुपक्ष का महत्त्व बताते हैं और अन्य कुछ ऐसे भी हैं जो काव्य में बिम्बित मनोभावों के विवेचन और विश्लेषण का मार्ग प्रशस्त करते हैं। पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय वादों को इन तीनों पक्षों में रखकर देखना ही अधिक समीचीन होगा।

इन तीन पक्षों पर विचार करते हुए हमें ऐसा लगता है कि काव्य की समीक्षा करते समय इनमें से किसी एक का नहीं, वरन् तीनों पक्षों का उपयोग आवश्यक है। ये तीनों पक्ष साहित्य को समझने के लिए तीन दृष्टियाँ हैं। केवल एक दृष्टि से देखने पर काव्य की सभी विशेषताएँ प्रकट नहीं होतीं और यह एक बहुत बड़ा कारण है जिससे हम किसी एक मत का खण्डन और दूसरे मत का मण्डन साहित्यशास्त्र में पाते हैं और खण्डन-मण्डन के दोनों ही पक्ष असमीचीन नहीं लगते। वास्तव में काव्य का वस्तुपक्ष भी उतना ही महत्त्व का है जितना कलापक्ष और भावपक्ष। इसी कारण से किसी रचना की समीक्षा करते समय अब हम वस्तुपक्ष का भी विवेचन करते हैं। यह वस्तुपक्ष उसकी कथावस्तु तथा सामाजिक, सांस्कृतिक और दार्शनिक भूमिका के रूप में रहता है। आज हम किसी काव्यकृति का केवल कलापक्ष ही नहीं देखते, वरन् उसके अन्तर्गत प्रवहमान और प्रतिबिम्बित समाज, दर्शन और संस्कृति-सम्बन्धी विचारधारा को भी

KAVYASHASTRA

(Principles of Literary Criticism)

by

Dr. Bhagirath Mishra

Paperback ISBN : 81-7124-427-0

Bound ISBN : 81-7124-428-9

षोडश संस्करण : २००५ ई०

संवत् २०६१

प्रकाशक

विश्वविद्यालय प्रकाशन

चौक, वाराणसी – 221 001

फोन व फैक्स : (0542) 2413741, 2413082

E-mail : vvp@vsnl.com • sales@vvpbooks.com

Website : www.vvpbooks.com

मुद्रक

वाराणसी एलेक्ट्रानिक कलर प्रिण्टर्स प्रा० लि०

चौक, वाराणसी – 221 001

प्राक्कथन

'काव्यशास्त्र' का यह संस्करण अध्येताओं के बीच प्रस्तुत करते हुए मुझे सन्तोष और प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। इसका कारण यह है कि इन ग्रन्थ का पर्याप्त उपयोग इस विषय के अध्येताओं ने किया है। मेरी कल्पना थी कि सम्भवतः इस विषय के कतिपय विद्वानों का ध्यान इधर जायेगा। विशेष रूप से इसके परवर्ती संस्करणों की ओर तो विचार आवश्यक था, क्योंकि इसके द्वितीय और तृतीय संस्करणों में प्रथम संस्करण की अपेक्षा नई सामग्री जोड़ दी गई है। यह सामग्री विशेष रूप से साहित्यालोचन के पाश्चात्य मानदण्डों के रूप में है। पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का अनुशीलन करने से हमें ऐसा प्रतीत होता है कि वहाँ काव्य की समग्र विवेचना के लिए वैसे सिद्धान्तों और मानदण्डों का निर्माण नहीं हुआ जैसा कि संस्कृत-साहित्य के अन्तर्गत हुआ है। फिर भी, कुछ पाश्चात्य वाद ऐसे हैं जिनका उपयोग हम काव्य की आलोचना के प्रसंग में कर सकते हैं। इनका महत्त्व ध्वनि, रस या अलंकार के समान काव्य के शास्त्रीय विवेचन में उतना नहीं है जितना कि काव्य को समझने और उसका मूल्यांकन करने के लिए एक दृष्टि प्रदान करने में है। इन पाश्चात्य वादों और सिद्धान्तों में कुछ तो सौष्ठववादी सिद्धान्त हैं जो काव्य के कलापक्ष को या रूपपक्ष को समझने की भूमिका प्रदान करते हैं। साथ ही कुछ दूसरे हैं जो हमें काव्य के वस्तुपक्ष का महत्त्व बताते हैं और अन्य कुछ ऐसे भी हैं जो काव्य में बिम्बित मनोभावों के विवेचन और विश्लेषण का मार्ग प्रशस्त करते हैं। पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय वादों को इन तीनों पक्षों में रखकर देखना ही अधिक समीचीन होगा।

इन तीन पक्षों पर विचार करते हुए हमें ऐसा लगता है कि काव्य की समीक्षा करते समय इनमें से किसी एक का नहीं, वरन् तीनों पक्षों का उपयोग आवश्यक है। ये तीनों पक्ष साहित्य को समझने के लिए तीन दृष्टियाँ हैं। केवल एक दृष्टि से देखने पर काव्य की सभी विशेषताएँ प्रकट नहीं होतीं और यह एक बहुत बड़ा कारण है जिससे हम किसी एक मत का खण्डन और दूसरे मत का मण्डन साहित्यशास्त्र में पाते हैं और खण्डन-मण्डन के दोनों ही पक्ष असमीचीन नहीं लगते। वास्तव में काव्य का वस्तुपक्ष भी उतना ही महत्त्व का है जितना कलापक्ष और भावपक्ष। इसी कारण से किसी रचना की समीक्षा करते समय अब हम वस्तुपक्ष का भी विवेचन करते हैं। यह वस्तुपक्ष उसकी कथावस्तु तथा सामाजिक, सांस्कृतिक और दार्शनिक भूमिका के रूप में रहता है। आज हम किसी काव्यकृति का केवल कलापक्ष ही नहीं देखते, वरन् उसके अन्तर्गत प्रवहमान और प्रतिबिम्बित समाज, दर्शन और संस्कृति-सम्बन्धी विचारधारा को भी

समझते हैं। अतएव साहित्य-समीक्षा के लिए इस वस्तुपक्ष का भी महत्त्व है। भारतीय और पाश्चात्य विचारकों में कुछ ही विचारक हैं जो इसको महत्त्व देते हैं। इस पक्ष को महत्त्व देनेवाले विशेष रूप से कतिपय रूसी चिंतक हैं जिन्होंने जीवन और प्रकृति को साहित्य-सृष्टि के लिए महत्त्वपूर्ण तथा प्रेरणा-स्रोत के रूप में स्वीकार किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में इसी कारण से ऐसे विचारकों के मत को भी दिया गया है।

इसी प्रकार पाश्चात्य मनःशास्त्रियों के मतानुसार काव्य का सम्बन्ध मानसिक स्थिति से है। उनके विशिष्ट मतों के साथ-साथ यह स्वीकार करना पड़ता है कि काव्य की रचना एक मानसिक प्रक्रिया है। ऐसी दशा में उस मानसिक प्रक्रिया के निर्माण में जो सहायक तत्त्व हैं वे भी अपना महत्त्व रखते हैं। भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा में भी इस पक्ष का निरूपण रससिद्धान्त के अन्तर्गत किया गया है। अतएव रस और भाव-निरूपण, कला और वस्तुपक्ष से इतर, काव्य-विवेचन का एक स्वतन्त्र पक्ष बन जाता है। इस ग्रन्थ में इस बात को भी स्पष्ट किया गया है।

इस प्रकार नवीन संस्करण के अन्तर्गत नयी सामग्री के रूप में इस बात को समाविष्ट किया गया है कि साहित्य के अध्ययन और काव्य के विवेचन के लिए उपर्युक्त तीनों पक्षों का ज्ञान आवश्यक है और ये तीनों पक्ष साहित्य को समझने के लिए तीन दृष्टियों का कार्य करते हैं। यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है कि इनमें से किसी भी पक्ष को घटकर या बढ़कर नहीं कहा जा सकता। ऐसी दशा में काव्यशास्त्र के अध्ययन के अन्तर्गत इन सभी का अध्ययन वांछनीय है। ध्यान से देखने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि संस्कृत के काव्य-शास्त्री भी इस बात से अपरिचित नहीं थे। इसलिए उन्होंने अलंकार, वक्रोक्ति और ध्वनि के अन्तर्गत कलापक्ष के विवेचन के साथ-साथ रस और भावों का विवेचन भी किया है। इतना ही नहीं, काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों में प्रबन्ध काव्य के अन्तर्गत कथावस्तु और चरित्र को भी महत्त्व प्रदान किया गया है जो वास्तव में वस्तुपक्ष के अन्तर्गत हैं और इन्हीं सब बातों का विचार करके ही आचार्य भामह ने स्पष्ट कहा है कि—

न स शब्दो न तद्वाच्यं, न सा विद्या न सा कला ।
जायते यत्र काव्यांगं अहो, भारो महान् कवेः ॥

काव्यशास्त्र के नवीन संस्करण में इन्हीं सब बातों का विचार करके भारतीय और पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों तथा वादों को तीन विभागों में रखकर देखा गया है जिससे काव्य के कला और जीवन पक्ष को लेकर योरप में चिरकाल तक चलनेवाले संघर्ष को भलीभाँति समझाया जा सके। मुझे आशा है कि यह परिवर्द्धित संस्करण इस विषय में रुचि रखनेवाले व्यक्तियों को अधिक उपादेय लगेगा।

सागर
रामनवमी, 1990 ई०

भगीरथ मिश्र

भूमिका

कवि और उसकी कृति—काव्य के सम्बन्ध में बड़ी उच्च किन्तु विविध धारणाएँ प्राप्त होती हैं। वैदिक साहित्य में कवि ईश्वर का पर्याय रूप है—'**कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः**'[1], यहाँ पर कवि का अर्थ है रचनात्मक शक्ति या प्रतिभा से युक्त व्यक्ति। मुण्डकोपनिषद् में आया है—

तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा संततानि।[2] (यह सत्य है कि बुद्धिमान, तत्त्वदर्शी ऋषियों ने जिन कर्मों को वेदमंत्रों में देखा था; वे तीनों वेदों में अनेक प्रकार से व्याप्त हैं।) यहाँ कवि तत्त्वद्रष्टा ऋषि के पर्याय रूप में आया है। ऋषियों की कवित्व-प्रतिभा का उल्लेख '**ऋषयः मंत्रद्रष्टारः**', इस उक्ति से भी स्पष्ट है। अतः कवि ऋषियों के समान तत्त्व और रहस्य को प्रत्यक्ष या अनुभव करनेवाला होता है। ऋषियों के मंत्रों की भाँति कवि भी अपनी कविता का प्रत्यक्ष दर्शन करता है। कविता करनेवाले तो बहुत हैं, पर कवि-प्रतिभा दुर्लभ है। कवि-प्रतिभा के द्वारा कवि के मन में काव्य का अजस्र स्रोत बहता है। उसी दुर्लभ शक्ति की प्रशंसा करते हुए साहित्यदर्पणकार ने लिखा है—

नरत्वं दुर्लभं लोके, विद्या तत्र सुदुर्लभा ।
कवित्वं दुर्लभं तत्र, शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा ॥[3]

शक्ति-संपन्न कवि और उसके काव्य के परिचय की आवश्यकता नहीं होती। वह तो पुकार-पुकार कर जहाँ-कहीं भी है अपनी आभा का प्रभाव डालता है। कवि किसी भी समाज के लिए वरदान है। कहा गया है कि बिना जाने हुए भी जैसे मालती की माला आकर्षित करती है, ऐसे ही अपरिचित होते हुए भी कवि की उक्ति मनोहारी होती है।[4]

वास्तविकता तो यह है कि संसार को वाणी देनेवाला कवि है। अपनी सूक्ष्म मानसिक अनुभूति द्वारा वह किसी भी शब्द को नवीन अर्थ दे सकता है और उसे अपने

---

1. ईशावास्योपनिषद्, 8
2. मुंडकोपनिषद्, द्वितीय खंड, 1
3. देखिये, अग्निपुराण, 327, 3, 4
4. अविदितगुणाऽपि सुकवेर्भणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम्।
अनधिगतपरिमलाऽपि हि हरति दृशं मालतीमाला॥—सुबन्धु

प्रयोग द्वारा नवीन भाव का प्रतीक बना सकता है। कवि सत्य का ज्ञाता, सौन्दर्य का स्रष्टा और रहस्य का द्रष्टा एवं वक्ता है। उसके लिए प्रत्येक वस्तु चेतन है। ईंट, पत्थर, वृक्ष, पौधे, नदी, झरने, बादल, बिजली, सरोवर सभी उसके लिए मुखर और अपना भेद कहनेवाले हैं। कवि के लिए वे सभी अनुभूति-संयुक्त और संवेदनशील हैं। प्रसिद्ध दार्शनिक इमर्सन के विचार से कवि की वाणी मेघ-गर्जन है, उसके विचार कानून हैं और उसके शब्द सर्वत्र वैसे ही समझे जाते हैं जैसे पशु और पौधे।[1] वे सार्वभौम हैं और उनमें देशकाल का प्रतिबन्ध नहीं। होमर, शेक्सपीयर, कालिदास, मिल्टन, कबीर, तुलसी, सूर, बिहारी, टैगोर, प्रसाद, प्रेमचन्द आदि किसी देश, जाति या काल की सम्पत्ति नहीं, वे विश्व की विभूति हैं और सभी उनके सन्देश को सुनते और उनके शब्दों को स्मरण करने के लिए लालायित रहते हैं।

कवि स्वच्छन्द होते हैं, वे बन्धन में नहीं रह सकते हैं, इसीलिए तो नवीन रचनाएँ करने की शक्ति उनमें होती है। कहा गया है—**निरंकुशाः कवयः**। वे स्वच्छन्द विचरते हैं और स्वच्छन्द विचारते हैं। उनको वश में करने के लिए बल नहीं, हृदय चाहिए। उनकी रचना का वास्तविक सम्मान ही उनकी प्रतिभा का आदर है और उन्हें एक सहृदय के रूप में ही वश में किया जा सकता है। कवि सभ्यता और संस्कृति का विकास करनेवाला होता है। वह जीवन का एक आदर्श प्रस्तुत करता है। जीवन की कला कवि की कृतियों द्वारा ही विकास पाती है। कवि अमृतमय सन्देशों द्वारा सत्य और सौन्दर्य की सीख देता है।[2] अतः कवि की महिमा अपार है।

इन महापुरुषों की रचना-काव्य, एक नवीन सृष्टि है। उनकी रचना का आनन्द जिसे मिल गया है, उसे और कोई भी वस्तु अच्छी नहीं लग सकती। काव्य सर्वोपरि आनन्ददायी वस्तु है। मानव-जीवन में तो काव्य से बढ़कर आनन्ददायी सर्वसुलभ वस्तु नहीं हो सकती। काव्य की प्रशंसा करते हुए किसी कवि ने लिखा है—

कं पृच्छामः सुराः स्वर्गे निवसामो वयं भुवि ।
किंवा काव्यरसः स्वादुः किंवा स्वादीयसी सुधा ॥

इस अमृत के समकक्ष काव्यरस का आस्वादन कौन न चाहेगा? अमृत दुर्लभ है, कोई समय ऐसी भी होता है जबकि काव्यरस भी दुर्लभ हो जाता है। काव्य पोथियों में लिखा पड़ा रहता है। उस समय या तो प्रतिभायुक्त कवि होते नहीं या फिर उनका सम्मान नहीं होता, क्योंकि, समाज में सहृदयता या रसिकता नहीं होती। सात्त्विक गुणों

---

1. Poet's speech is thunder, his thought is law, his words are universally intelligible as the plants and animals.—*Emerson.*
2. Poets are not only authors of language and music, but they are the institutors of laws and founders of civil society and inventors of the art of life and the teachers who draw into a certain propinquity with the Beautiful and the True.

—*Shelley.*

की प्रधानता, भाषा-ज्ञान, मर्मज्ञता, काव्यशास्त्र का ज्ञान और काव्यसेवन के हेतु, समय, ये सब बातें काव्यरसास्वादन के लिए अपेक्षित हैं। राजनीति के दाँव-पेंच चलते ही रहते हैं, कारबार चला ही करता है, घर-गृहस्थी की चिन्ताओं का तो कभी अन्त नहीं है, संसार में हजार झंझटें लगी रहती हैं। उनकी ओर देखकर ही लोगों ने संसार को दु:खमय माना है और हमारा दुर्भाग्य है कि हम उसी दु:खमय संसार में ही चौबीसों घण्टे बिताना चाहते हैं। क्षण भर भी काव्य का आनन्द पाने के लिए हमारे पास समय नहीं जो हमारे मन को स्वस्थ और हृदय को उत्साहपूर्ण कर सके। मैं तो समझता हूँ कि समाज में इसी प्रकार के निरपेक्ष आनन्द के अभाव में व्यक्तियों का आनंदमय दीर्घजीवन समाप्त हो गया। दु:ख के बीच भी चिन्ता से मुक्ति दिलानेवाला काव्य है, रुदन के बीच हास्य छिटकानेवाला काव्य है। दु:खी को हँसी और हँसानेवाले को दु:ख का आनन्द दिलानेवाला काव्य है। इसी का अनुभव करके कहा गया है—

संसारविषवृक्षस्य द्वे एव मधुरे फले ।
काव्यामृतरसास्वाद: संगम: सज्जनै: सह ॥

काव्य हमारे संस्कार बनाता है। हमारे भीतर स्नेह और मधुराई का विकास करता है। सौन्दर्य की दृष्टि प्रदान करता है। काव्यगत सौन्दर्य को जीवन में उतारकर ही हम सभ्यता की सीढ़ी पर चढ़ते चले जा रहे हैं। सौन्दर्य को देखकर आनन्द प्राप्त करना सहृदय का काम है और सौन्दर्य की सृष्टि और उससे प्राप्त आनन्द को सर्वसुलभ बनाना कवि का काम है। मानव-जीवन काव्य के आनन्द के बिना चल नहीं सकता। ऐसे काव्य की रचना कभी रुकती नहीं, पर उससे आनन्द पाने के लिए हमें कुछ ज्ञान और संस्कार प्राप्त करना होता है। जिस ज्ञान को प्राप्त कर कवि सुन्दर कविता कर सकता है और सहृदय काव्य का पूरा आनन्द प्राप्त करता है, वह है **काव्यशास्त्र**। काव्य के स्वरूप को समझना और उसके तत्त्वों का विश्लेषण करना इसी का कार्य है। सहृदय काव्य की संवेदना से युक्त होते हैं और भावक काव्यशास्त्र-ज्ञान से। कवि साधारण जन की अपेक्षा भावक या आलोचक के द्वारा अपने काव्य की प्रशंसा चाहता है। एक लोकोक्ति है—

सरस कबिन के चित्त को, बेधत द्वै सो कौन ।
असमझवार सराहिबो, समझवार की मौन ॥

संस्कृत की प्रसिद्ध उक्ति तो है ही '**अरसिकेषु कवित्व-निवेदनं शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख**'। अत: अरसिक न बनना पड़े, इसलिए काव्यशास्त्र का ज्ञान आवश्यक है।

कवि भी काव्यशास्त्र के ज्ञान के बिना पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।[1] उसके भेद-प्रभेद तथा उक्ति-वैचित्र्य के विविध रूप, अलंकार, छन्द, ध्वनि, रस, भाव आदि से अवगत होकर वह उच्चकोटि के काव्य की रचना कर सकता है, नहीं तो बहुत से

---

1. कुण्ठत्वमायाति गुण: कवीनां साहित्यविद्याश्रमवर्जितेषु ।—*विक्रमांकदेवचरित*
No man was ever yet a great poet without being at the same time a profound philosopher.—*Coleridge*.

भूले-भटकों की तरह वह भी छन्द और अलंकार को काव्य में अनावश्यक कहेगा, जबकि उनसे मुक्त रहना कवि के लिए सम्भव नहीं है।

मुझे यह कहने में किंचित् संकोच नहीं कि आज का हमारा साधारण समाज काव्यशास्त्र से उतना अवगत नहीं जितना कि वह सौ-डेढ़ सौ साल पहले था। अन्य विषयों के ज्ञान ने हमें ऐतिहासिक चेतना से अतिशय आच्छादित कर दिया है, इसमें सन्देह नहीं। हम अपने बैंकबैलेंस और उदरपोषणकारी विद्या (केवल ज्ञान नहीं, वरन् चतुराई भी) से पूर्ण अवगत होना चाहते हैं, पर आनन्द का द्वार काव्य और उसका शास्त्र हमसे कोसों दूर है। कारण यह है कि समाज काव्य के प्रति जागरूक नहीं। इसके अतिरिक्त इस युग का एक और अभिशाप है; जो सहृदय हैं और काव्य की संवेदना रखते हैं, वे भी आज के जीवन में इतने अधिक व्यस्त हैं कि काव्य-सेवन दुर्लभ है— वह काव्य-सेवन, जो रस का स्रोत है, उस रस का जो ब्रह्मास्वादसहोदर माना गया है, जिसमें चित्तवृत्ति विश्रान्ति पाती है और जिसमें आत्मचेतना अपने शुद्ध रूप में जाग्रत होती है। रस, सहानुभूति का सामाजिक महत्त्व भी स्पष्ट है। यदि हम रस की निर्वैयक्तिक एवं आनन्ददायी अनुभूति में तन्मय हो सकें, तो जीवन की क्षुद्र वृत्तियाँ स्वार्थ, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, पिशुनता आदि भी शान्त हो जायें। तभी एक अखण्ड आनन्द की लहर समाज में फैल सकती है।

काव्य सौन्दर्य की सृष्टि है। कवि सौन्दर्य का द्रष्टा और स्रष्टा है। इसी कवि के द्वारा देखे और काव्यकृतियों में उतारे हुए सौन्दर्य की ओर बढ़ता-बढ़ता मानव-समाज आज सभ्यता के इस स्तर पर पहुँच गया है जहाँ सौन्दर्य का महत्त्व सब स्वीकार करते हैं, चाहे उससे पूर्ण एवं स्वच्छ आनन्द प्राप्त करने का अवकाश या संस्कार उनके पास न हो। अतः सौन्दर्य को अनुभूति में उतारकर सौन्दर्य को बढ़ानेवाला और अनुभूति को परिष्कृत करनेवाला काव्य अमृततुल्य ही है। उस अमृत-तत्त्व को पहचाननेवाला सहृदय ही होता है; जैसा कि कहा गया है—

तत्त्वं किमपि काव्यानां जानाति विरलो भुवि ।
मार्मिकः को मरन्दानामन्तरेण मधुव्रतम् ॥

अतएव काव्य का मर्म समझने के लिए काव्यशास्त्र का ज्ञान और संवेदना का विकास आवश्यक है। प्रस्तुत पुस्तक में काव्य के स्वरूप की मीमांसा और सिद्धान्तों का परिचय इसी उद्देश्य से प्रस्तुत किया गया है।

भगीरथ मिश्र

विषयानुक्रम

पृष्ठांक

■

1

काव्य का स्वरूप

अध्याय 1

काव्य का स्वरूप

काव्य का स्वरूप बड़ा व्यापक है। जितना व्यापक है, उतना ही सूक्ष्म भी। अत: इसे लक्षण की परिधि में बाँधना अत्यन्त कठिन कार्य है। आदिकाल से लेकर आज तक काव्य का स्वरूप स्पष्ट करने, उसके लक्षण-निर्माण तथा उसे परिभाषाओं में बाँधने के प्रयत्न होते रहे हैं, परन्तु उसका विकासशील रूप लक्षणों और परिभाषाओं की सीमा से बाहर ही दीख पड़ता है। कहीं उसका कोई अंग नहीं आ पाता, तो कहीं उसके प्रभाव की विशेषता समाप्त हो जाती है। काव्य की व्यापकता का स्थूल प्रमाण तो यही है कि संसार के सभी देशों और जातियों में प्रारम्भ से ही काव्य किसी-न-किसी रूप में पाया जाता है। न तो सभ्य संसार इसे केवल अपनी ही सम्पत्ति कह सकता है और न शिक्षित ही इसे अपनी बपौती। निरक्षर, अशिक्षित लोगों के कण्ठ से काव्य की धारा फूट निकलने के प्रमाण हमारे सामने हैं और असंभ्य कही जानेवाली जातियों का भी अपना जोरदार काव्य है।

काव्य को कुछ लोग असभ्यावस्था से सम्बन्धित मानते हैं और यह प्रश्न उठाते हैं कि ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास होता जाता है, त्यों-त्यों काव्य का ह्रास होता जा रहा है। जितने बड़े-बड़े महाकाव्य, विशाल कल्पना और प्रबल मन्थनकारी भावनाओं से युक्त काव्य हमें पूर्ववर्ती युगों में मिलते हैं, उतने आज नहीं। न आज उतने बड़े काव्य-ग्रन्थ लिखे ही जाते हैं और न वैसे पढ़े ही जाते हैं। वास्तव में इसका कारण, अतिबौद्धिक विकास और जीवन में संवेदना की अपेक्षा बुद्धि को अधिक महत्त्व देने से उत्पन्न असामंजस्यपूर्ण और व्यस्त जीवन की अवस्था है। आज हम इतने व्यस्त हैं कि काव्य-रचना का या उसके पठन का हमें समय ही नहीं। अनुभूति और मन की काव्य-सम्बन्धी भूख को हम अन्य साधनों से सन्तुष्ट कर लेते हैं। इसके परिणामस्वरूप न तो व्यापक काव्य की बुभुक्षा जाग पाती है और न अनुभूतियों के घने विशाल बादल ही कल्पना के आकाश में उमड़-घुमड़कर घनघोर काव्य-वर्षा कर पाते हैं। अतिव्यस्तता के कारण छिटफुट कविता की बूँदाबाँदी ही हो पाती है, तब फिर हमारी जीवन-धरती में सरसता और हरियाली कैसे आये? हम व्यापक काव्यानन्द में तन्मय नहीं हो पा रहे हैं। परन्तु जीवन में काव्य की आवश्यकता है, इसमें सन्देह नहीं।

1. जीवन और काव्य

जीवन और काव्य का सम्बन्ध बड़ा सूक्ष्म है, फिर भी बड़ा व्यापक है। शहर के पक्के घरों में रहकर भी जिस प्रकार हम प्रकृति के बिना निर्जीव से रहते हैं उसी प्रकार

विज्ञान की उन्नत दशा में भी काव्य के अभाव में हमारा जीवन वास्तविक जीवन नहीं। इस पर भी, प्राय: हमारे सामने प्रश्न उपस्थित होता है कि काव्य का जीवन से क्या सम्बन्ध है और जीवन में उसका क्या उपयोग है? अर्थशास्त्र, राजनीति, चिकित्सा, इतिहास और विज्ञान—जीव विज्ञान, रसायन विज्ञान, भौतिक विज्ञान, वनस्पति विज्ञान आदि—जिस प्रकार प्रत्यक्षत: हमारे लिए उपयोगी हैं, क्या उसी प्रकार काव्य का भी जीवन में कोई उपयोग हो सकता है और इसके द्वारा हमारी भौतिक समस्याओं का क्या यथार्थवादी समाधान मिलता है? हम कहते हैं, अवश्य। मानव आज विज्ञान के क्षेत्र में बहुत आगे जा चुका है। वह पक्षियों की भाँति आकाश में उड़ सकता है, पृथ्वी के ऊपर का भेद उसने जान लिया है, जल पर उसका आधिपत्य हो चुका है और अब चन्द्रलोक तथा अन्य ग्रहों का रहस्य खोजने में संलग्न है। तत्त्वों के विश्लेषण से उसने विद्युत, रेडियो, दूरदर्शन, अणुशक्ति आदि का आविष्कार किया है। परन्तु क्या इनके माध्यम से वह मनुष्य को मानव के रूप में समझ सका है? क्या वह सबके भीतर स्पन्दित होने वाली करुणा और प्रेम की अनुभूतियों को पहचान सका है? यदि कुछ भी अंशों में हम हाँ कह सकते हैं, तो हमें मानना पड़ेगा कि उसका श्रेय काव्य को है जिसके बिना हम एक कवि के साथ कहते हैं—"आदमी को भी मयस्सर नहीं इन्साँ होना।" विज्ञान के दानवी स्वरूप द्वारा सत्यानाश के मँडराते मेघों को कल्याण और प्रेम-भावना के झोंके से उड़ा सकने अथवा उनसे अमृत-बूँदों की वर्षा कराने की क्षमता साहित्य और काव्य में ही है जो मानवता की पहचान के लिए हृदय का विस्तार करता है और अनुभूति की भाषा को समझकर कह उठता है—

घट घट में वह साईं रमता कटुक वचन मत बोल रे।

काव्य मानव-जीवन की असफलता और निराशा की दशा में आशा का संचार करता है। जिन श्रेष्ठ और पवित्र सिद्धान्तों का मनीषियों ने समाज और धर्मशास्त्रों में निरूपण किया है, उन्हें जीवन में उतार देने का श्रेय और गौरव काव्य को ही प्राप्त है। वह उनके अनुरूप हमारे संस्कार बनाता है। बुद्धि समझकर भी उन पर सदैव अमल नहीं करती, पर संस्कारों में उतरे भाव कार्य को प्रेरित करते हैं। वैयक्तिक सुख-दु:खों को साधारणीकरण द्वारा सामाजिक सुख-दु:ख बना देना काव्य की ही तो विशेषता है। अत: सामाजिक भावना और चेतना को बनाना-बिगाड़ना काव्य का ही काम है।

काव्य मरणशील व्यक्तियों को भी अमर बनाकर सुरक्षित रखता है, यदि उनमें महान् गुण विद्यमान रहे हैं। प्राचीन महापुरुषों को हमारे बीच आज भी जीते-जागते रूप में चित्रित करना काव्य का ही काम है। अत: मानव-गुणों को साकार और सजीव रूप में अमर बनानेवाले काव्य का मूल्य कौन आँक सकता है? साथ ही जीवन में उसकी उपयोगिता कैसे अस्वीकृत की जा सकती है?

काव्य निराकार पदार्थों, भावों और विचारों को साकार और सजीव बनाता है। रूप और व्यक्तित्व के प्रभाव की विद्युत-ज्योति को सँजोकर सुरक्षित रखना और उससे अनुभूतियों और चेतनाओं के प्रदीप आलोकित कर देना, काव्य की ही सामर्थ्य है। वास्तविक बात तो यह है कि शास्त्र और विज्ञान तो जीवन का सार या निचोड़ देते हैं,

पर जीवन के यथार्थ रूप की धारा को अक्षुण्ण और पूर्णरूप से प्रभावित करते रहना काव्य का ही कार्य है।

काव्य की व्यापकता का अनुभव हम और प्रकार से भी करते हैं। काव्य की व्यापक अपील है। किसी भी देश, जाति अथवा युग का काव्य समस्त मानवता को प्रभावित करने की शक्ति रखता है; अत: देश, राष्ट्र, जाति, वर्ग की संकीर्ण भावनाओं की परिधि से बाहर विश्वव्यापी मानवता की भावना के विकास के लिए काव्य का कार्य महत्त्वपूर्ण है। शासक का सम्मान अपने देश में ही अधिक है, पर कवि के सम्मान की कोई सीमा नहीं है।[1] काव्य समस्त मानवता की सम्पत्ति है।

काव्य बाह्य-जगत् के साथ-साथ हमारे भीतर के मानस-जगत् का भी चित्रण प्रस्तुत करता है और इसके द्वारा अन्तस् का रहस्य उद्घाटित करता है। अत: काव्य का बड़ा प्रभाव है। वह हमारे जीवन को सदैव नयी-नयी प्रेरणाएँ देता रहता है। अत: काव्य का हमारे जीवन में शाश्वत महत्त्व है।

जीवन में उपयोगी होने के अतिरिक्त काव्य का उससे घनिष्ठ सम्बन्ध एक अन्य प्रकार से भी प्रकट है। काव्य का विषय और वस्तु भी जीवन ही है। वास्तविक जीवन और जगत् की भूमि पर ही काव्य के काल्पनिक जीवन का प्रसार और विकास होता है। जीवन की धरती छोड़ने पर काव्य का प्रभाव समाप्त हो जाता है। अत: काव्य का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

2. काव्य के लक्षण

काव्य के अनेक लक्षण विद्वानों, कवियों और सहृदयों ने दिये हैं। ये लक्षण अगणित हैं। काव्य का स्वरूप यद्यपि इन लक्षणों में बँध नहीं पाता, फिर भी इन लक्षणों के अध्ययन से हम उसके विविध रूपों और तत्त्वों को हृदयंगम कर सकते हैं। अतएव नीचे हम कुछ महत्त्वपूर्ण लक्षणों के विश्लेषण और विवेचन द्वारा काव्य के रूप को स्पष्ट करेंगे। सबसे पहले हम संस्कृत के आचार्यों द्वारा दिये गये काव्य लक्षणों पर विचार करते हैं।

संस्कृत काव्य-लक्षण

नाटक को काव्य का एक रूप मानने से, भरत मुनि का नाट्यशास्त्र सबसे प्रथम काव्यशास्त्र का ग्रन्थ ठहरता है। नाट्यशास्त्र में काव्य का कोई लक्षण नहीं दिया गया। काव्य के अनेक अंगों का विवेचन उसमें है; जैसे रस, गुण, अलंकार, भाव आदि; पर मुख्य बल उसमें अभिनय पर है। नाटक में काव्यत्व लानेवाली बातों का उल्लेख नाट्यशास्त्र में अवश्य किया गया है जिसके अन्तर्गत गुण, अलंकार, रस का समावेश

---

1. किसी कवि ने कहा भी है—

कागज के से नोट हैं, बिन गुन नृपति प्रवीन ।
बिकंत पराये देस में, नहि कौड़ी के तीन ॥

है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में नाटक में काव्य की स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

मृदुललितपदाढ्यं गूढशब्दार्थहीनम्
जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोज्यम् ।
बहुरसकृतमार्ग सन्धिसन्धानयुक्तम्
स भवति शुभकाव्यं नाटकप्रेक्षकाणाम् ॥

पर यह काव्य की सामान्य परिभाषा के रूप में नहीं है, इसमें नाटक के अन्तर्गत प्राप्त काव्य के तत्त्वों का निरूपण है। अत: काव्य की सबसे प्राचीन परिभाषा हमें अग्निपुराण की माननी चाहिए। अग्निपुराण[1] में काव्य की परिभाषा है—

संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ।
काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद्दोषवर्जितम् ॥

संक्षेप में इष्ट अर्थ को प्रकट करनेवाली पदावली से युक्त ऐसा वाक्य काव्य है जिसमें अलंकार प्रकट हों और जो दोषरहित और गुणयुक्त हो। इस परिभाषा में पाँच बातें हैं—इष्टार्थ, संक्षिप्त वाक्य, अलंकार, गुण और दोष। इसमें काव्य की प्राय: बाह्य रूप-रेखा स्पष्ट हो जाती है। संक्षिप्त वाक्य स्मरणीयता का द्योतक है। इष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति तो आवश्यक होती ही है, पर इसके कहने की कोई आवश्यकता नहीं थी; इष्ट अर्थ तो सभी कवि व्यक्त करते हैं। यदि इसका अर्थ समाज और श्रोता की दृष्टि से इष्टार्थ है, तब भी यह अस्पष्ट है। अलंकार की आभा से युक्त होना अलंकार-सम्प्रदाय का प्रभाव प्रकट करता है। गुण से युक्त होना काव्यगुणों की स्थिति का संकेत करता है। पर गुण शब्द अनेकार्थी है। दोष से रहित होना उत्तम काव्य का लक्षण है, पर वह निषेधात्मक स्वरूप है। इस परिभाषा के द्वारा काव्य को बाह्य सीमाओं में बाँधने का प्रयत्न किया गया है, पर उसका मुख्य प्रभावकारी स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता।

अग्निपुराण के बाद हम भामह की परिभाषा लेते हैं। उनका कथन है—**शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।**[2] शब्द और अर्थ का संयोग काव्य है।

यह परिभाषा अत्यन्त व्यापक है, क्योंकि इसके क्षेत्र में काव्य के अतिरिक्त शास्त्र, इतिहास, वार्तालाप आदि सभी आ जाते हैं। इस कारण इसमें अतिव्याप्ति का दोष है। यह भी काव्य के अत्यन्त व्यापक और बाह्य स्वरूप का ही स्पष्टीकरण करती है। वास्तव में 'शब्दार्थौ सहितौ' से भामह का तात्पर्य है शब्द और अर्थ दोनों की विशेषताएँ जिसमें प्रकट हों ऐसा दोनों का संघटन। निश्चित है कि शास्त्रादि में अर्थ ही महत्त्व का होता है, शब्द नहीं। पर काव्य में शब्द और अर्थ दोनों का महत्त्व रहता है, यह भामह का भाव है। फिर भी इससे काव्य के स्वरूप का स्पष्टीकरण नहीं होता।

इसी से आगे के आचार्यों ने इन बाह्य स्वरूप-निरूपक लक्षणों का खण्डन कर

---

1. अग्निपुराण, 337 अध्याय, 607 श्लोक।
2. काव्यालंकार, प्रथम परिच्छेद, 16।

काव्य की अन्तर्भूत विशेषता या आत्मा की खोज करने का प्रयत्न किया। दण्डी ने कहा कि 'शरीरं तावदिष्टार्थं व्यवच्छिन्नापदावली' अर्थात् इष्ट अर्थ को प्रकट करनेवाली पदावली तो शरीर मात्र है। यही भाव ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनाचार्य का था कि 'शब्दार्थशरीरं तावत्काव्यम्'—काव्य तो शब्दार्थ के शरीरवाला है। उसकी आत्मा या वास्तविक तत्त्व कुछ और ही है।

इन धारणाओं के परिणामस्वरूप संस्कृत के आचार्यों द्वारा काव्य की आत्मा को खोजने का प्रयत्न हुआ जिसके फलस्वरूप (1) अलंकार, (2) रीति, (3) ध्वनि, (4) वक्रोक्ति, (5) औचित्य, (6) अनुमिति, (7) रस से सम्बन्ध रखनेवाले काव्य-सम्प्रदायों का विकास हुआ। इनका नाम उस तत्त्व के आधार पर रखा गया जिसे इनके माननेवाले काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार करते हैं।

भामह और दण्डी ने अलंकार का व्यापक अर्थ ग्रहण किया है और इसलिए इन्होंने रस तक को रसवत् अलंकारों में सम्मिलित कर लिया। इन आलंकारिक आचार्यों के मत से काव्य का समस्त सौन्दर्य, अलंकार है। दण्डी ने काव्यादर्श में प्रकट किया—

'काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।'[1]

इस प्रकार काव्य को शोभा प्रदान करनेवाले धर्म अलंकार हुए।

अलंकार की वास्तविक स्थिति का विश्लेषण हमें वामन की 'काव्यालंकार सूत्रवृत्ति' में प्राप्त होता है जिसके अन्तर्गत अलंकार के दो स्वरूप स्पष्ट हुए हैं। एक तो काव्य के भीतर व्याप्त समरत सौन्दर्य के रूप में अलंकार शब्द आया है; जैसे—

काव्यम् ग्राह्यमलंकारात्। 1, 1, 1।
सौन्दर्यमलंकार:। 1, 1, 2।
स दोषगुणालंकारहानादानाभ्याम्। 1, 1, 3।

(*काव्यालंकारसूत्र। सा० पा०*)

यहाँ पर अलंकार दो स्थानों पर दो अर्थों में प्रयुक्त है। एक तो काव्य के समग्र सौन्दर्य के रूप में और दूसरे इसी सौन्दर्य के एक उपकरण के रूप में। यदि सौन्दर्य अलंकार है साथ ही उसके अन्तर्गत दोषों का अपवारण और गुण तथा अलंकार का समावेश भी है, तो निश्चय ही दो रूपों में आये अलंकार एक-दूसरे से भिन्न हैं। वामन ने दण्डी की भाँति काव्य की शोभा करनेवाले धर्म को अलंकार न मानकर गुण माना है और कहा है कि अलंकार गुण के उत्कर्ष के कारण-स्वरूप है। अत: आगे चलकर आचार्यों में जो मतभेद रहा वह अलंकार के इन्हीं दो स्वरूपों के कारण। प्रथम स्वरूप को माननेवालों ने काव्य के लिए अलंकार अनिवार्य माने और द्वितीय स्वरूप को स्वीकार करनेवालों ने काव्य में अलंकारों को गौण स्थान प्रदान किया। यही कारण था कि मम्मट की परिभाषा 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' पर क्षुब्ध होकर जयदेव ने लिखा था—

1. काव्यादर्श।

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती ।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती ॥

इसी प्रकार कहा गया है कि 'अलंकार रहिता विधवेवसरस्वती'।

इससे स्पष्ट है कि अलंकार को काव्य में आवश्यक माननेवाले आचार्यों का एक बड़ा समुदाय था।

गुण के आधार पर वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना है। 'रीतिरात्मा काव्यस्य।'[1] उनका तात्पर्य यही है शब्दार्थ शरीरवाले काव्य की आत्मा रीति है।

आचार्य आनन्दवर्द्धन ने अपने ग्रन्थ ध्वन्यालोक में शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर बताकर काव्य की आत्मा ध्वनि मानी (काव्यस्यात्मा ध्वनिः) और ध्वनि का खण्डन कर आचार्य कुन्तक ने, काव्य का जीवन वक्रोक्ति है (वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्), यह सिद्ध किया। इसी प्रकार क्षेमेन्द्र ने औचित्य, महिमभट्ट ने अनुमिति और आगे चलकर विश्वनाथ ने 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' कहकर रस को काव्य की आत्मा स्वीकार किया। आचार्य कुन्तक की वक्रोक्ति और आचार्य विश्वनाथ की रसोक्ति के लिए निश्चयतः पृष्ठभूमि बनी हुई थी क्योंकि आचार्य भामह ने अलंकार को काव्य की समग्र विशेषता के रूप में स्वीकार करते हुए भी उनका मूल तत्त्व वक्रोक्ति को ही माना है। उनका कथन है—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्लोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥

(*काव्यालंकार* 2, 65)

परन्तु इस वक्रोक्ति को तात्त्विक विशेषता के रूप में सभी आचार्यों ने स्वीकार नहीं किया। भोज ने स्पष्ट लिखा है—

वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम् ।
सर्वासु ग्राहिणीं तासु रसोक्तिं प्रतिजानते ॥

अतः मुख्य तत्त्व या आत्मा के प्रसंग में भी काफी मतवैषम्य है।

इस प्रकार काव्य की आत्मा के माध्यम से भी काव्य-लक्षण देना कठिन है, क्योंकि उसकी आत्मा कोई कुछ और दूसरे कुछ और मानते हैं।

आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति पर विशेष बल देते हुए कहा है—

"शब्दार्थौ सहितौ वक्र कवि व्यापारशालिनि। बन्धे व्यवस्थितौ काव्यम्।"

वक्र व्यापारशाली और किसी सूत्र में व्यवस्थित शब्दार्थ काव्य है। यहाँ पर शब्दार्थ की वक्रता और किसी आन्तरिक सूत्र की उसके भीतर व्यवस्था पर बल दिया गया है। वक्रता से क्या तात्पर्य है यह स्पष्ट नहीं है, तथा बन्ध किस प्रकार का होना

1. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, 1, 2, 6।

चाहिए, यह भी अनुल्लिखित है। अतः लक्षण में स्पष्टता का अभाव है। इसके अतिरिक्त वक्रता और बन्ध से रहित भी काव्य होता है, ऐसी दशा में यह लक्षण काव्य के एक विशिष्ट रूप का ही संकेत करता है, समग्र काव्य का नहीं।

मम्मट की काव्य की परिभाषा अग्निपुराण की-सी है; **'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि ।'**[1] यहाँ पर काव्य दोषहीन, गुणयुक्त और कभी-कभी अलंकार से रहित शब्दार्थ है, ऐसा कहा गया है। इस परिभाषा के भीतर दो विशेषताएँ तो निषेधात्मक हैं और उनमें भी एक अनिश्चित। अदोष शब्दार्थ क्या है? पहले तो यही प्रश्न है, फिर काव्य शायद ही कोई ऐसा हो जिसमें कोई-न-कोई दोष न निकाला जा सके। तो क्या अनेक गुणों से युक्त काव्य में कोई एक दोष निकल आया, तो उसे काव्य के क्षेत्र से निकाल दिया जायेगा। ऐसे ही कहीं-कहीं अलंकार से रहित होना, लक्षण की दृष्टि से कोई विशेषता नहीं हो सकती। यह तो मानो जो काव्य में अलंकार को अनिवार्य मानते हैं, उनके मत का विरोध प्रकट करना है। सगुण शब्द भी काव्य की कोई महत्त्वपूर्ण विशेषता प्रकट नहीं करता, क्योंकि गुण बड़ा व्यापक अर्थ देनेवाला शब्द है और काव्य-गुणों से युक्त होना काव्य है, यह परिभाषा अपने ही अंग से अंगी को स्पष्ट करने वाली है। काव्य को एक निश्चित क्षेत्र में बाँधती हुई भी यह परिभाषा काव्य का कोई तात्त्विक और मार्मिक स्वरूप स्पष्ट नहीं कर पाती।

आचार्य हेमचन्द्र के काव्यानुशासन में दी हुई परिभाषा भी इसी पद्धति पर है, **'अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्'**। इसमें एक साथ दोषहीनता, गुण और अलंकार अनिवार्य हो जाते हैं। ऐसी दशा में काव्य के एक सीमित क्षेत्र को ही यह परिभाषा अपने भीतर समेट पाती है। अलंकार, गुण और दोष ये स्वयं शास्त्रीय शब्द हैं, अतः इस लक्षण के द्वारा काव्य की धारणा स्पष्ट नहीं की जा सकती। यहाँ भी मुख्य तत्त्व की ओर संकेत नहीं है। ऐसी धारणा की काव्य-रचना के लिए अलंकार और गुण लाना, कवि का उद्देश्य हो जाता है। अतः ऐसे काव्य में गुण और अलंकार अपने आप और स्वभावतः आने चाहिए, इस धारणा की पुष्टि नहीं हो पाती। शब्दार्थ काव्य है, तब कवि का उद्देश्य हलका और शब्दार्थ की चतुराई तक ही सीमित रह जाता है, काव्य का कोई गम्भीर उद्देश्य इन लक्षणों से बन नहीं पाता। जबकि हमें काव्य का उक्तिवैचित्र्य के अतिरिक्त गम्भीर उद्देश्य स्वीकार करना पड़ेगा।

इसी प्रकार की अन्य परिभाषाएँ भी हैं, पर संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में दो काव्य, लक्षण और महत्त्वपूर्ण हैं। एक है साहित्यदर्पणकार महापात्र विश्वनाथ का और दूसरा, पण्डितराज जगन्नाथ का। आचार्य विश्वनाथ का मत है—**'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'**, रसयुक्त वाक्य काव्य है। यहाँ पर एक अर्थ तो यह हो सकता है रस-वाक्य (विभावानुभाव-व्यभिचारी-संयोग से जिसकी निष्पत्ति होती है वह रस जिस वाक्य में निहित हो, वह) काव्य है। ऐसी दशा में रस की काव्य में अनिवार्यता सिद्ध होती है, जिसमें बहुत मतभेद हो सकता है। यदि हम शास्त्रीय दृष्टि से जिस वाक्य में रस-

1. काव्यप्रकाश।

सम्पादन हुआ हो उसे ही काव्य मानेंगे, तो काव्य का क्षेत्र अत्यन्त संकीर्ण हो जायेगा और अनेक काव्य-पंक्तियाँ इसके क्षेत्र से निकल जायेंगी। बिहारी और केशवदास की अनेक पंक्तियाँ जिनमें रस की पूर्ण निष्पत्ति नहीं, पर अलंकार एवं उक्ति-वैचित्र्य का चमत्कार है, काव्य में नहीं सम्मिलित होंगी। यदि हम रस का अर्थ सरसता, माधुर्य आदि से लेते हैं, तब हम जिसमें मन को रमानेवाली विशेषता हो, जिसमें हमारा मन रस ले सके, वह वाक्य काव्य है। ऐसी दशा में इस सरसता का सम्पादन अनेक बातों से हो सकता है। अलंकार, उक्तिवैचित्र्य, भाव, वस्तु-वर्णन आदि। इस अर्थ में यह लक्षण व्यापक और सर्वजन-सुलभ है।

दूसरे अर्थ का और अधिक स्पष्ट संकेत हमें पण्डितराज जगन्नाथ की परिभाषा में मिलता है जो इस प्रकार है—

'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।'

रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करनेवाला शब्द काव्य है। इस लक्षण में कुछ लोग आपत्ति उठाते हैं कि काव्य के अन्तर्गत शब्द में सदैव अर्थ की रमणीयता नहीं होती, पूरे वाक्य से रमणीयता प्रतिपादित होती है। अतः रमणीय अर्थ देनेवाला वाक्य, काव्य होना चाहिए। परन्तु यहाँ शब्द क्योंकि, वाक्य की सबसे छोटी इकाई है, अतएव वाक्य के स्थान पर शब्द दिया गया है। कभी-कभी एक शब्द की उपयुक्तता सिद्ध की जा सकती है परन्तु पूर्णार्थद्योतक वाक्य ही होता है। कभी-कभी वाक्य स्वयं एक शब्द में सिमट कर आ जाता है। अतएव विश्वनाथ की भाँति 'रमणीयार्थप्रतिपादकं वाक्यं काव्यम्' अधिक उपयुक्त लक्षण होता। एक त्रुटि इसमें और रह जाती है। यहाँ पर संकेत केवल अर्थ की रमणीयता का हुआ है। काव्य के अन्तर्गत एक अंश ऐसा भी रहता है जो शब्द की रमणीयता से सम्बन्ध रखता है। वहाँ पर शब्द का चमत्कार ही उसमें कवित्व ला देता है। शब्दालंकार और वृत्तियों के उदाहरण इसी प्रकार के हैं। वह चमत्कार हो चाहे जिस कोटि का, पर है वह शब्द का ही चमत्कार, और काव्य का जो कलात्मक पक्ष है उसका इससे बहुत बड़ा सम्बन्ध है। इसे हम एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करेंगे। 'पुष्कर' कवि का कृष्ण के गोवर्द्धन-धारण से सम्बन्ध रखनेवाला एक छन्द है—

जल जोर उठी घनघोर घटा ब्रज ऊपर कोप पुरन्दर को ।
कवि पुष्कर गोकुल गोप सबै निरखैं मुख श्री मुरलीधर को ।
धर तें धरिबो धरनीधर को धरक्यो न हियो धरनीधर को ।
कर लै जनु काँकर को करको करनाकर को कर ना करको ॥

ऊपर के छन्द में अर्थ की रमणीयता साधारण है, पर शब्द और वर्णावृत्ति की जो छटा है, वह मन को आकर्षित कर लेती है। तीसरी पंक्ति में 'धर' और चौथी में 'कर' की आवृत्ति से एक नाद-सौन्दर्य और चमत्कार उत्पन्न होता है जो मन को अपनी ओर खींचनेवाला है। अतः काव्य में शब्द की रमणीयता की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

अतएव हम काव्य की परिभाषा उपर्युक्त बातों का ध्यान रखकर, इस प्रकार करें तो अधिक संगत होगा—

शब्द, अर्थ अथवा दोनों की रमणीयता से युक्त वाक्य-रचना को काव्य कहते हैं।

यहाँ पर शब्द की रमणीयता, शब्दालंकार, रीति, वृत्ति, संगीत-तत्त्व आदि के रूप में देखी जा सकती है और अर्थ की रमणीयता अर्थालंकार, वक्रोक्ति, ध्वनि, रस आदि में प्रकट होती है। शब्द की रमणीयता रीति में भलीभाँति प्रतिपादित है, 'विशिष्टा पदरचना रीतिः' में शब्द की सजावट पर जोर है ही। पद में अर्थ का द्योतन अवश्य है, पर रीति की विशेषता अर्थ को और अधिक चमत्कृत करती है। अतः शब्द की रमणीयता का संकेत इसमें विद्यमान है। यह काव्य, वाक्य-रचना है, क्योंकि अर्थ की रमणीयता तो चित्र, मूर्ति आदि की रचना में भी देखी जा सकती है। अतः काव्य को वाक्यरचना ही कहना अधिक संगत जान पड़ता है।

अंग्रेजी काव्य-लक्षण

यहाँ हम अंग्रेजी में दिये हुए काव्य के कतिपय लक्षणों पर विचार करेंगे। 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' में लिखा है—पोइट्री : आर्ट वर्क आफ् दि पोयट (Poetry : art work of the poet.—*Encyclopaedia Britannica*), कवि का कार्य, कला, काव्य है। यह लक्षण अस्पष्ट है। पहले कवि को समझा जाय, तब उसके कार्य को काव्य कहा जाय। कवि के माध्यम से कविता की परिभाषा उचित और स्पष्ट नहीं।

प्रसिद्ध कवि ड्राइडन का विचार है कि **कविता सुस्पष्ट संगीत है** (Poetry is articulate music. —*Dryden*)। यह परिभाषा सर्वत्र सत्य नहीं। अनेक गीत जो गाये जाते हैं वे सभी काव्य की विशेषताएँ नहीं रखते। संगीत कविता का एक पक्ष है, परन्तु संगीत-तत्त्व काव्य का अनिवार्य अंग नहीं। संगीत केवल सुनने की वस्तु है, पर कविता अध्ययन, पठन और मनन से भी आनन्द देती है। इसके अतिरिक्त सभी कविताओं में संगीत नहीं रहता। इस परिभाषा के स्वीकार करने पर उन्हें काव्य के क्षेत्र से बहिष्कृत करना होगा। अतः यह परिभाषा उपयुक्त नहीं।

प्रसिद्ध कवि '**कॉलरिज**' ने लिखा है कि '**सर्वोत्तम शब्द अपने सर्वोत्तम क्रम में कविता होती है** (Poetry is the best words in their best order.)।' यहाँ प्रश्न यह है कि सर्वोत्तम शब्द कौन हैं और उनका सर्वोत्तम क्रम क्या है? सबसे उत्तम अर्थ देनेवाले स्वर्ग, सोना, पुष्प, सौन्दर्य, अमृत आदि शब्द उत्तम होने चाहिए। ऐसी दशा में मृत्यु, कीचड़, नरक आदि शब्द बुरे होंगे और काव्य के क्षेत्र से उन्हें निकल जाना पड़ेगा। पर, इन शब्दों और इनके पर्यायों का उत्तम काव्य में खूब व्यवहार होता है। 'टामस ग्रे' की एलेजी (शोकगीत) की पहली ही पंक्ति 'The curfew tolls the knell of parting day.' में 'knell', 'parting' आदि शब्द सर्वोत्तम नहीं कहे जा सकते। इसी प्रकार बेनी कवि की एक पंक्ति ''मीचु तौ भली है पै न कीच लखनऊ की''—में 'मीचु' और 'कीच' शब्द अमंगलसूचक होने से उत्तम नहीं कहे जा सकते। पर ये शब्द इन पंक्तियों की जान हैं। अतः यह परिभाषा

उपयुक्त नहीं। ऐसा ही क्रम के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। शब्दों का कभी एक क्रम और कभी दूसरा क्रम काव्य की पंक्तियाँ बन जाता है। इसलिए यह लक्षण अस्पष्ट और भ्रामक है।

अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि वर्ड्सवर्थ का विचार है कि **'कविता प्रबल अनुभूतियों का सहज उद्रेक है, जिसका स्रोत शान्ति के समय में स्मृत मनोवेगों से फूटता है।'** (Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings, it takes its origin from emotions recollected in tranquillity.—*Wordsworth*) वर्ड्सवर्थ की परिभाषा तथ्यपूर्ण है, क्योंकि यह भावानुभूति और अभिव्यक्ति की प्रक्रिया को स्पष्ट करती है। इस लक्षण में भी आपत्ति उठायी जा सकती है। शान्ति के समय में सभी अपने मनोवेगों को स्मरण करते हैं और अपने प्रबल भावों को प्रकट भी करते हैं, क्या वह सब काव्य हो जाता है? यहाँ पर अभिव्यक्ति, कला और उसके प्रभाव का उल्लेख नहीं है। हम अपने सुख-दुःखपूर्ण क्षणों का स्मरण कर हँसते और रोते हैं, पर सभी का वह उल्लास और विलाप सदैव कविता नहीं बन जाता। कविता के लिए उस सहज अभिव्यक्ति में सौन्दर्य, संयम और प्रभाव की आवश्यकता है; परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि प्रतिभा और अभिव्यक्ति-कौशल से युक्त कवियों की काव्याभिव्यक्ति की प्रक्रिया यहाँ पर अवश्य स्पष्ट हुई है। मनोवेगों के आवेग के समय काव्य की अभिव्यक्ति नहीं होती; वरन् मनोवेग जब अनुभूति और भाव बन जाते हैं तब कवि स्मरण करके प्रबलता से उठे हुए भावोद्रेक को प्रकट करता है, जो काव्य होता है। कहा भी गया है 'भावस्मरणं रसः'। भावों का स्मृत रूप आनन्ददायी होता है और उनकी प्रतिभा-सम्पन्न कवियों के द्वारा अभिव्यक्ति कविता बन जाती है।

कवि शेली के विचार से **'सर्वसुखी और सर्वोत्तम मनों के सर्वोत्तम और सर्वाधिक सुखपूर्ण क्षणों का लेखा कविता है'** (Poetry is the record of the best and happiest moments of the happiest and best minds.—*Shelley*)। यहाँ पर शंका यह उठती है कि सबसे सुखी और सबसे उत्तम मनों को परखने की कसौटी क्या है? दूसरे उनके सर्वोत्तम और सबसे सुखी क्षण कौन हैं? उनका लेखा सदैव कविता होगी, यह संदिग्ध है। सुखपूर्ण क्षणों से अधिक, काव्य के बीज तो विषादपूर्ण क्षणों में उगते हैं, जैसे कि स्वयं शेली का ही विचार है (Our sweetest songs are those that tell of saddest thought.) कि हमारे सबसे मधुर गान वे हैं जिनमें विषादपूर्ण भाव व्यक्त किये जाते हैं। अतः ऊपर की परिभाषा भावुकतापूर्ण ही है। काव्य को लेखा कहना उचित नहीं, क्योंकि इससे कल्पना और भावना की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है तटस्थ लेखा नहीं। यदि हम सुखी क्षणों का लेखा ही काव्य मानें, तो करुणापूर्ण काव्य को कहाँ रखा जायेगा जिसके लिए भवभूति का आग्रह है—

''एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्।''

इसी प्रकार ले हण्ट की एक परिभाषा है जिसमें **'सौन्दर्य, सत्य और शक्ति के हेतु अदम्य वासना के उस उद्गार को काव्य कहा गया है जिसके अन्तर्गत कल्पना और ऊहा के द्वारा भावना को स्पष्ट किया गया है तथा विविधता में एकता के**

सिद्धान्त पर भाषा को ढाला गया हो' (Poetry is the utterance of a passion for truth, beauty and power, embodying and illustrating its conception by imagination and fancy and modulating its language on the principle of variety in unity.—*Leigh Hunt*)। यह परिभाषा कुछ जटिल और अधिक बड़ी है। कविता में उत्कट वासना का ही कथन नहीं, तटस्थ रूप से भी सौन्दर्य और सत्य का वर्णन होता है। साथ ही भाषा के सम्बन्ध में उक्ति जटिल और अस्पष्ट है। कविता की अनेक विशेषताओं का संकेत करती हुई भी इस परिभाषा में प्रमुखतया गीतिकाव्य की विशेषता प्रकट हुई जान पड़ती है।

मैथ्यू आरनॉल्ड ने कहा है कि **'कविता अपने मूल रूप में जीवन की आलोचना है'** (Poetry is, at bottom, a criticism of life.—*Arnold*)। इस लक्षण में उत्तम काव्य की विशेषता स्पष्ट हुई है। परन्तु, यह कोई विशिष्ट लक्षण नहीं माना जा सकता। जीवन की समीक्षा साहित्य के और रूपों में भी हो सकती है, केवल कविता में ही नहीं, अत: यह आरनॉल्ड के निजी काव्यादर्श का संकेत करनेवाली उक्ति है, कविता की परिभाषा नहीं।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रसिद्ध लेखक डॉक्टर जॉनसन ने **कविता को उस कला के रूप में स्वीकार किया है जो कल्पना की सहायता से युक्ति के द्वारा सत्य को आनन्द से समन्वित करती है** (Poetry is the art of uniting pleasure with truth by calling imagination to the help of reason. —*Johnson*)। इस परिभाषा में डॉक्टर जॉनसन ने काव्य का प्रधान स्वरूप स्पष्ट किया है। सत्य के प्रकाशन में आनन्द का समावेश, रमणीयता और रोचकता के गुण का संकेत करता है और कल्पना का तो इस प्रकार के कार्य में प्रमुख हाथ रहता ही है। युक्तिसंगत होना, सत्य के स्वरूप का आधार है। वास्तविकता का आभास और विश्वसनीयता, कविता के प्रभावशाली होने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। ऐसी दशा में डॉक्टर जॉनसन की धारणा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है; परन्तु इसमें कविता के कलात्मक पक्ष पर अधिक जोर है।

वास्तव में अधिकांश विचारकों ने कविता को कला के रूप में ही देखा है, यद्यपि कला, केवल चमत्कारिता के संकीर्ण अर्थ में न होकर व्यापक अर्थ में देखी गई है। कला के ही रूप से, कविता की बड़ी पूर्ण परिभाषा अंग्रेजी के **चैम्बर्स कोश** (Chamber's Dictionary) में इस प्रकार दी हुई है **'कल्पना और अनुभूति से उत्पन्न विचारों को मधुर शब्दों में अभिव्यक्त करने की कला कविता है'** (Poetry is the art of expressing in melodious words, thoughts which are the creations of imagination and feelings.—*Chamber's Dictionary*)।

इस परिभाषा में काव्य के समस्त तत्त्वों का उल्लेख हुआ है। काव्य के भीतर अभिव्यञ्जना-कौशल रहता ही है। साथ ही कल्पना और अनुभूति तथा विचार तत्त्व भी काव्य में आवश्यक है। केवल इस परिभाषा में एक दोष है अव्याप्ति का। काव्य के लिए

आवश्यक नहीं कि वह सदैव संगीतमय मधुर शब्दों के रूप में ही हो। काव्य में परुषावृत्ति भी महत्त्वपूर्ण है जिसमें वीरता, क्रोध, भय आदि के भाव प्रकट होते हैं। अतः कविता के लिए मधुर से अधिक लयात्मक एवं प्रभावकारी शब्द आवश्यक हैं। पर यह पद्य-काव्य की ही विशेषता है, गद्य-काव्य के लिए नहीं। कल्पना और अनुभूति से उत्पन्न विचार, काव्य के गम्भीर तत्त्व और कवि की मौलिकता को पूर्ण स्पष्ट नहीं करता। अतएव हम डॉक्टर जॉनसन की परिभाषा का भाव उपयुक्त लक्षण के साथ जोड़कर कह सकते हैं—

काव्य, कल्पना और अनुभूति से गृहीत सत्य की रमणीय शब्दों में अभिव्यक्ति है। अभिव्यक्ति की कला काव्य है, यह कहने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह काव्य की कला है, उसका कलात्मक पक्षमात्र है, पूरा काव्य नहीं। सम्पूर्ण अभिव्यक्ति ही काव्य है।

हिन्दी काव्य-लक्षण

अब हम हिन्दी में प्राप्त काव्य-लक्षणों पर विचार करेंगे। हिन्दी के अधिकांश लक्षणों में मौलिकता कम देखने को मिलती है। पूर्ववर्ती हिन्दी-काव्य में प्राप्त लक्षणों में तो अधिकांश, संस्कृत के लक्षणों पर आधारित हैं और आधुनिक लक्षणों पर अधिकांश प्रभाव अंग्रेजी का है जैसा हम आगे देखेंगे। फिर भी कुछ परिभाषाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। आचार्य केशवदास ने काव्य की कोई परिभाषा नहीं दी, पर वे काव्य की शोभा अलंकार से ही मानते हैं। उनका कथन है—

यद्यपि जाति सुलच्छनी; सुबरन सरस सुवृत्त ।
भूषन बिना न सोहई, कविता बनिता मित्त ॥

केशव के विचार से रस, छन्द और शब्द-सौन्दर्य के साथ अलंकार होना आवश्यक है, पर श्रीपति ने अपने 'काव्य-सरोज' में रस पर जोर दिया है—

यदपि दोष बिनु गुन सहित, अलंकार सों लीन ।
कविता बनिता छबि नहीं, रस बिन तदपि प्रवीन ॥

ऐसा जान पड़ता है कि आचार्य श्रीपति ने आचार्य केशवदास के मत का उन्हीं शब्दों में खण्डन किया है।

आचार्य चिन्तामणि ने अपने ग्रन्थ 'कविकुलकल्पतरु' में साहित्यदर्पण के आधार पर काव्य का लक्षण देते हुए कहा है—**''बतकहाउ रसमै जु है कबित कहावै सोय।''** रस से युक्त वाक्य काव्य कहलाते हैं। यहाँ पर रस को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया गया है। चिन्तामणि ने अपने इसी ग्रन्थ में काव्यप्रकाश के आधार पर भी कविता का लक्षण इस प्रकार दिया है—

सगुन अलंकारन सहित, दोषरहित जो होइ ।
सब्द अर्थ वारौ कवित, बिबुध कहत सब कोइ ॥

मम्मट ने अलंकार की अनिवार्यता नहीं मानी, पर इसमें अलंकार अनिवार्य कर

दिये गये हैं जैसा कि आचार्य हेमचन्द्र की परिभाषा में हम देख आये हैं। अतः यह परिभाषा मम्मट के लक्षण की अपेक्षा हेमचन्द्र के लक्षण से अधिक साम्य रखती है।

कुलपति मिश्र ने अपने 'रस-रहस्य' में भी मम्मट के काव्य-प्रकाश का पूर्ण आधार ग्रहण किया है। उनका कथन है—

दोषरहित अरु गुन सहित, कछुक अल्प अलँकार ।
सबद अरथ सो कबित है, ताको करो विचार ॥

पर इसकी और 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' दोनों की आलोचना करके कुलपति ने अपने निजी काव्य-लक्षण को इस प्रकार व्यक्त किया है—

जग ते अद्‌भुत सुख सदन, सब्दरु अर्थ कवित्त ।
यह लच्छन मैंने कियो, समुझि ग्रन्थ बहु चित्त ॥ (1, 16)

संसार से विलक्षण आनन्द देनेवाला शब्दार्थ काव्य है। संसार से विलक्षण आनन्द कैसे समझा जाय, प्रश्न यह है। अतः लक्षण अस्पष्ट है।

महाकवि देव ने अपने ग्रन्थ 'काव्य-रसायन' में काव्य का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है—

सब्द जीव तिहि अरथ मन, रसमय सुजस सरीर ।
चलत वहै जुग छन्द गति, अलंकार गम्भीर ॥

इसमें काव्य-पुरुष रूपक का स्पष्टीकरण है। शब्द जीव है, अर्थ मन है, रस से युक्त यशस्वी उसका शरीर है। दोनों प्रकार के अर्थात् मात्रिक और वर्णिक छन्द उसकी गति हैं और अलंकार उस गति की गम्भीरता है। देव की धारणा विलक्षण है जिसमें शब्द को शरीर न मानकर रस को शरीर माना गया है। गति की गम्भीरता भावों पर निर्भर करती है, अलंकारों पर नहीं। अतः गम्भीरता को अलंकार पर आश्रित करना भी युक्तिसंगत नहीं। अतः लक्षण की दृष्टि से यह उपयुक्त नहीं। अतः काव्य के स्वरूप को समझने में इससे कोई विशेष सहायता नहीं मिलती। अन्यत्र देव ने रस को काव्य का सार माना है।

सूरति मिश्र ने 'काव्य-सिद्धान्त' में काव्य का जो लक्षण दिया है, वह इस प्रकार है—

बरनन मनरंजन जहाँ, रीति अलौकिक होइ ।
निपुन कर्म कवि कौ जु तिहिं, काव्य कहत सब कोइ ॥

अलौकिक रीति से मनोरंजनकारी वर्णन काव्य है। यह परिभाषा भी अस्पष्ट है, अलौकिक रीति का निर्णय कैसे किया जाये? सभी मनोरंजक वर्णन काव्य के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं, अतः यह भी सन्देहपूर्ण है। अतः यह परिभाषा कोई विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं।

श्रीपति ने अपनी परिभाषा 'काव्यप्रकाश' के आधार पर ही की है और वैसे ही सोमनाथ की परिभाषा भी है जिन्होंने अलंकार को काव्य में आवश्यक मानकर लिखा है—

सगुन पदारथ दोष बिनु, पिंगल मत अविरुद्ध ।
भूषण जुत कवि कर्म जो, सो कवित्त कहि बुद्ध ॥

सोमनाथ ने कविता के लिए छन्द की आवश्यकता स्वीकार की है; पर इस परिभाषा में भी पिष्टपेषण है, कोई नवीनता नहीं। इसी प्रकार के संस्कृत के लक्षणों पर आधारित अन्य रीतियुग के आचार्यों के लक्षण हैं। ठाकुर कवि ने लिखा है—'**पंडित और प्रवीनन को जोइ चित्त हरै सो कवित्त कहावै।**'—जिसमें कविता की मनोरंजनकारी विशेषता का उल्लेख है। ये सभी काव्य के सम्बन्ध की हलकी धारणाएँ हैं और काव्य का तात्त्विक विश्लेषण उपस्थित नहीं करतीं।

आधुनिक कवियों की कुछ धारणाएँ तो पाश्चात्य—विशेषकर अंग्रेजी लक्षणों पर आश्रित हैं फिर भी कुछ मौलिक विवेचना प्रस्तुत करती हैं। आगे हम कुछ लक्षणों पर विचार करेंगे। इनमें से बहुत कम लक्षण ऐसे हैं जो काव्य की धारणा का विश्लेषण करने के लिए लिखे गये हैं, प्रायः अन्य प्रसंगों में किये गये काव्य-सम्बन्धी उल्लेखों के रूप में ही ये परिभाषाएँ मिलती हैं। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने दो-तीन प्रसंगों में काव्य के सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए उसके विभिन्न पक्षों पर विचार प्रकट किये हैं। उनका विचार है—

कविता प्रभावशाली रचना है जो पाठक या श्रोता के मन पर आनन्ददायी प्रभाव डालती है।

मनोभाव शब्दों का रूप धारण करते हैं। वही कविता है चाहे वह पद्यात्मक हो चाहे गद्यात्मक।

अन्तःकरण की वृत्तियों के चित्र का नाम कविता है।[1]

ऊपर के लक्षणों में प्रथम में रचना किस वस्तु की है, चित्र की है या संगीत की, यह स्पष्ट नहीं है, पर आगे पाठक या श्रोता को स्पष्ट होता है कि वह शब्द-रचना है। आनन्ददायी प्रभाव के सम्पादनकारी अवयवों और तत्त्वों का संकेत इस लक्षण में नहीं किया गया। दूसरा लक्षण ठीक नहीं है। इससे तो समस्त मनोभावों का प्रकाशन कविता हो जाता है, चाहे जो भी उसे जिस प्रकार करे, अतः यह उपयुक्त नहीं। तीसरी परिभाषा कविता की एकांगी और अस्पष्ट है। अन्तर्वृत्ति का चित्र, कविता का एक रूप मात्र है। द्विवेदीजी ने काव्य और कविता को पर्याय रूप में प्रयुक्त किया है। कविता के लिए छन्द अनिवार्य है जिसका संकेत उन्होंने अनेक बार इस शब्द के प्रयोग के साथ नहीं किया। अतः कविता और काव्य की भेदक धारणा स्पष्ट नहीं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कविता को जीवन और जगत् की अभिव्यक्ति माना है। उनका विचार है कि अव्यक्त की अभिव्यक्ति जगत् है और इस प्रकार कविता अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति हुई। इस लक्षण से कविता की सदा रहनेवाली नव्यता और विविधता का संकेत मिलता है, जो कि रमणीयता का रूप है जैसा कि माघ ने शिशुपालवध महाकाव्य में लिखा है—

1. रसज्ञरंजन, 50।

क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति,
तदेव रूपं रमणीयतायाः ॥ 17 ॥ (*सर्ग* 4)

इसी प्रकार अथर्ववेद के एक सूक्त में परमात्मा के काव्य की इसी नव्यता का संकेत इन शब्दों में किया गया है—

पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति ।

पर लक्षण की दृष्टि से उपर्युक्त कथन समीचीन नहीं, इसका महत्त्व उद्देश्य की दृष्टि से अवश्य है। जीवन और जगत् की समस्त अभिव्यक्ति काव्य नहीं, अतः यह अतिव्याप्तिदोष से युक्त है। शुक्ल जी ने दूसरी परिभाषा अपने ग्रन्थ चिन्तामणि के प्रथम भाग में दी है, उसमें यह प्रकट हुआ है कि **सत्वोद्रेक या हृदय की मुक्तावस्था के लिए किया हुआ शब्द-विधान काव्य है**। यह परिभाषा रस को अनिवार्य मानकर चलनेवाले काव्य के लिए ही उपयुक्त हो सकती है। क्योंकि चमत्कारपूर्ण काव्य में मन को चमत्कृत और कल्पना को प्रसन्न करने की विशेषता होती है जबकि भावात्मक काव्य में हृदय की मुक्तावस्था के सम्पादन की विशेपता। ऐसी दशा में काव्य का यह लक्षण पूर्ण और व्यापक नहीं कहा जा सकता।

छायावादी कवियों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण धारणा जयशङ्कर **'प्रसाद'** की है। उन्होंने लिखा है—''**काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञानधारा है।**[1]......... संकल्पात्मक मूल अनुभूति कहने से मेरा जो तात्पर्य है उसे भी समझ लेना होगा। आत्मा की मननशक्ति की वह असाधारण अवस्था जो **श्रेय सत्य को उसके मूलचारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है,** काव्य में संकल्पात्मक अनुभूति कही जा सकती है।''[2] इन परिभाषाओं में लक्षण की दृष्टि से कई दोष हैं। पहला दोष है, अस्पष्टता। आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति, पद स्पष्ट नहीं। यह पद दोषपूर्ण भी है; क्योंकि संकल्प-विकल्प मन के गुण हैं, आत्मा की विशेषता नहीं। फिर अनुभूति का विकल्प या वितर्क कैसा? आदि अनेक शंकाएँ उठती हैं। विज्ञान से सम्बन्ध न बताते हुए भी आगे प्रसाद जी उसे ज्ञानधारा मानते हैं, जो स्वतःविरोधी उक्ति है। हाँ, सहज ज्ञान से इसका सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है, पर उसका स्पष्ट कथन आवश्यक था। दूसरे, प्रसाद जी ने काव्य को अनुभूति ही माना, जबकि वास्तव में वह अभिव्यक्ति है। काव्य को ज्ञानधारा कहना भी तर्कसंगत नहीं।

लक्षण की दृष्टि से त्रुटिपूर्ण होते हुए भी इसमें मौलिक और तात्त्विक धारणा का संकेत मिलता है जो महत्त्वपूर्ण है। संकल्पात्मक अनुभूति मनन की वह असाधारण अवस्था है जो श्रेय सत्य को उसके मूलचारुत्व में ग्रहण करती है। अतः काव्य, श्रेय सत्य की मूलचारुत्व के साथ अभिव्यक्ति हुई। प्रसाद की इस धारणा में काव्य का गौरव और महत्त्व प्रकट होता है जिसका प्रमाण काव्य की भक्ति और रहस्यात्मक धाराओं में

---

1. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ 17।
2. वही, पृष्ठ 18।

मिलता है। जीवन और सत्य का जो रूप काव्य के द्वारा प्रकट होता है वह अपने पूर्ण सौन्दर्य के साथ होता है। सत्य का यह रूप दार्शनिक और वैज्ञानिक की विचारधाराओं के रूपों से भिन्न है। फूल का वर्णन एक वैज्ञानिक का दूसरा होगा; पर फूल का वास्तविक स्वरूप जो सत्य भी है और सुन्दर भी, कवि के द्वारा ही प्रकट होता है। अत: **सत्य की अपने पूर्ण सौन्दर्य के साथ अभिव्यक्ति काव्य है।**

महादेवी वर्मा का यह विचार है कि कविता हमें असीम सत्य की झाँकी दिखाती है। महादेवी वर्मा की कविता की एक परिभाषा इस प्रकार है—

''कविता कवि-विशेष की भावनाओं का चित्रण है और वह चित्रण इतना ठीक है कि उससे वैसी ही भावनाएँ किसी दूसरे के हृदय में आविर्भूत होती हैं।'' यह लक्षण काव्य के पूरे क्षेत्र पर लागू नहीं हो सकता। यह केवल गीतिकाव्य की विशेषता हो सकती है कि उसमें कवि-विशेष की भावनाओं का चित्रण हो। इस चित्रण से वैसी ही भावनाएँ दूसरे के हृदय में उठें यह भी आवश्यक नहीं। विसंवादी भावनाएँ भी उठ सकती हैं। इसमें रमणीयता के अन्य अंग, ध्वनि, वक्रोक्ति, अलंकार आदि का कहीं संकेत नहीं। प्रबन्ध-काव्य की विशेषताओं का इस लक्षण में समावेश नहीं हुआ है जिसमें दुश्चरित्रों का भी वर्णन होता है। अत: यह सीमित परिभाषा है।

सुमित्रानन्दन पन्त ने **''कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है''**, यह काव्य परिभाषा स्वीकार की है जो अस्पष्ट है। परिपूर्ण क्षण किन्हें कहा जाय? प्रत्येक व्यक्ति का कोई-न-कोई परिपूर्ण क्षण होगा, अत: उसकी भी वाणी कविता कही जा सकती है। तब तो प्रत्येक व्यक्ति कवि हुआ। अतएव यह लक्षण सर्वमान्य नहीं कहा जा सकता। इस पर कुछ 'शेली' की परिभाषा कि कविता सर्वोत्तम और सर्वसुखी क्षणों का लेखा है—का प्रभाव दृष्टिगत होता है। ऐसे ही उपर्युक्त धारणाओं पर आश्रित काव्य की परिभाषाएँ अन्य अनेक कवियों और लेखकों की मिलती हैं, जिन सब पर विचार करना आवश्यक नहीं।

3. काव्य के तत्त्व

उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर हम यहाँ काव्य के तत्त्वों का विश्लेषण करेंगे। जिन लक्षणों को हमने अधिक मान्य ठहराया है वे निम्नलिखित हैं—

1. वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।
2. रमणीयार्थप्रतिपादक: शब्द: काव्यम्।
3. अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्।
4. सत्य की अपने मूल चारुत्व में अभिव्यक्ति काव्य है।
5. **Poetry is the art of uniting pleasure with truth by calling imagination to the help of reason.**
6. **Poetry is the art of expressing in melodious words, thoughts, which are the creations of imagination**

and feelings.

7. काव्य, कल्पना और अनुभूति से गृहीत सत्य की रमणीय शब्दों में अभिव्यक्ति है।

8. शब्द, अर्थ अथवा दोनों की रमणीयता से युक्त वाक्य-रचना काव्य है।

प्रथम तीन परिभाषाओं पर विचार करने से वाक्य या शब्द, अर्थ, रमणीयता, रसात्मकता, गुण, अलंकार ये काव्य के तत्त्व प्रकट होते हैं। इनमें रस, गुण और अलंकार रमणीयता के ही विभिन्न साधनों के रूप हैं। चौथी परिभाषा में सत्य, चारुत्व और अभिव्यक्ति, ये तत्त्व निकलते हैं। पाँचवीं से कल्पना, युक्ति, सत्य, आनन्द और कला तथा छठी परिभाषा में अभिव्यक्ति की कला, माधुर्य, शब्द, विचार, कल्पना और अनुभूति ये तत्त्व निकलते हैं। सातवीं और आठवीं परिभाषाएँ पूर्ववर्ती धारणाओं पर ही आश्रित हैं, उनमें भी कल्पना, अनुभूति, सत्य, शब्द आदि तत्त्व पूर्ववर्ती लक्षणों के समान विद्यमान हैं। शब्द, अर्थ, सत्य, आनन्द, रमणीयता, कल्पना, विचार, अनुभूति, अभिव्यक्ति, कला, रस, गुण, अलंकार आदि में सभी बातें आ जाती हैं। इन बातों का परीक्षण करें, तो हम देखते हैं कि शब्द, अर्थ, अभिव्यक्ति ये तीनों भाषा के तत्त्व हैं; रस, आनन्द, अनुभूति, रमणीयता आदि भावतत्त्व के अन्तर्गत हैं; रमणीयता, कला, अभिव्यक्ति-कौशल आदि कल्पनातत्त्व से सम्बन्ध रखते हैं; इन सबको संगठित करके कलात्मक अभिव्यक्ति के रूप में प्रस्तुत करना बुद्धि और विचारतत्त्व का कार्य है। परन्तु इन सबमें व्याप्त रहता है सत्य। ऐसी दशा में हमें यह स्वीकार करना होगा कि काव्य में सत्य की ही अभिव्यक्ति होती है, असत्य की नहीं। सत्य की अभिव्यक्ति करके ही काव्य खड़ा रह सकता है। सत्य के कारण ही काव्य का अस्तित्व है और उसको ग्रहण करने की प्रेरणा हमें मिलती है। अतः हम कह सकते हैं कि **काव्य की आत्मा है सत्य।**

यह सत्य वैज्ञानिक या दार्शनिक के सत्य से भिन्न हो सकता है, क्योंकि यह सारमात्र नहीं, वरन् साकार होता है। अपने सांगोपांग रूप में, वह अपने समस्त क्रियाकलाप और गतिशीलता के साथ हमारे सामने आता है। वैज्ञानिक के द्वारा वर्णित फूल नहीं, वरन् अपने द्रुम की टहनी में हरी, कटावदार, सजीव पत्तियों के बीच, सुकुमार, सुन्दर, मनोहारी रूप में मलयानिल की झकोर पर झूमता और इठलाता हुआ, प्राणियों के नेत्रों को आकृष्ट करता हुआ, प्रातः खिलकर सन्ध्या तक प्रखर धूप में मुरझानेवाला फूल है जिसके इस प्रकार के कल्पना, मन, अनुभूतिग्राही रूप को कवि हमारे सामने प्रत्यक्ष करता है। सत्य का यह वास्तविक रूप काव्य की आत्मा है। सत्य का समग्ररूप ही सौन्दर्य है। अतः कवि की सत्य की अभिव्यक्ति सुन्दर होती है। इसी तथ्य की अनुभूति करके ही अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि **कीट्स** ने लिखा है—Beauty is truth, truth Beauty, that is all. अर्थात् सौन्दर्य सत्य है और सत्य सौन्दर्य है। यह सत्य कवि का सत्य है। सत्य अपने स्वभाव से ही शिव या मंगलरूप भी होता हैं; अतः काव्य का सत्य, जो सुन्दर है, वह शिव भी है। इसी युक्ति से काव्य 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' के रूप में कहा जाता है।

इस आत्मा को साकार शरीर का रूप देनेवाले पाँच तत्त्व ही हैं—शब्द, अर्थ,

भाव, कल्पना और बुद्धि या विचार जिन पर हम आगे विचार करेंगे। इस प्रकार सत्यात्मावाला काव्यपुरुष या कविता-कामिनी स्वतःसिद्ध है।

शब्द-तत्त्व

अर्थ के द्योतन के अतिरिक्त काव्य में—विशेष रूप से कविता में, शब्द-तत्त्व की विशेषता विद्यमान देखने को मिलती है। अलंकारों का शब्दगत चमत्कार, विविध वृत्तियों—परुषा, कोमला, उपनागरिका—का नियोजन, शब्द-चयन से उत्पन्न पद की एक विशेष गति और प्रवाह, संगीतमयता आदि शब्द-तत्त्व के विविध रूप हैं। काव्य का श्रुतिगत प्रथम प्रभाव इसी तत्त्व के द्वारा पड़ता है और यही कविता की किसी पंक्ति को चिरकाल तक रमणीय भी बनाये रखता है। इतना ही नहीं, शब्द-तत्त्व कवि की भावलहरी और कल्पना का प्रेरक भी होता है। शब्द-समूह से बनी गति से प्रेरित होकर प्रायः सबसे पहले कवि के अन्तःकरण से छन्द जाग्रत होता है। छन्द को प्रत्यक्ष करने के बाद ही काव्यरचना का कार्य प्रारम्भ होता है। अतः छन्द के विविध साँचों का निर्माण शब्द-तत्त्व द्वारा ही होता है। शब्द की गति दो प्रकार की होती है, एक साधारण और दूसरी नर्तन। साधारण गति गद्य में और नर्तन गति पद्य में देखने को मिलती है। अतः भाव और अर्थ के अतिरिक्त शब्द की गति और झमक का काव्य में महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। उदाहरणार्थ—

आनंद उमंग मन, यौवन उमंग तन,
रूप की उमंग उमगति अंग-अंग है····(*गति*)

कंकन किंकिन नूपुर ध्वनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि····(*झंकृति*)

रस सिंगार मंजन किये, कंजन भंजन दैन ।
अंजन रंजन हू बिना, खंजन गंजन नैन ॥····(*झमक*)

बीथिन में, ब्रज में, नवेलिन में, बेलिन में,
बनन में, बागन में बगरो बसन्त है ।····(*गति*)

बंकक्करि अति डंकक्करि अति संकक्करि खल ।
सोचच्चकित भरोचच्चलिय विमोचच्चखजल ॥····(*ओज-आवेग*)

इन उदाहरणों में शब्द-तत्त्व का प्रभाव स्पष्ट है। एक के स्थान पर उसी अर्थ का दूसरा शब्द रख देने से वह प्रभाव नष्ट हो जाता है। यह सत्य कवि के हृदयंगत और साक्षात्कृत रूप को प्रकट करता है।

कवि शब्द के व्यक्तित्व और चरित का पारखी होता है। अतः शब्द की उसे विशेष परख होने के कारण उसकी चेतनावस्था में प्रयुक्त शब्द के स्थान पर दूसरा शब्द नहीं रखा जा सकता। यह शब्द-तत्त्व की अनिवार्यता है।

अर्थ-तत्त्व

शब्द-चमत्कार से युक्त और उससे रहित दोनों ही रूपों में अर्थ अनिवार्य तत्त्व है। बिना अर्थ के तो काव्य का अस्तित्व ही नहीं। अर्थ भाव तथा कल्पना का वाहन

और सत्य का स्वरूप है। अर्थ, शब्द की प्रधान शक्ति है। अर्थद्योतन के लिए अभिधा, लक्षणा, व्यंजना तीन प्रमुख शक्तियाँ मानी गई हैं। अर्थ की अधिक रमणीय अभिव्यक्ति व्यंजना द्वारा, चमत्कारिक अभिव्यक्ति लक्षणा द्वारा और स्वाभाविक अभिव्यक्ति अभिधा द्वारा होती है। काव्य के अन्तर्गत तीनों का स्थान है। अर्थ का सम्यक् संयोजन अथवा औचित्य, बुद्धि-तत्त्व पर, अर्थ की साकारता कल्पना-तत्त्व पर और अर्थ का प्रभाव भाव-तत्त्व पर निर्भर करता है। अत: अर्थ का इन सबके साथ संयोग रहता है। काव्य का पूर्ण सौन्दर्य तब होता है जब शब्द, अर्थ, बुद्धि, भाव, कल्पना सभी का चमत्कार एक साथ उपस्थित हो। वही सर्वश्रेष्ठ काव्य-पंक्तियाँ होती हैं। उदाहरणार्थ—

मोतियों जड़ी ओस की डार ।
हिला जाता चुपचाप बयार ॥

यहाँ सत्य है जीवन की क्षणभंगुरता; भाव है बोध और विषाद; सत्य को साकार बनानेवाली कल्पना, मोतियों के समान ओस की बूँदों से सुशोभित द्रुमडाली के सौन्दर्य को क्षण में वायु के झकोरे से नष्ट हो जाने का दृश्य उपस्थित करती है। यह विचार को प्रेरित करता है कि ऐसे ही वस्त्राभूषणों से भलीभाँति अलंकृत शरीर को काल-रूपी वायु क्षण भर में नष्ट कर देती है। इस विचार से विषाद का भाव गहरा होता है और अनित्य जीवन के रूप में सत्य का स्वरूप प्रकट होता है। यहाँ सत्य अपने सौन्दर्य और मूल चारुत्व के साथ उपस्थित है। इसी प्रकार अर्थ की विशिष्ट अभिव्यक्ति करनेवाले उदाहरण हैं—

न स संकुचितो पन्था येन बाली हतो गत: ।

तथा

सीताहरण तात जानि, कहेउ पिता सन जाइ ।
जो मैं राम तौ कुल सहित, कहिहि दसानन आइ ॥

अर्थ-तत्त्व के कुछ और उदाहरण हैं—

रामनाथ अवलंब बिन, परमारथ की आस ।
बरसत वारिद बूँद गहि, चाहत चढ़न अकास ॥

यों रहीम सुख होत है, उपकारी के अंग ।
बाँटनवारे के लगै, ज्यों मेंहदी को रंग ॥

नल की अरु नल-नीर की, गति एकै करि जोय ।
जेतो नीचो है चलै, तेतो ऊँचो होय ।।

भाव-तत्त्व

काव्य में भाव-तत्त्व सबसे अधिक प्रभाव उत्पन्न करनेवाला होता है। भाव कवि की कल्पना का प्रेरक है, छन्द के स्वरूप का विधायक एवं शब्दप्रवाह के उत्स को

खोलनेवाला है। भाव की तीव्रता अभिव्यक्ति की उद्दीपक है। भाव, मनोवेगों के संस्कार रूप में प्रतिष्ठित, स्मृत और पुनः अनुभूत स्वरूप है। भाव संक्रामक होते हैं। उनकी अभिव्यक्ति दूसरों के हृदय में भी उसी प्रकार की अनुभूति जाग्रत करती है। भाव, काव्य का बड़ा व्यापक तत्त्व है। यह पाठक और श्रोता का भी संस्कार करता है। भाव को साकार रूप देनेवाले शब्द, अर्थ और कल्पना हैं। बिना किसी उक्ति-चमत्कार या बौद्धिक प्रयत्न के भी भाव-तत्त्व का गहरा प्रभाव काव्य में रहता है। यह काव्य का प्रकृत रूप है। लोकगीतों का भाव-प्रधान रूप सर्वविदित है। भाव संगीतात्मकता का भी प्रेरक है। जो लोग काव्य का प्रधान स्वरूप गीति के रूप में देखते हैं, वे वास्तव में काव्य के भाव-तत्त्व को ही प्रमुख रूप में स्वीकार करते हैं। भाव-तत्त्व की प्रधानता से युक्त कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सो बीति बहार ।
अब अलि रही गुलाब में, अपत कँटीली डार ॥
माली आवत देखि के, कलियन करी पुकार ।
फूले फूले चुन लिये, कालि हमारी बार ॥

छूट्यो गेह काज लोकलाज मनमोहिनी को,
भूल्यो मनमोहन को मुरली बजाइबो ॥
कहै 'रसखानि' बिना द्वै में बात फैलि जैहै,
सजनी कहाँ लौ चन्दा हाथन दुराइबो ॥
कालि ही कलिन्दी तीर चितयो अचानक ही,
दोउन को दोउन सों मुरि मुसुकाइबो ॥
दोऊ परैं पैयाँ दोऊ लेत हैं बलैयाँ,
उन्हें भूलि गई गैयाँ इन्हें गागर उठाइबो ॥

कल्पना-तत्त्व

रूप-सृष्टि करनेवाली शक्ति कल्पना है। जीवन के विविध दृश्यों को सामने प्रस्तुत करना कल्पना का ही काम है। निराकार वस्तुओं और भावों को आकार देना, तथ्य को चित्रमय बनाना, चरित्र या पात्र के व्यक्तित्व को साक्षात् करना, घटना की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करना और भाव को जगानेवाले चित्र अंकित करना कल्पना के द्वारा ही सम्भव होता है। कवियों की बिम्बयोजना, उनके द्वारा हृदयंगम किये हुए तथ्यों और भावों की सजीव अभिव्यक्ति कल्पना के सहारे से ही होती है। अतीत को वर्तमान बनाना, सुदूरस्थ को प्रत्यक्ष करना और जीवन के अनुभव और ज्ञान को एक निश्चित रूप प्रदान करना कल्पना का प्रसार है। काव्य के अन्तर्गत सत्य का दृश्यों, पात्रों, घटनाओं, रूपों आदि के द्वारा हम साक्षात्कार करते हैं, अतः इस कार्य के लिए कल्पना-तत्त्व का प्रधान महत्त्व है। कल्पना के माध्यम से आये चित्र भाव को प्रेरित

करते हैं। ये विचारों को भी उत्तेजित करने की शक्ति रखते हैं। सूक्ष्म विशेषताओं और गुणों को, चेष्टा, क्रियाकलाप और अभिव्यक्ति के प्रयोजन को तथा भाव की उलझन, तीव्रता और प्रभाव को कल्पना की सहायता के बिना पूर्णतया प्रकट नहीं किया जा सकता। कल्पना की चल-चित्रावली जब उद्घाटित होने लगती है तब अनुभूत, अतीत जीवन की झाँकियाँ हमारे सामने नाचने लगती हैं। जिस प्रकार भाव की अनुभूति आनन्दमयी है उसी प्रकार कल्पना की झाँकी भी मधुर और संवेद्य है। सुख और दु:ख चाहे जिसके चित्र यह कल्पना की चित्रावली प्रस्तुत करे, हम उसे देखने की अटूट तृष्णा से ओत-प्रोत हैं। वास्तव में कल्पना की सामर्थ्य ही कवि की प्रतिभा है। विभिन्न अलंकार इसी के परिणाम हैं। अत: इसे अधिक सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं कि कल्पना-तत्त्व की काव्य में क्या महत्त्व है। कल्पना-तत्त्व की प्रध.नता से सम्पन्न काव्य के कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

रघुपति कीरति कामिनी, क्यों कहै तुलसीदास ।
सरद विकास प्रकास ससि, चिबुक चारु तिल जास ॥

❑ ❑ ❑

संग सुकुमारि नारि जाके अंग उबटि के,
बिधि बिरचे बरूथ विद्युत छटनि कै ।
गोरे को बरन देखि सोनो न सलोनो लागै,
साँवरे बिलोके गर्व घटत घटनि कै ॥

❑ ❑ ❑

फटिक सिलान सों सुधार्‌यो सुधामन्दिर,
उदधि दधि की सी अधिकाई उमगै अमन्द ।
बाहर ते भीतर लौं भीति न दिखैयै देव,
दूध कैसो फेन फैलो आँगन फरसबन्द ।
तारा सी तरुनि तामैं ठाढ़ी झिलमिल होत,
मोतिन की माल मिली मल्लिका को मकरंद ।
आरसी से अम्बर में आभा सी उजारी लागै,
प्यारी राधिका के प्रतिबिंब सो लगत चन्द ॥

❑ ❑ ❑

हँसत दसन अस चमके, पाहन उठे छरक्कि ।
दारिउँ सरि जो न कै सका, फाट्यौ हिया दरक्कि ॥

❑ ❑ ❑

द्विरद दन्तों से उठ सुन्दर
सुखद कर सीकर से बढ़कर,
भूति से शोभित बिखर बिखर,
फैल फिर कटि के से परिकर
बदल यों विविध वेश जलधर
बनाते थे गिरि को गजवर ।

बुद्धि-तत्त्व

विचार-तत्त्व या बुद्धि-तत्त्व का महत्त्व इस बात में है कि भाव, कल्पना आदि का ठीक संयोजन और शब्द का प्रयोग औचित्यपूर्ण हो। औचित्य के बिना विश्वसनीयता और प्रभाव नष्ट हो जाते हैं। प्रमुखतया इसका स्वरूप कथासंगठन, चरित्रचित्रण और भावनिरूपण के क्षेत्र में देखा जाता है। प्रबन्ध-काव्य के भीतर किन-किन घटनाओं का चुनाव किया जाय और घटनाओं को किस प्रकार संगठित किया जाय कि उसका यथेष्ट प्रभाव पड़ सके, यह बुद्धि-तत्त्व का ही क्षेत्र है। चरित्रचित्रण में पात्र के जीवन की घटनाओं, कार्यों, वार्तालापों में औचित्य का समावेश विचार-तत्त्व के रूप में रहता है। यही बात भाव-निरूपण और वर्णन में भी होती है। किन चेष्टाओं और मनोविकारों को किस पृष्ठभूमि में किस प्रकार दिखाना चाहिए कि जिससे इच्छित भाव का स्पष्टीकरण हो सके, इसका विचार करके किया गया भाव-निरूपण ही सफल होता है, अन्यथा उसका प्रभाव नहीं पड़ता। इसी विचार-तत्त्व या औचित्य से पूर्ण होने के कारण तुलसीदास का भाव-वर्णन और चरित्र-चित्रण इतना प्रभावशाली है कि एक के बाद दूसरे भाव में हम बहते चले जाते हैं और इसी के अभाव में हम केशवदास के चित्रणों से अप्रभावित रहते हैं। प्रकृति-चित्रण और वस्तु-वर्णन के प्रसंगों में प्रायः हम अनुचित विवरणों या त्रुटिपूर्ण प्रसंगों का समावेश पाकर उस पर विश्वास नहीं करते। उनसे हमें अरुचि हो जाती है। अनेक कवियों ने भोजन की सामग्री की अतिशय वर्णना तथा युद्ध में शस्त्रास्त्रों, घोड़ों की जातियों, पशु-पक्षियों आदि की जो नामावली प्रस्तुत की है वह उबा देनेवाली है। विचार या बुद्धि-तत्त्व से हीन कोई भी वर्णन हास्यास्पद हो जाता है। गोस्वामी तुलसीदास के शब्द-प्रयोगों के औचित्य और विचारपूर्णता पर न जाने कितनी व्याख्याएँ हुई हैं और बराबर हो रही हैं। राम के गुणों के संपर्क में आने पर वे सर्वत्र शरीर-पुलकित, मन-मुदित और आँखों को अश्रुपूर्ण रूप में वर्णित करते हैं। सर्वत्र इसे देखकर प्रसन्नता होती है। ऐसे ही वे अपने को कवित्त-विवेक-शून्य कहते हैं और तब तक कवि नहीं कहते जब तक कि शंकर के प्रसाद से 'सुमति', जो काव्य के लिए आवश्यक है, उन्हें प्राप्त नहीं हो जाती। राम के प्रतिद्वन्द्वी रावण, परशुराम आदि का अजेय पराक्रम दिखाकर, वे उन्हें पराजित करनेवाले नायक राम का चारित्रिक उत्कर्ष ही प्रमाणित करते हैं। ये सब बुद्धि-तत्त्व की विशेषताएँ हैं। ये सभी तत्त्व जिसमें अपनी-अपनी उचित मात्रा में विद्यमान होते हैं, वह काव्य निश्चय ही उत्कृष्ट होता है।

4. काव्य-कारण

काव्य का कारण क्या है? इस सम्बन्ध में हमें मतभेद देखने को मिलता है। कुछ लोग प्रतिभा को ही काव्य का कारण मानते हैं। प्रश्न उठता है कि प्रतिभा क्या है? प्रतिभा, मनुष्य की एक जन्मजात दैवी शक्ति है जिससे उसके अन्तर्गत नवीन वस्तुओं की रचना की स्फूर्ति जाग्रत होती है। इस सम्बन्ध में कहा गया है कि—

बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेया मतिरागाभिगोचरा ।
प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता ॥ (*भट्ट तौत*)

ध्वन्यालोक के प्रमाण से, 'अपूर्व वस्तु निर्माणक्षमा प्रज्ञा' है। अतः निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि नूतन रचना की स्फूर्ति देनेवाली शक्ति ही प्रतिभा है। इस प्रतिभा को कुछ विद्वानों ने शक्ति भी कहा है और कुछ ने कल्पना। रुद्रट ने काव्य के कारणरूप शक्ति को दो भेदों में देखा है—(1) सहजा, (2) उत्पाद्या। सहजा ईश्वरप्रदत्त और पूर्वसंस्कारों द्वारा संचित जन्मजात शक्ति है। उत्पाद्या शास्त्र, लोकानुभव अथवा सत्संग से प्राप्त होती है। आचार्य दण्डी ने भी कुछ इसी प्रकार का मत अपने काव्यादर्श में व्यक्त किया है—

न विद्यते यद्यपि पूर्ववासनानुणानुबन्धि प्रतिभानमद्‌भुतम् ।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम् ॥

अर्थात् पूर्ववर्ती संस्कारों के रूप में अद्‌भुत प्रतिभा के विद्यमान न होने पर भी यत्न, सत्संग और अध्ययन से वाणी निश्चय ही किसी-किसी पर कृपा करती है। ध्यान से देखने पर यह धारणा वैज्ञानिक नहीं सिद्ध होती है। यत्न, सत्संग, श्रवण, अध्ययन आदि से वाणी जिन पर कृपा करती है, उनके भीतर प्रतिभा का बीज चाहे वह क्षीण ही क्यों न हो, अवश्य विद्यमान रहता है और व्युत्पत्ति और प्रयत्न से वह अंकुरित हो जाता है। यदि वह बीज प्रबल है, तो उसकी चेतना कवि को स्वतः होती है और उसे जगाने के लिए बाह्य उपादानों की आवश्यकता नहीं होती। हाँ, उनको पूर्ण विकसित करने के लिए व्युत्पत्ति और अभ्यास की आवश्यकता होती है। व्युत्पत्ति और अभ्यास उस व्यक्ति को कवि नहीं बना सकते, जिसके भीतर प्रतिभा का बीज है ही नहीं। इसी कारण से आचार्य वामन का मत है—'कवित्वबीजं प्रतिभानम्', प्रतिभा ही कवित्व का कारण है। इस मत का समर्थन आचार्य जयदेव ने भी किया है—

प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कवितां प्रति ।
हेतुर्मृदम्बुसम्बद्ध बीजोत्पत्तिर्लतामिव ॥

ज्ञान और अभ्यास प्रतिभा-रूप बीज को अंकुरित करने के लिए मिट्टी और जल के तुल्य हैं। अतः प्रमुख कारण प्रतिभा है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने ग्रन्थ काव्यानुशासन में और भी निश्चित शब्दों में इसी मत की पुष्टि की है। उनका कथन है—

प्रतिभैव च कवीनां काव्यकारणकारणम् ।
व्युत्पत्त्यभ्यासौ तस्या एवं संस्कारकारकौ न तु काव्यहेतू ॥

यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि प्रतिभा के होते हुए भी बिना अभ्यास के और लोकशास्त्र-ज्ञान के, क्या काव्य का सम्यक् विकास हो सकता है। यदि नहीं, तो प्रतिभा को काव्य का प्रमुख कारण मानते हुए भी हमें व्युत्पत्ति और अभ्यास को भी कारण के क्षेत्र में सम्मिलित करना होगा। आचार्य मम्मट ने इस दृष्टिकोण से शक्ति, निपुणता और अभ्यास को काव्य के कारणरूप माना है।[1] दोनों को कारणरूप मानते हुए भी दोनों में भेद किया जा सकता है। हम प्रतिभा को निमित्तकारण तथा व्युत्पत्ति और अभ्यास को उपादानकारण मान सकते हैं। बीजस्वरूप प्रतिभा निमित्तकारण है और मिट्टी और जलतुल्य व्युत्पत्ति और अभ्यास उपादानकारण है।

एक ओर दृष्टिकोण हमारे सामने आता है। प्रतिभा और व्युत्पत्ति होने पर भी हो सकता है कि काव्य की रचना न हो। अतः काव्य की प्रेरणा देनेवाली वृत्तियों को भी हम काव्य-कारण के क्षेत्र से बहिष्कृत नहीं कर सकते हैं। ये वृत्तियाँ हैं—(1) आत्मा-भिव्यक्ति, (2) सौन्दर्य के प्रति आकर्षण और (3) कौतुक। अन्तिम दो प्रवृत्तियाँ पृष्ठभूमि तैयार करती हैं और प्रथम द्वारा काव्य-रचना की प्रेरणा मिलती है। अपनी अनुभूति को प्रकट करने अथवा उसे दूसरों की अनुभूति में परिणत करने की विह्वलता का जब कवि अनुभव करता है, तभी प्रतिभा, काव्य-रचना में प्रवृत्त होती है और व्युत्पत्ति और अभ्यास से काव्य का विकास होता है।

उपर्युक्त समस्त विचारों को समन्वित करते हुए हम काव्य-कारण का विश्लेषण इस प्रकार कर सकते हैं। काव्य के तीन प्रकार के कारण हैं—1. प्रेरक, 2. निमित्त, 3. उपादान। **प्रेरककारण**—कवि की सामाजिक, पारिवारिक या वैयक्तिक परिस्थितियाँ तथा उसकी प्रकृति है जिससे उसे काव्य-रचना की प्रेरणा प्राप्त होती है और जिसके अभाव में या तो काव्य-रचना बिल्कुल नहीं होती अथवा होती भी है तो किसी अन्य रूप में। **निमित्तकारण**—कवि की प्रतिभा है। यही प्रतिभा कवि की उर्वर कल्पना, सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति, संवेदनशीलता, शब्द और अर्थतत्त्व की सूक्ष्म परख और सहज स्वतः अभिव्यंजनशीलता एवं उन्मेष के रूप में देखी जा सकती है। **उपादानकारण**—लोकशास्त्र के व्यापक ज्ञान, सत्संग, श्रवण, मनन और अभ्यास के रूप में होते हैं, जो पूर्ववर्ती दोनों कारणों को सहायता पहुँचाते हैं और काव्य-रचना के सम्यक् विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। इनके बिना काव्य-रचना व्यापक महत्त्व एवं स्थायित्व नहीं प्राप्त करती और अधिक व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करते हुए हम कह सकते हैं कि प्रेरक कारण भी निमित्तकारण का एक भेद है। अतः निमित्तकारण के दो रूप हुए—1. प्रेरककारण और प्रतिभा तथा 2. उपादानकारण। काव्यकारण के समस्त रूपों का समावेश इनके अंतर्गत हो जाता है। इस प्रकार काव्यकारण दो हुए—(1) निमित्तकारण, जिसके दो रूप हैं—(क) प्रेरककारण और (ख) प्रतिभा और (2) उपादानकारण जिसके अन्तर्गत लोक और शास्त्र का ज्ञान, सत्संग, अध्ययन-मनन और अभ्यास—सभी आ जाते हैं। इन सभी के होने पर उत्कृष्ट काव्य की सर्जना हो सकती है।

---

1. शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥—*काव्यप्रकाश*

इस प्रसंग में वामन का काव्यांगों का विश्लेषण महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने काव्यांग को तीन रूपों में प्रस्तुत किया है—**लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि।** ये काव्यांग काव्य के साधन ही हैं। लोक से आचार्य वामन का तात्पर्य है स्थावर एवं जंगम जगत् का व्यवहार जानना। विद्या में—शब्द, स्मृति, अभिधानकोश, छन्दोविच्छिति, कलाशास्त्र, राजनीति, इतिहास हैं। इनमें प्रथम लोक-ज्ञान और द्वितीय शास्त्र-ज्ञान है। अत: यह निपुणता या व्युत्पत्ति के भीतर रखा जा सकता है।

वामन के प्रकीर्ण में भी सभी प्रकार के कारणों का समावेश है। प्रकीर्ण को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है—**लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवाऽवेक्षणम्। प्रतिभानमवधानञ्च प्रकीर्णम्॥** इनमें लक्ष्यज्ञत्व का तात्पर्य है, अन्यों के काव्यों का ज्ञान, यह व्युत्पत्ति है। अभियोग का अर्थ उद्यम या अभ्यास है। वृद्धसेवा सत्संग है जो प्रेरक कारण है। अवेक्षण पद का विन्यास, यह अभ्यास का ही रूप है। प्रतिभानम् प्रतिभा और अवधानम् चित्त की एकाग्रता है जो निमित्त रूप है। इस प्रकार वामन द्वारा गिनाये गये कारण भी उपर्युक्त दोनों भेदों में समाविष्ट हो जाते हैं।

5. काव्य-प्रयोजन और विविध वाद

Its means whatever the universe contains,

Its ends, pleasure and exaltation. —*Leigh Hunt*.

काव्य के प्रयोजन को लेकर अनेक मतवाद प्रचलित हुए हैं। ये मतवाद आधुनिक युग में ही दिखाई पड़ते हैं जिनका प्रमुख कारण पाश्चात्य प्रभाव है। काव्य को कला के अन्तर्गत मानकर, कला के प्रयोजन को लेकर विभिन्न एकांगी मत देखने को मिलते हैं जिनमें प्रमुख पर यहाँ हम विचार करेंगे।

कला कला के लिए

काव्य और कला के अत्यधिक नैतिक, धार्मिक प्रचारवादी दृष्टिकोण ने इस वाद को जन्म दिया। काव्य उपदेशप्रधान हो और जीवन में उपयोगी बातों को ही अभिव्यक्त करे या धार्मिक प्रचार का साधन बने, इस धारणा के विरुद्ध कुछ स्वच्छन्द प्रेम और शृंगार का चित्रण करनेवाली, कुछ अश्लील कही जानेवाली और कठोर नैतिकता के विपरीत विद्रोह जगानेवाली कविता के समर्थन के लिए, कला कला के लिए अथवा कविता कविता के लिए है, नैतिकता या धार्मिक उपदेश के लिए नहीं और उपयोगिता की स्थूल कसौटी पर वह नहीं कसी जानी चाहिए, इस दृष्टिकोण का जन्म और प्रचार हुआ। **ऑस्कर वाइल्ड** और उनके साथी तथा **डॉक्टर ब्रैडले** ने इस मत का समर्थन किया। सैद्धान्तिक दृष्टि से देखा जाय, तो इसके दो पक्ष स्पष्ट होते हैं। एक पक्ष कवि का या कलाकार का है और दूसरा पक्ष है समाज, पाठक या श्रोता का। कला कला के लिए है या काव्य काव्य के लिए है, इस मत की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि यह है कि कवि या कलाकार कविता या कला-कृति की रचना करते समय, कोई निश्चित प्रचारवादी या उपदेशात्मक उद्देश्य को लेकर नहीं बैठता। उसकी प्रतिभा के स्वच्छन्द प्रस्फुटन के लिए

प्रयोजन और उद्देश्य का कोई बन्धन या सीमाएँ नहीं होनी चाहिए, अन्यथा उसका पूर्ण विकास न हो सकेगा। कवि या कलाकार का प्रमुख उद्देश्य काव्य या कला की सृष्टि ही है। अतः उसकी दृष्टि से कला कला के लिए ही है, और किसी प्रयोजन के लिए नहीं। परन्तु, इस मत या सिद्धान्त का उपयोग कुरुचिपूर्ण, अश्लील, दूषित अथवा वीभत्स साहित्य के समर्थन और प्रचार के लिए करना अनुचित है, क्योंकि वह तो मूलतः कला या काव्य के स्वभाव के विरुद्ध है। उससे सामूहिक और उत्कृष्ट आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता। कला कला के लिए है, इस सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण विचार डॉ० ब्रैडले के हैं जो उनकी पुस्तक Oxford Lectures on Poetry में प्राप्त होते हैं। उनके विचारों और तर्कों का संक्षेप इस प्रकार है—

(1) कविता विविध अनुभवों का क्रम है जो हमें ध्वनियों, कल्पनाओं, विचारों, भावनाओं आदि के रूप में कविता के पढ़ते समय प्राप्त होता है। यह अनुभव काल्पनिक होता है और प्रत्येक पाठक एवं प्रत्येक पाठ के साथ भिन्न रूप में प्राप्त होता है। इस प्रकार एक कविता अनेक कोटियों में रहती है।

(2) 'कविता कविता के लिए है' इस सूत्र से ये बातें समझनी चाहिए—प्रथम, यह अनुभव स्वयं ही साध्य है और इसका अपना निजी स्वतन्त्र मूल्य है। द्वितीय, काव्य का मूल्य यही अनुभव है। कविता का महत्त्व इसके अतिरिक्त अन्य बातों में भी देखा जा सकता है, जैसे धर्म, संस्कृति, उपदेश, शान्ति, अर्थ-प्राप्ति आदि। परन्तु काव्य का यह महत्त्व उसके काव्यात्मक मूल्य को निर्धारित नहीं करता जिस प्रकार वह एक कल्पनागत अनुभव के रूप में हमें प्राप्त होता है। तृतीय यह कि अन्य प्रयोजनों से काव्य का वास्तविक मूल्य बढ़ता नहीं, वरन् घटता ही है।

(3) कविता के लिए विषय महत्त्व का नहीं है और न यही कहा जा सकता है कि उसके बिना कविता केवल रूप है, अभिव्यक्ति है। कविता वस्तु और रूप दोनों का ही समन्वय या संश्लेषण है। अतः कविता का मूल्य विषय में न रहकर समस्त कविता में है; क्योंकि एक ही विषय पर अनेक कोटियों की कविता लिखी जा सकती है। कविता न केवल विषय है और न केवल रूप या शैली। अतः कविता कविता ही है। उसमें एक को दूसरे से अलग कर नहीं देखा जा सकता। दोनों का एकीकरण ही काव्य का सार या मूल रूप है, अतः जब कविता के तत्त्वों को अलग करके नहीं देखा जा सकता, तो कविता का प्रयोजन भी कविता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह सभी कलाओं के लिए सत्य है।

कवि या कलाकार की दृष्टि से कला कला के लिए है, यह मत मानते हुए भी पाठक या श्रोता की दृष्टि से दूसरे प्रयोजन स्वतः आ जाते हैं। जब कोई रचना का पाठ करता है या कलाकृति का अवलोकन करता है, तो उसे आनन्द प्राप्त होता है। हो सकता है कि उससे उसे जीवन में कोई प्रेरणा भी प्राप्त हो, कोई शिक्षा मिले अथवा थोड़ी देर के लिए वह चिन्ताग्रस्त परिस्थितियों से निकलकर कलाकार के काल्पनिक संसार में

विचरण करने लगे। ऐसी दशा में जिसे कलाकार ने केवल कला के दृष्टिकोण से रचा है, वही पाठक के लिए अनेक प्रयोजनों से युक्त हो जाती है। अतः उपर्युक्त मत अन्य मतों का विरोधी नहीं है, यह मत का एक पक्ष है और दूसरे पक्ष में अन्य मत आ जाते हैं। आगे हम अन्य मतों पर विचार करेंगे।

कला जीवन के लिए

काव्य और कला जीवन के लिए है, इसे कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। जीवन के विकास और उत्कर्ष के साथ कला का स्थान महत्त्वपूर्ण होता जा रहा है, उसकी व्यापकता बढ़ती जा रही है। यदि काव्य और कलाओं को जीवन से निकाल दिया जाय, तो जीवन का जो रूप होगा उसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त काव्य जीवन को प्रेरणा प्रदान करता है, उसमें एक सरसता और उत्साह का संचार करता है। उदासी और चिन्ता के क्षणों में मन को प्रसन्न करने की उसमें शक्ति है। आदर्श और यथार्थ जीवन के दोनों पक्षों का चित्रण काव्य करता है। यथार्थ के आधार पर हम आदर्श की ओर अग्रसर होते हैं। अतः आदि से अन्त तक काव्य और कला में जीवन की झाँकी रहती है। जीवन को काव्य एक विशेष सुन्दर, स्वस्थ और उदात्त दृष्टिकोण से प्रस्तुत करता है। हम एक साथ थोड़े ही समय में व्यापक और सम्पूर्ण जीवन का दर्शन कर ज्ञान, आनन्द और शिक्षा प्राप्त करते हैं। अतः कला यदि जीवन के लिए नहीं, तो उसका उपयोग ही क्या हो सकता है। यह मत भी कला या काव्य के सामाजिक पक्ष से सम्बन्ध रखता है।

जीवन से पलायन के अर्थ

यह मत भी उपर्युक्त मत का ही एक अंग है। हम अपने नित्यप्रति के चिन्तापूर्ण, कटु और एकरस जीवन से ऊबकर, अधिक व्यापक, बहुरंगी और सुन्दर जीवन का दर्शन करने के लिए काव्य और कला का आश्रय ग्रहण करते हैं। यथार्थ जीवन की कटुता और अभावों के बीच रहते-रहते जब दम घुटने लगता है, तब हम जीवन के उस रूप में प्रवेश करना चाहते हैं जिसकी कटुता और अभाव या तो हमें ग्रस्त न करे अथवा जो सुन्दर, सुखद जीवन की झाँकी प्रस्तुत करे। अभाव और कटुतापूर्ण मध्ययुगीन जीवन के लिए गोस्वामी तुलसीदास के द्वारा प्रस्तुत राम की जीवनकथा, इसी प्रकार का पलायन है। कवि स्वयं अपनी कल्पना के जीवन को काव्य में उतारने का प्रयत्न करता है, जीवन में चाहे उसे उतारने की क्षमता और साधन उसके पास न हो। पूर्ण जीवन का अनुभव और साक्षात्कार करने की भावना, इस वृत्ति के मूल में विद्यमान रहती है। यह मत कवि और पाठक दोनों ही के लिए यथार्थ है। एक अवांछनीय जीवन से आदर्श जीवन में प्रवेश करने के कारण इसी का एक रूप है 'जीवन में पलायन के अर्थ' जो एक ही वस्तु के दो रूप अथवा अवस्थाएँ हैं। यथार्थ जीवन की कटुता से ऊबकर काल्पनिक जीवन के चित्र प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति इसमें आती है। छायावादी काव्य में भी यह प्रवृत्ति देखने को मिलती है।

मनोरंजन अथवा आनन्द के लिए

काव्य और कला का प्रमुख ध्येय मनोरंजन और आनन्द माना जाता रहा है। काव्य से मनोरंजन होता है, उसके मनन से आनन्द मिलता है, इसमें सन्देह नहीं। इसकी आनन्ददायिनी शक्ति के कारण ही काव्य को ब्रह्मास्वाद-सहोदर भी कहा गया है। काव्य का आनन्द लोकातीत है, क्योंकि इसमें अन्तर्वृत्तियों की पूर्ण तन्मयता रहती है और इससे मानसिक प्रसन्नता और आत्मिक विकास भी होता है। काव्य अथवा कला के इस उद्देश्य के सम्बन्ध में मतभेद नहीं। इस प्रयोजन को सभी मानते हैं।

सेवा के अर्थ

काव्य-कला से मानवता की सेवा करना और सद्भावनाओं का प्रचार करना, यह प्रचारवादी और नैतिक दृष्टिकोण ही है। काव्य अथवा कला से तो सेवा होती ही रहती है। कलाकार स्वयं अपने युग की आवश्यकता के अनुसार अपनी चेतना में कोई मानव-सेवा का सिद्धान्त अंगीकार करता है, ऐसी दशा में स्वभावतः वह उसकी कृति में प्रतिबिम्बित होगा, परन्तु सेवा का उद्देश्य लेकर बैठने से कला की उत्कृष्टता में बाधा पड़ेगी। प्रेमचन्द के इस प्रकार के उद्देश्य से हीन गोदान उपन्यास के भीतर जो कलात्मक सफलता और प्रभाव है वह उद्देश्य और आदर्श को प्रधान बनाकर लिखे गये अन्य उपन्यासों में नहीं है। टाल्स्टाय इस मत के समर्थक थे।

आत्म-साक्षात्कार के अर्थ

कविता और कला में कृती आत्म-साक्षात्कार करता है, अपनी अनुभूतियों और आकांक्षाओं को पकड़ता है और उन्हें अभिव्यक्ति प्रदान करता है। विश्व और जीवन का जो प्रतिबिम्ब उसके मानस-पटल पर अंकित हुआ है उसे समझना और उसी प्रकार चित्रित करना कलाकार का ध्येय है। इस आत्म-साक्षात्कार की दशा में उत्कृष्ट कलाकार लोकात्मा का भी साक्षात्कार करता है। अतः जब वह अपने अनुभव का प्रकाशन करता है, तब भी उसमें लोक अपनी निजी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति पाता है। किसी-किसी अवस्था में उसका अनुभव विलक्षण होता है, नवीन होता है; ऐसी दशा में आश्चर्यपूर्ण आनन्द की अनुभूति कलाकृति के पाठक या दर्शक को होती है। कवि के निजी व्यक्तित्व का ज्ञान प्राप्त करने की कुतूहलवृत्ति भी, कवि के इस आत्मानुभाव में आकर्षण उत्पन्न करती है। अतः आत्म-साक्षात्कार की प्रक्रिया प्रमुखतया भावुक कलाकार और गीतिकार की विशेषता है।

एक सृजनात्मक आवश्यकता

काव्य या कला के सम्बन्ध में तथ्यवादी और दार्शनिक मूलभूत दृष्टिकोण यही है। जिस प्रकार ईश्वर की सृष्टि का क्या प्रयोजन है, यह बताना कठिन है, पर सृष्टि बराबर चलती जाती है, उसी प्रकार यह काव्य-रचना एक सृजनात्मक आवश्यकता है जिसको पूरा किये बिना सर्जनकारी प्रतिभा से युक्त व्यक्ति रह नहीं सकता। कला कला के लिए है, यह दृष्टिकोण भी इसी पृष्ठभूमि पर आधारित है। काव्य अथवा कला के

अन्य प्रयोजन इस प्रमुख प्रयोजन के उपरान्त ही प्रकट होते हैं। यह तो एक स्वयंसिद्ध प्रयोजन है।

काव्य के जिन प्रयोजनों का उल्लेख ऊपर किया गया है, वे एक-दूसरे के पूरक हैं, विरोधी नहीं, और किसी भी काव्यकृति में एक साथ देखे जाते हैं। अतः काव्य के प्रयोजनों को समझने के लिए हमें व्यापक दृष्टि से विचार करना चाहिए। संस्कृत के आचार्यों ने काव्य के एक साथ अनेक प्रयोजन स्वीकार किये हैं। आचार्य भामह का कथन है—

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधु काव्यनिषेवणम् ॥

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति और कलाओं में कुशलता प्राप्त करना, कीर्ति और प्रेम का अर्जन करना काव्य से सम्भव होता है। अतः ये सब काव्य के प्रयोजनस्वरूप हैं। इसी प्रकार काव्य-प्रयोजन का स्पष्टीकरण आचार्य मम्मट के काव्यप्रकाश में भी हुआ है—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥

काव्य से यश की प्राप्ति होती है, अर्थ मिलता है, व्यवहार-ज्ञान होता है, अमङ्गल का नाश होता है। तुरन्त लोकातीत आनन्द काव्य द्वारा मिलता है और कान्ता के समान मधुर, प्रिय लगनेवाला उपदेश भी मिलता है। काव्य के माध्यम से आयी हुई शिक्षा हृदय पर प्रभाव डालती है और भुलायी नहीं जा सकती। इस प्रकार वैयक्तिक और सामाजिक, लौकिक और आध्यात्मिक सभी प्रयोजनों का संकेत इसमें मिल जाता है। इसी की पुष्टि करते हुए आचार्य भिखारीदास ने लिखा है—

एक लहैं तपपुजन के फल ज्यों तुलसी अरु सूर गुसाई ।
एक लहैं बहु सम्पति केशव भूषण ज्यों बरबीर बड़ाई ॥
एकन को जस ही सों प्रयोजन है रसखान रहीम की नाई ।
दास कवित्तन की चरचा बुधिवन्तन को सुखदै सब ठाई ॥

6. काव्य-सृजन की प्रक्रिया

काव्य की सृजन-प्रक्रिया के सम्बन्ध में अनेक मत हैं। कोई केवल शारीरिक दृष्टि से, कोई मानसिक और कोई आध्यात्मिक दृष्टि से इनका विश्लेषण करते हैं, परन्तु काव्य की सृजन-प्रक्रिया एक शारीरमानसात्मिक व्यापार है, इसमें शरीर प्रमुखतया साधन और माध्यम है। प्रमुखतया क्रिया मनस्तत्त्व की है, जिसमें चेतना आत्मतत्त्व को स्पर्श और जाग्रत करती है। आत्मतत्त्व के संस्पर्शित होने पर आनन्दमय उत्कृष्ट काव्य की सृष्टि होती है और उसके उद्‌बुद्ध होने पर उच्च रहस्यात्मक काव्यधारा प्रवाहित होती है। सामान्यतया लौकिक काव्य में मनस्तत्त्व अनुभूति और कल्पना को प्रेरित करता है।

अनुभूति को प्रमुखतया संस्पर्श करने पर भावात्मक काव्य की तथा कल्पना के क्षेत्र को संस्पर्श करने से कलात्मक काव्य की प्रधानतया सृष्टि होती है। दोनों का सामंजस्य होने पर ही व्यापक प्रभाववाले काव्य की रचना सम्भव है जिसमें कवि का मन एक साथ कल्पना और अनुभूति दोनों ही क्षेत्रों के संस्पर्श का आनन्द उठाता है। बुद्धितत्त्व सामान्यतया 'भोजने लवणवत्' रहता है, परन्तु अधिक होने पर फिर प्रचारवादी या नीति-उपदेश-प्रधान काव्य की रचना होती है। अनुभूति की धरती पर जब कल्पना विचरण करने लगती है तब सुन्दर भाव-कला-संपन्न काव्य की सृष्टि होती है।

स्थूल रूप से यह काव्य-सृजन की प्रक्रिया इस प्रकार स्पष्ट की जा सकती है। हमारे मस्तिष्क पर जगत् और जीवन के नाना रूपों और दृश्यों के प्रभाव पड़ते रहते हैं। इनमें से कुछ हमारी चेतना को अधिक प्रेरित करते हैं, कुछ अनुभूति को जाग्रत कर देते हैं और कुछ कल्पना पर अपना गहरा प्रभाव डाल देते हैं। कवि जब काव्य लिखने बैठता है, तब उसके इन विविध प्रभावों से प्रभावित संस्कार चेतना और कल्पना के संस्पर्श से जाग उठते हैं। जगत् और जीवन के ये दृश्य जैसे के तैसे ही फोटो की भाँति सदैव सब नहीं आते, वरन् वे आकर संस्कार-संपन्न कल्पना और बुद्धि को प्रेरित करते हैं। हम यों कह सकते हैं कि हमारी चेतना अन्तर्मुखी होकर कल्पना और अनुभूति पर पड़े इन प्रभावों को सहलाकर प्रेरित करती है। चेतना कल्पना और अनुभूति के क्षेत्रों में इन प्रभावों के संस्पर्श द्वारा आनन्द लेती है। यहीं काव्य-सृजन की क्रिया का प्रारम्भ होता है। कविता में, चेतना के अन्तर्मुखी प्रवेश के लिए छान्दसिक साँचों की सृष्टि कवि गुनगुनाकर करता है। अतः वह आनन्दानुभूति का वायवी रूप छन्दों के साँचों में शब्दों का व्यक्तित्व धारण कर प्रकट होता है। आनन्दानुभूति के अनुरूप साँचों में फिट बैठनेवाले शब्दों का चुनाव, कवि की स्मृति, बुद्धि और संस्कृति करती है। जितनी ही कल्पना नव्य (ताजी), मन स्वस्थ और अविकृत तथा अनुभूति संचरित, गहन और समंजस-युक्त होगी, उतनी ही शीघ्रता से काव्य-पंक्तियों की सृष्टि होती जायगी।

यह प्रारम्भिक स्थिति, धीरे-धीरे आत्मतत्त्व के सजग होने पर जाग्रत रूपों के साथ पूर्ण तन्मयता की अवस्था में तिरोहित हो जाती है। गम्भीर धारा-प्रवाह काव्य की रचना इस अवस्था में ही हो पाती है। अनुभूति का जो क्षेत्र सजग होता है उसी के अनुरूप कल्पना बिम्ब प्रस्तुत करती है। नाद-चेतना उसी के अनुरूप छान्दसिक साँचे ढालती है और स्मृति, बुद्धि, संस्कार आदि उसमें ठीक बैठनेवाले शब्द प्रस्तुत करते हैं और इस प्रकार लगभग समस्त मानसिक शक्तियाँ कविता के सृजन में उद्बुद्ध होकर गतिशील हो जाती हैं। अतः जो अद्भुत तन्मयता और आत्मविभोरता की अवस्था कविता की सृष्टि में प्राप्त होती है, वह अन्य काव्य-रूपों में नहीं आती। नाद-तत्त्व कविता के अतिरिक्त अन्य रूपों में नहीं उठता, अतः आत्मा को उद्बुद्ध करने की क्रिया भी कविता में ही अधिक हो पाती है, अन्य रूपों में नहीं। अन्य रूपों में बुद्धि-तत्त्व का अधिक संयोग रहता है।

जीवन और जगत् के दृश्य सभी देखते हैं। पर जब कवि उनके अपनी कल्पना और अनुभूति पर पड़े प्रभाव को अभिव्यक्ति देता है, तब उसके संस्कारविशेष के रंगों से

वे ओतप्रोत होते हैं। अतः वह उसकी निजी अभिव्यक्ति के रूप में प्रकट होते हैं। वे अन्य पाठकों या श्रोताओं को भी आनन्द प्रदान करते हैं, क्योंकि कवि की शब्दावली पाठकों या श्रोताओं पर पड़े उन्हीं या उसी प्रकार के अन्य प्रभावों को सहलाने में समर्थ होती है। यदि किसी के बिलकुल विसंवादी संस्कार हैं, तो उसे काव्य-विशेष में आनन्द न आयेगा। कभी-कभी यहाँ तक भी होता है कि अनुभूति उस प्रकार की पंक्तियों के सुनने में विद्रोह करती है और तन्मयात्मक नहीं, वरन् विरक्तिपूर्ण भावना जाग्रत हो जाती है।

मनोविकार की उत्तेजित दशाओं में काव्य का कलात्मक सृष्टि नहीं होती। उस समय कलात्मक संस्कार दब जाते हैं और अभिव्यक्ति का सामंजस्य भी नहीं रहता। अतः वर्ड्सवर्थ की धारणा सत्य है कि अनुभूतियों का शान्तिमय क्षणों में स्मरण काव्य को जन्म देनेवाला होता है। स्मरण, चेतना की अन्तर्मुखी या आवृत्ति-सम्बन्धी प्रक्रिया है और इस स्थिति में हम मस्तिष्क पर पड़े प्रभावों के अनुभव का आनन्द लेते हैं। इसका साम्य कुछ-कुछ शरीर पर लगे घावों के चेतना द्वारा अनुभव से है। पर दूसरा अनुभव पीड़ामय और प्रथम आनन्दमय प्राप्त होता है।

यहाँ एक प्रश्न और उठता है कि काव्य या कलात्मक सृष्टि की प्रेरणा कहाँ से मिलती है? प्रयोजन के प्रसंग में इस विषय पर प्रकाश डाला गया है। कुछ मनःशास्त्रियों का विश्वास है कि किसी प्रकार का अभाव या हीनता इस सृष्टि की प्रेरक होती है। परन्तु यह व्यापक सिद्धान्त के रूप में मान्य नहीं हो सकता, नहीं तो सभी हीन या अभावग्रस्त व्यक्ति कलाकार या कवि होते। यह अवश्य मान्य है कि कलात्मक चेतना होने पर उसका अधिक उपयोग, हीन या अभावग्रस्त शक्ति द्वारा होता है, क्योंकि वह हीनता और अभाव की पूर्ति के लिए दूसरे क्षेत्र में अपने आत्मा को उत्कृष्ट रूप में प्रकट करना चाहता है। जो हीन नहीं है उन्होंने भी काव्य की सृष्टि की है यदि उनमें उसकी प्रतिभा या चेतना है। हम यह मान सकते हैं कि काव्यात्मक चेतना या प्रतिभा होने पर अभाव या हीनता उसे उत्तेजित करती है। इसी प्रकार की उत्तेजना कवि या कलाकार को एकान्त-सेवन, समाज की विषमताओं के दृश्य, आदर्श चरित्र के सम्पर्क और आत्म-प्रकाशन की प्रवृत्ति से भी मिलती रहती है, जैसा पहले कहा जा चुका है। अभावग्रस्त और हीन व्यक्तियों की चेतना प्रमुखतया सृष्टि की ओर अभिमुख हो जाती है, क्योंकि उसके द्वारा एक प्रकार की क्षतिपूर्ति होती है। पर यह तभी सम्भव है जब प्रतिभा पहले से मौजूद हो और अन्तःवृत्ति कलासृष्टि के लिए अन्तर्मुखी हो सके।

काव्य के कथात्मक रूपों में कवि या लेखक के मन पर घटनाओं और चरित्रों के प्रभाव पड़ते हैं। उन प्रभावों को उद्बुद्ध कर वह अपनी बुद्धि और कल्पना से एक में जोड़नेवाला कथानक तैयार करता है। यदि प्रख्यात कथानक होता है, तब तो वह उसकी भावात्मक विवृत्ति करता है और वह प्रायः काव्य या नाटक के रूप में। उपन्यास-कहानी में चरित्र या घटनाएँ लेखक को अत्यधिक प्रभावित करती हैं, अतः वह अपनी कल्पना से, उनसे सम्बन्धित समस्त प्रभावों को एक कथासूत्र में पिरोकर प्रकट करता है। ऐतिहासिक उपन्यासों में भी लेखक इतिहास की प्रख्यात घटनाओं और चरित्रों को

महत्त्वपूर्ण पृष्ठभूमि और पूरा कथासूत्र देने के लिए काल्पनिक कथानक, पात्रों या घटनाओं की सृष्टि करता है और इस प्रकार अपने ऊपर पड़े घटनाओं और चरित्रों के समस्त प्रभाव को प्रकट करता है। इस प्रकार आत्माभिव्यक्ति काव्य-सृजन में प्रधान है; पर वह आत्माभिव्यक्ति ऐसी होती है जो कि बहुतों की आत्मानुभूति को जाग्रत कर सके।

7. काव्य में आत्माभिव्यक्ति और आत्मविज्ञप्ति

काव्य का प्रमुख कार्य हमारे आन्तरिक जीवन की अभिव्यक्ति है।[1] बाह्य जगत् का वर्णन और चित्रण भी कवि ऐसा ही करता है जैसा कि उसका प्रभाव और प्रतिबिम्ब उसके मन पर पड़ता है। जिस रूप का प्रभाव गहरा पड़ा है, जिस दृश्य या चरित्र ने उसकी संवेदना को स्पर्श किया है, जिसने उसकी चेतना को झकझोर दिया है और भावों को आन्दोलित कर दिया है, उसका चित्रण भी उतना ही प्रभावशाली होगा। सब कुछ जो काव्य का रूप धारण करके आता है, कवि या रचयिता का अपना निजी अनुभव बनकर आता है। जो वर्णन उसकी आत्मा को छुए बिना किया जाता है उसमें पाठक या श्रोता की आत्मा को स्पर्श करने की भी शक्ति नहीं रहती। काव्यगत वर्णन आत्मा या कवि की चेतना के चुम्बक के सम्पर्क से सभी की चेतना को खींचने की शक्ति रखता है। कवि की आत्मा जब कल्पना को प्रेरित करती और अनुभूति को संचरित करती है, तभी वाणी साकार हो पाती है।

काव्य की यह भी विशेषता है कि वह कवि की आत्माभिव्यक्ति होने के साथ-साथ हमारी भी आत्माभिव्यक्ति बन जाता है। काव्य की वाणी इस प्रकार की होती है कि वह हमें अपनी निजी आत्माभिव्यक्ति का सा आनन्द देती है। अपनी आत्माभिव्यक्ति की क्रिया के द्वारा ही हम काव्य में रसात्मक एवं भावात्मक आनन्द प्राप्त करते हैं। व्यंजन में स्वाद होता है, पर हम अपनी आत्मा और मन द्वारा ही उसका स्वाद लेते हैं।

इसलिए कुछ विचारकों ने साहित्य को प्रधानतया आत्माभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार किया है जिनमें क्रोचे, गेटे, हीगेल, भोज, टैगोर और प्रसाद के नाम लिए जा सकते हैं। इस दृष्टि से साहित्यकार अपनी कृतियों में आत्मप्रकाशन करता है और इसलिए उसे आनन्द आता है। साथ ही स्रोता या पाठक को आनन्द इसलिए आता है कि वह भी उसमें आत्मानुभव का प्रकाशन पाता है। साहित्य कोरे तटस्थ ज्ञान का प्रकाशन-मात्र नहीं, वरन् स्वानुभूति की अभिव्यक्ति है; इसी से हमारी अनुभूति और कल्पना उसे ग्रहण करने में सुख का अनुभव करती है। **गेटे ने अपने एक पत्र में प्रकट किया था कि साहित्यकार की अन्तरात्मा की छाप ही उसकी शैली है** और उदात्त

1. It is consequently the pre-eminent task of poetry to bring before our vision the energies of the life of spirit, all that surges to and for in human passion and emotion or passes in tranquillity across the mind. —*Hegel*.

शैली के लिए प्रथमत: उदात्त चारित्र्य की अपेक्षा रहती है। प्रसिद्ध विचारक हीगेल ने आत्माभिव्यक्ति को ही काव्य का मुख्य तत्त्व माना है जिसका प्रकाशन मुख्यत: गीतिकाव्य में होता है। टैगोर का विश्वास है कि हृदय का जगत् अपने को व्यक्त करने के लिए आकुल रहता है, इसलिए चिरकाल से मनुष्य के भीतर साहित्य का वेग है। अपने को वह अनेक हृदयों में अनुभूत कराना चाहता है। जयशंकर 'प्रसाद' तो काव्य को आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति ही मानते हैं। उनके विचार से आत्मानुभूति का प्रकाशन ही साहित्य हुआ। इसी से मिलती-जुलती धारणा महादेवी वर्मा की भी है, क्योंकि वे कविता को कविविशेष की भावनाओं का चित्रण मानती हैं —ऐसा चित्रण जो कि वैसी ही भावनाएँ दूसरे के हृदय में भी उठा सके। इन विचारों से साहित्य और फलत: जीवन के अन्तर्गत आत्माभिव्यक्ति की व्यापकता स्पष्ट है। जीवन के अनेक अनुभव, जो हमें वैयक्तिक रूप में प्राप्त होते हैं, अभिव्यक्त होकर अनेक अन्य व्यक्तियों के भी निजी अनुभव जैसे लगते हैं, क्योंकि ये हमारे व्यापक और सामान्य आत्मा का विस्तार है।

परन्तु, यह आत्माभिव्यक्ति आत्मविज्ञप्ति नहीं। हम यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते हैं कि साहित्यकार इतना प्रगल्भ होता है कि वह सदैव अपने आत्म को विज्ञप्ति देने के लिए उद्यत रहता है और उसका प्रमुख ध्येय आत्मप्रदर्शन ही है। यह हमें स्वीकार करना होगा कि साहित्यकार का प्रमुख ध्येय अहं या आत्म को विज्ञापन देने का नहीं रहता। अपने को प्रकट करने, प्रचार करने के उद्देश्य को लेकर साहित्यकार लिखता है, यह बात सर्वमान्य नहीं हो सकती। साहित्य आत्माभिव्यक्ति होते हुए, वह सदैव आत्मविज्ञप्ति नहीं है। साहित्यकार आत्म-प्रकाशन की अद्‌भुत क्षमता और सामर्थ्य रखता है। आत्मविज्ञप्ति उसका ध्येय न होते हुए भी, वह आत्माभिव्यक्ति के लिए तीव्र आकुलता का अनुभव करता है। इन आकुल आत्माभिव्यक्ति में वह लोक-भावना को ही अभिव्यक्ति देना चाहता है। लोक के किसी चरित्र के माध्यम से अपने को उसके व्यक्तित्व में डालकर वह कुछ कहता है। कथा-साहित्य, नाटक, आदि साहित्य के रूप इसके सबल प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त साहित्यकार अपने अनुभव को अपने रूप में भी व्यक्त करता है। जिसका स्वरूप हमें गीतिकाव्य और निबन्ध-साहित्य में मिलता है। प्रश्न यह है कि क्या हम इन्हें आत्मविज्ञप्ति कह सकते हैं? प्रधानतया ये आत्मविज्ञप्ति के रूप नहीं, वरन् आत्माभिव्यक्ति के ही रूप हैं जिनमें उसकी प्रचार या विज्ञापन की भावना काम नहीं करती, वरन् स्वान्त: सुखाय नि:सृत सहज प्रवाहित आत्मानुभूति है। हमें साहित्यकार की सच्चाई में विश्वास है। परन्तु इसके अतिरिक्त कभी-कभी उसके स्वाभिमान को ठेस लगती है। उसकी सच्चाई पर अविश्वास की भावना की प्रतिक्रिया उसकी आत्म-विज्ञप्ति के रूप में प्रकट होती है। संसार में यश और अमरता का लोभ और अपने को दूसरे से बढ़कर मानने का भाव उसे आत्म-विज्ञप्ति के लिए कभी-कभी प्रेरित करता है और इस प्रकार साहित्य के अन्तर्गत हमें साहित्यकार की आत्मविज्ञप्ति के दर्शन होते हैं। यह कभी-कभी तो अनायास हो जाती है जिसे हम उसके व्यक्तित्व और स्वभाव का प्रकाशन कह सकते हैं और कभी-कभी जान-बूझकर किसी घटना या अनुभव के प्रतिक्रिया-स्वरूप होती है।

भारतीय साहित्य की परम्परा प्राय: अपने सम्बन्ध में मौन रहने की है। यदि कभी अपने स्वभाव का प्रकाशन भी हुआ तो विनम्र भक्ति-भावना के रूप में। फिर भी कभी-कभी लोकभावना या आचरण का विपरीत या विरोधी रूप पाकर उसके प्रतिक्रिया-स्वरूप उसकी आत्मविज्ञप्ति भी हुई है। कुछ लोग सोच सकते हैं कि आत्मविज्ञप्ति ही ऐसे साहित्यकार की प्रेरक है। गीता में भगवान् कृष्ण अपने को ब्रह्म के रूप में प्रकट करते हैं और सृष्टि के समस्त उत्तम तत्त्वों को अपना ही रूप बताते हैं। क्या यह आत्मविज्ञप्ति नहीं है? हमें यहाँ यही कहना है कि यह आत्म की अतिशय, व्यापक एवं उच्च अनुभूति है। चेतन की अतिशय जागरूकता है। इसी चेतन आत्मतत्त्व की जागरूकता की पराकाष्ठा हमें वेदान्त के अद्वैत सिद्धान्त में मिलती है। यह हमारी व्यापक, सीमाहीन चेतना का अनुभव है। आज हम कवि को कभी-कभी चेतना और अभिमान की अति जाग्रत अवस्था में यह कहते सुनते हैं कि मैं संसार को उलट-पुलट सकता हूँ, स्वर्ग को पृथ्वी पर उतार सकता हूँ। मैं सूर्य हूँ, चन्द्रमा हूँ, हिमालय हूँ। परन्तु यह सजगता क्षणिक है, स्थायी जागरूकता के रूप में नहीं। यह साहित्य के माध्यम से आकर थोड़ी देर के लिए हमें प्रभावित कर देती है। आत्मविज्ञप्ति का यह उत्प्रेरित रूप है; प्रकृत रूप नहीं।

साहित्य में आत्मविज्ञप्ति हमें अधिक सीमित एवं स्थूल रूप में भी देखने को मिलती है। इसे हम दो रूपों में रख सकते हैं—एक प्रच्छन्न रूप, दूसरा प्रकट या प्रकाश रूप। प्रच्छन्न आत्मविज्ञप्ति का क्षेत्र प्राय: कथा या प्रबन्धसाहित्य है। इसके भीतर हम देखते हैं कि अनेक उपन्यास, कहानी, नाटक अपने ही जीवन और व्यक्तित्व को स्पष्ट करनेवाले होते हैं और प्राय: हम यह भी कह सकते हैं कि अमुक उपन्यास, कहानी या नाटक का अमुक पात्र स्वयं लेखक है। यह प्रच्छन्न रूप है। आत्म-विज्ञप्ति का प्रकट रूप वह है जिसमें लेखक खुल्लम-खुल्ला अपने सम्बन्ध में कहता है। साहित्यकार के व्यक्तित्व के अध्ययन में ये आत्म-विज्ञप्तियाँ महत्त्वपूर्ण योग देती हैं। साथ ही उसकी विशिष्ट चेतना एवं संवेदनशीलता के कारण इनमें उसके विलक्षण व्यक्तित्व का प्रकाशन होता है, अत: ये रोचक भी हैं।

भक्ति-साहित्य में प्रमुखत: तथा शृंगार और वीरगाथा साहित्य में प्रचुरतया हम कवि की छाप दोहार्द्ध या पदान्त में पायी जाती हैं। कबीर, सूर, तुलसी, रहीम, देव, भूषण, पद्माकर आदि की रचनाओं में यह छाप मिलती है। आधुनिक युग के कुछ कवियों, जैसे हरिश्चन्द्र, रत्नाकर, हरिऔध आदि में भी यह प्रवृत्ति पायी जाती है। आत्म-विज्ञप्ति का यह एक विनम्र सांकेतिक रूप है। आत्म-विज्ञप्ति के मुखर और कभी-कभी प्रगल्भ रूप भी हमारे हिन्दी-साहित्य में मिलते हैं जो कविविशेष के व्यक्तित्व को प्रकट करते हैं। विस्तार के कारण उदाहरण के लिए पूरे साहित्य को न लेकर केवल काव्य से ही कुछ छन्द प्रमाण-स्वरूप लेना पर्याप्त होगा।

कबीर का फक्कड़, निर्द्वन्द्व और मुँहफट व्यक्तित्व उनकी साखियों और पदों में प्रकट होता है। उनकी साखियों और पदों की कुछ पंक्तियों में प्राप्त आत्म-विज्ञप्तियाँ उनके दृढ़ और निर्भीक स्वरूप को प्रत्यक्ष कर देती हैं जैसा हम इन पंक्तियों में देखते हैं—

मेरा मन सुमिरे राम को, मेरा मन रामहिं आहि ।
अब मन रामहि ह्वै रह्या, सीस नवावौं काहि ॥
आया था संसार में, देखन को बहु रूप ।
कहे कबीरा संत हो, पड़ि गया नजर अनूप ॥
जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं ।
सब अँधियारा मिट गया, जब दीपक देखा माहिं ॥

❑ ❑ ❑

वा चुनरी सुर नर मुनि ओढ़ी, ओढ़ि कै मैली कीन्हीं चदरिया ।
दास कबीर जतन से ओढ़ी, ज्यों-की-त्यों धरि दीन्हीं चदरिया ॥

अहंभाव का यह प्रकाशन अतिशय चेतनता और आध्यात्मिक जागरूकता के परिणामस्वरूप है जिसका कारण पूर्णतः स्वार्थत्याग है। कबीर का लोकमंगल में रत, फक्कड़ व्यक्तित्व अनेक पंक्तियों में व्यक्त हुआ है—

कबिरा खड़ा बजार में, माँगै सबकी खैर ।
ना काहू सों दोस्ती, ना काहू सों बैर ॥
हम घर जाल्या आपना, लिया मुराठा हाथ ।
अब घर जालौं तासका, जो चलै हमारे साथ ॥

इन आत्मविज्ञप्तियों में कबीर का जो व्यक्तित्व हमारे सामने प्रत्यक्ष होता है, वह उनके ऐतिहासिक और लोकप्रचलित रूप से साम्य रखता है। ये उनके स्वभाव के अध्ययन में उतनी ही महत्त्वपूर्ण भी सिद्ध होती हैं जितनी ये रोचक और रमणीय हैं।

तुलसी का व्यक्तित्व कबीर की भाँति फक्कड़ और उग्र नहीं है; फिर भी उनमें एक स्वाभिमान और स्पष्टवादिता है। जायसी की उक्तियों में उनकी मस्ती और आत्मयश का लोभ विद्यमान है। कवि के रूप में अमर होने की लालसा और कवित्व-प्रतिभा की चेतना इन पंक्तियों में ध्वनित होती है—

एक नयन कवि मुहमद गुनी। सोइ विमोहा जेहि कवि सुनी ॥
एक नयन जस दरपन, औ निरमल तेहि भाव ।
सब रूपवंतइ पाउँ महि, मुख जोहहिं कै चाव ॥
मुहमद कवि यह जोरि सुनावा। सुना सो पीर प्रेम का पावा ॥
जोरी लाइ रकत कै लेई। गाढ़ि प्रीति नैनन जल भेई ॥
औ मैं जानि गीत अस कीन्हा। मकु यह रहै जगत मँह चीन्हा ॥
कहँ सरूप पद्मावति रानी। कोइ न रहा जग रही कहानी ॥
केइ न जगत जस बेचा, केइ न लीन्ह जग मोल ।
जो यह पढ़ै कहानी, हम्ह सउँरे दुइ बोल ॥

तुलसी की आत्मविज्ञप्ति की भावना अत्यन्त विनम्र है। समस्त संसार को सीता-राममय जानकर प्रणाम करनेवाले गोस्वामी जी की विनयपत्रिका में आत्मा की विनम्र,

समर्पणपूर्ण अभिव्यक्ति है, फिर भी उनके निजी हठीले स्वाभिमानी स्वभाव को उभार देनेवाली पंक्तियाँ उसमें आ ही गई हैं—

हौं मचला लै छाँहिड़ौं जेहि लागि अर्‌यो हौं।
तुम दयालु बनिहै दिये, बलि बिलँब न कीजिए जात गलानि गर्‌यो हौं॥

❑ ❑ ❑

स्वारथ के साथिन तज्यो तिजरा को सो टोटक औचटि उचटि न हेर्‌यो।
हौं तो सदा खर को असवार तिहारोइ नाँव गयंद चढ़ायो।

कवितावली में भी उनके व्यक्तित्व और स्वभाव को प्रकट करनेवाली आत्मविज्ञप्तियाँ मिलती हैं, जैसे—

लोक को न डर परलोक को न सोच, देव-सेवा न सहाय गर्व धाम को न धन को ।
राम ही के नाम ते जो होय सोई नीकी लागे ऐसोई स्वभाव कछु तुलसी के मन को ॥

इससे स्पष्ट है कि भक्ति पर दृढ़ आस्था और ईश्वर पर विश्वास ने उन्हें निर्द्वन्द्व और निर्भीक बना दिया था। संसार में ऐसे भी लोग थे जो उनकी हँसी और निन्दा करते थे। सज्जन और दुर्जन—दोनों प्रकार के लोग इस संसार में रहते हैं। सज्जनों का काम जहाँ पर दूसरों का उपकार करना है, दुष्टों का काम वहीं दूसरों के हित का नाश भी है। दुष्टों के इस प्रकार के आचरण पर तुलसी का भी अहं जाग्रत हो जाता है, जब वे कहते हैं—

हँसहिं बक दादुर चातकही। हँसहिं मलिन खल बिमल बतकही ॥
खल परिहास होइ हित मोरा। काक कहहिं कलकंठ कठोरा ॥

ये आत्मविज्ञप्तियाँ सन्तों और भक्तों की हैं जिनका स्वभाव लोककल्याण है। इसी से इनकी वैयक्तिक विज्ञप्तियों में भी एक तेज और लोक-मंगल का ओज विद्यमान है। इनके अतिरिक्त हिन्दी साहित्य में अपनी कवित्व-प्रतिभा अथवा स्वभावगत स्वाभिमान की भावना को प्रकट करनेवाली भी आत्मविज्ञप्तियाँ हैं—सेनापति, देव, घनानन्द, ठाकुर, बोधा, पद्माकर, ग्वाल, हरिश्चन्द्र, शंकर आदि की उक्तियाँ विख्यात हैं। इनमें कुछ की आत्मविज्ञप्तियाँ इस बात को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं।

सेनापति अपनी कवित्व-प्रतिभा के सम्बन्ध में बड़े ही सचेत थे। 'कवित्त-रत्नाकर' की कुछ प्रारम्भिक पंक्तियों में इनके दादा, पिता, गुरु आदि का भी उल्लेख है; परन्तु अधिक रोचक पंक्तियाँ इनकी कवित्व-प्रतिभा की विज्ञप्ति करनेवाली ही हैं, जैसे—

सेनापति सोई सीतापति के प्रसाद, जाकी सब कवि कान दै सुनत कविताई हैं ।

❑ ❑ ❑

मूढ़न को अगम सुगम एक ताको जाकी, तीखन बिमल बिधि बुद्धि है अथाह की ।
सेवक सियापति को सेनापति कवि सोई, जाकी द्वै अरथ कविताई निरबाह की ॥

यह उनकी श्लेष-सम्बन्धी प्रतिभा की विज्ञप्ति है; ऐसे ही—

मानो छवि ताकी उदवत सविता की सेनापति कबिता की कबिताई बिलसति है ।

इन पंक्तियों में वास्तविक आत्मविज्ञप्ति है। यद्यपि अपने सम्बन्ध में कही गई उनकी बातें असत्य नहीं हैं, फिर भी अपने गुणों को प्रकाशित करने का भाव इनमें विद्यमान है। कवित्व के सम्बन्ध में घनानन्द का भी भाव इसी प्रकार का है जिसमें यह कहा गया है कि घन जी के कवित्त समझने के लिए प्रेमी होना, व्रजभाषा की दक्षता, सौन्दर्य की परख और भाव-विवेक होना आवश्यक है, तभी कोई उनकी कविता समझ सकता है, पर वह कथन उनका नहीं। घनानन्द की कविता उच्च कोटि की है, इसमें सन्देह नहीं, पर उनकी उक्ति में स्वाभिमानपूर्ण आत्मविज्ञप्ति की प्रखरता मौजूद है।

भक्त कवियों का अहं उनके त्याग और परोपकार में तथा सेनापति, घनानन्द आदि कतिपय कवियों का आत्म उनके कवित्व की उत्कृष्टता के लिए व्यक्त हुआ है; परन्तु कुछ कवि ऐसे भी हैं जिनकी आत्मविज्ञप्तियों में उनके स्वाभिमान एवं लौकिक आचरण का भी प्रकाशन मिलता है। ठाकुर कवि ने एक छन्द में उनके अपने गुणों और स्वाभिमानपूर्ण स्वभाव की अभिव्यक्ति है—

सेवक सिपाही हम उन रजपूतन के दान जुद्ध जुरिबे में नेकु जे न मुरके ।
नीति देन वारे हैं मही के महिपालन को कवि उनही के जे सनेही साँचे उर के ।
ठाकुर कहत हम बैरी बेवकूफन के जालिम दमाद हैं अदेनिया ससुर के ।
चोजन के चोज रसमौजन के पातसाहि, ठाकुर कहावत पै चाकर चतुर के ॥

ठाकुर के इन कवित्त के साथ ही भारतेन्दु जी के कवित्त का स्मरण हो आता है जिसमें उन्होंने अपने को चतुर के चाकर, अभिमानी के नगद दमाद, गुनी के सेवक, कृष्ण के सखा और राधारानी का गुलाम बताया है। यह उनके स्वाभिमानपूर्ण स्वभाव और गुणों पर रीझनेवाली विशेषता है। इसी प्रकार की कविवर बोधा की उक्ति यह है—

हिलमिल जानें तासों मिलिकै जनावैं हेत,
हित को न जानै ताको हितू न बिसाहिये ।
होय मगरूर तापै दूनी मगरूरी कीजै,
लघु ह्वै चलै जो तासों लघुता निब्राहिये ॥
बोधा कवि नीति को निबेरो यहि भाँति अहै,
आप को सराहै ताहि आपहू सराहिये ।
दाता कहा सूर कहा सुन्दर सुजान कहा,
आपको न चाहै ताके बाप को न चाहिये ॥

नीति की बात कहते-कहते अन्तिम पंक्ति में बोधा का व्यक्तित्व टपक ही पड़ता है। यह सामन्ती युग की नीति का आदर्श नहीं। मानव-स्वभाव आज भी अधिकांश इसी नीति को बरतनेवाला है। बोधा की आत्मविज्ञप्ति लोकस्वभाव की विज्ञप्ति बन गई है।

पद्माकर की आत्मविज्ञप्तियाँ अधिक संयत हैं; उन्हें हम आत्मपरिचय और मनःप्रबोधन के रूप में ही देखते हैं। उनमें सेनापति, घनानन्द, ठाकुर, बोधा और भारतेन्दु की सी उग्रता और गर्व का भाव हमें नहीं मिलता।

इसमें सन्देह नहीं कि साहित्यकार की आत्मविज्ञप्तियों में जहाँ एक ओर हमें उसके जीवन और व्यक्तित्व का साक्षात्कार होता है, वहीं दूसरी ओर इनके आधार पर उसके साहित्य की व्याख्या करने में हमें सहायता मिलती है। इनके माध्यम से ही बहुधा हमें उसके जीवन और साहित्य-सम्बन्धी आदर्श प्राप्त होते हैं। मुझे तो ऐसा लगता है कि इन आत्मविज्ञप्तियों में साहित्यकार से साक्षात् सम्पर्क की ऊष्मा प्राप्त होती है और हम अनुभव करते हैं कि जैसे हमने स्वयं ही उसे देखा है और वह हमारा एक चिर-परिचित साथी है जिसे हम भुला नहीं सकते।

वास्तव में, यह आत्मविज्ञप्ति, साहित्यकार की आत्माभिव्यक्ति का ही एक उत्प्रेरित रूप है। यह उद्देश्य के रूप में स्वीकार नहीं की जा सकती, वरन् परिस्थिति-प्रेरित या विशिष्ट प्रकृति का द्योतक होती है। आत्माभिव्यक्ति साहित्यकार की मूल प्रवृत्ति है।

■ ■

2

काव्य के विविध रूप और उनका संक्षिप्त परिचय

[illegible] में जहाँ एक ओर हमें
[illegible] दूसरी ओर इनके आधार पर
[illegible] इनके माध्यम से भी बहुधा
[illegible] ऐसा लगता है कि
[illegible] और इन
[illegible]

[illegible]

■■

अध्याय 2

काव्य के विविध रूप और उनका संक्षिप्त परिचय

मनुष्य वाक्शक्ति से सम्पन्न प्राणी है। अत: उसका अतीत का ज्ञान उसकी वाणी के रूप में सुरक्षित है और वर्तमान का अनुभव और ज्ञान संक्रमणशील है—दूसरों को भी प्राप्त होता है और प्रभावित करता है। वाणी का वरदान पाकर ही मनुष्य प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ हुआ और इसी के आधार पर मानव-समाज का निर्माण और विकास हो सका है।[1] संगठन और विकास की अद्‌भुत क्षमता रखनेवाले मानव की अमर वाणी वाङ्मय (Literature) के रूप में सुरक्षित है। युग-युग से श्रुति-पद्धति पर या लिपिबद्ध होकर जो भी वाणी सुरक्षित है, वह वाङ्मय है। इसी वाङ्मय के ही पर्याय रूप में साहित्य शब्द का भी व्यवहार होता है। 'ज्ञान-राशि के संचित कोश का नाम साहित्य है'[2], यहाँ पर साहित्य वाङ्मय के अर्थ में ही आया है। परन्तु साहित्य शब्द का व्यवहार ललित वाङ्मय के रूप में भी होता है जिसका अधिक प्रचलित शब्द, संस्कृत साहित्य का 'काव्य' है।

वाङ्मय और साहित्य

ध्यान से विचार करने पर हम वाङ्मय और साहित्य में भेद कर सकते हैं। वाङ्मय श्रुत अर्थात् मौखिक परम्परा से प्राप्त ज्ञान को भी अपने क्षेत्र में समेट लेता है, पर साहित्य, ज्ञान और अनुभव का लिपिबद्ध रूप ही कहा जा सकता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि **वाङ्मय वाणी के द्वारा प्रकाशित समस्त अनुभव और ज्ञान है। तथा साहित्य मनुष्य के अनुभव और ज्ञान का वह रूप है जो लिपिबद्ध होकर हमारे सामने आता है या सुरक्षित रहता है।**

युग-युग की मौखिक परम्परा में बहती हुई वाङ्मय की धारा भी अमर हो जाती है और लिपिबद्ध साहित्य भी अध्ययन, मनन और समीक्षण की कसौटी पर कसता हुआ, यदि युग-युग तक समादृत होता जाता है, तो अमर हो जाता है। न जाने कितने वाणीकारों की रचनाएँ जो श्रुतपरम्परा में नहीं पड़ीं या लिपिबद्ध होकर सराही नहीं गईं व्यर्थ हो जाती हैं, परन्तु इनमें से अधिकांश में अमर साहित्य की विशेषताएँ मौजूद नहीं रहतीं। इसी से हम देखते हैं कि अनेक कवि दो-चार वर्ष तक ही चलकर समाप्त हो जाते हैं। अतएव वाङ्मय अथवा साहित्य की प्रमुख विशेषता उसकी स्मरणीयता,

---

1. वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्त्तते।—*काव्यादर्श* (दंडी) 1, 2.
2. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी।

संक्रमणशीलता और प्रगतिशीलता में है जो कि अमरत्व के गुण हैं। वेद का प्रारम्भिक स्वरूप वाङ्मय का ही है, इसी से उसे श्रुति कहते हैं।

साहित्य के रूप

साहित्य के प्रमुखतया पाँच भेद किये जा सकते हैं—

1. विज्ञान, 2. दर्शन, 3. शास्त्र, 4. इतिहास, 5. काव्य।

ये रूप क्रमशः बुद्धि या तर्क से अनुभूति और कल्पना के सम्मिश्रण के अनुपात के अनुसार हैं।

1. विज्ञान

तर्क और प्रयोग पर आधारित सिद्धान्त और नियमों को स्पष्ट करनेवाला प्रत्यक्ष या इंद्रियगोचर स्थूल एवं सूक्ष्म तत्त्वों का सूक्ष्म व्यवस्थित ज्ञान है।

2. दर्शन

यह भी प्रमुखतया तर्क और बुद्धि पर ही आधारित है, पर इसका विवेचन-क्षेत्र व्यापक है। यह विश्व के विकास आदि की कल्पना एवं जड़ और चेतन के सम्बन्ध का विश्लेषण करता है तथा जीवनक्रम की एक निश्चित व्यवस्था और धारणा का प्रतिपादन करता है। विज्ञान प्रमुखतया स्थूल तत्त्वों और वस्तुओं पर ही आधारित है और वह इन्द्रियों अथवा यन्त्रों के माध्यम से साक्षात्कृत तथ्य को ही स्वीकार करता है, परन्तु दर्शन काल्पनिक तथ्यों के आधार पर भी विश्व का रहस्योद्घाटन करने का प्रयत्न करता है।

3. शास्त्र

मानव-जीवन से सम्बन्धित और उसके उपयोगी नियम और सिद्धान्त, जो जीवन के किसी पक्ष की एक पूर्ण धारणा को स्पष्ट करते हैं, शास्त्र कहलाते हैं। विज्ञान के भी वे नियम जो समाज के लिए उपयोगी या उसके जीवन से सम्बद्ध रूप में देखे जाते हैं, शास्त्र का रूप ग्रहण कर लेते हैं। 'ऐप्लाइड साइंसेज' (Applied Sciences) तथा सामाजिक विज्ञान (Social Sciences) शास्त्र के अन्तर्गत हैं।

4. इतिहास

किसी वस्तु, व्यक्ति या जाति के व्यतीत वृत्तान्त का प्रामाणिक लेखा इतिहास कहलाता है। इतिहास का सम्बन्ध जैसा था वैसा ही प्रस्तुत करने के प्रयत्न से है। उसके लिए भले-बुरे, उपयोगी-अनुपयोगी आदि का विवेचन उतने महत्त्व का नहीं, जितना कि यथार्थ रूप प्रस्तुत करना। वह ऐसा निश्चय करके था, यह कहना चाहता है, चाहे वह रोचक हो या अरोचक, चाहे वह भला हो या बुरा। अतः इतिहास का कार्य अपना विशिष्ट कार्य है।

5. काव्य

जैसा हम पिछले अध्याय में कह चुके हैं, काव्य जीवन और सत्य के किसी

स्वरूप का आकर्षक और सजीव चित्रण है।[1] वह रमणीय अर्थ को प्रकट करनेवाली शब्द-कला है। वह कल्पना और अनुभूति से प्रेरित विचारों की सजीव, आकर्षक और स्मरणीय अभिव्यक्ति है। अतः उसका विषय और तथ्य कुछ भी हो सकता है, उसे एक जीवित रूप देना काव्य का प्रमुख कार्य है। काव्य की अपील प्रमुखतया कल्पना और अनुभूति से होती है। उसका साधन और माध्यम शब्द है। बुद्धितत्त्व होता है, पर वह गौण है। वर्णन के औचित्य के लिए ही उसकी आवश्यकता है। प्रधानतया **काव्य में कल्पना और अनुभूति के माध्यम से गृहीत सत्य का निरूपण किया जाता है,** परन्तु इसके साथ-ही-साथ उसकी अभिव्यंजनागत विशेषता भी महत्त्व रखती है।

काव्य एक रचना है, सृजन है। इसका सम्बन्ध विश्लेषण, तर्क, बुद्धि से उतना नहीं, जितना सृजनात्मक या रचनात्मक प्रतिभा से है। काव्य प्रतिभासम्पन्न मानव की शब्दगत सुघर सृष्टि है, इसी से यह साहित्य के समस्त रूपों की अपेक्षा अधिक रोचक है। कभी-कभी साहित्य शब्द का प्रयोग भी काव्य के अर्थ में होता है।

काव्य के भेद

काव्य के प्रधान भेद दो हैं—(1) पद्य, (2) गद्य। छन्दबद्ध रचना पद्य कहलाती है और छन्दहीन रचना गद्य है। पद्य में छन्दों के नियमों का पालन होता है, उसके अन्तर्गत एक नियमित गति या लय का निर्वाह होता है, यह लय काव्य को एक विलक्षण आकर्षण, संगीतात्मकता और स्मरणीयता प्रदान करती है। रचनाकार एक-एक शब्द को तोल-तोलकर पंक्तियों में बैठाता है। इस प्रकार भाव और कल्पना की दीप्ति से ज्योतित वे शब्द नियमित गति में बँधकर एक गतिमय सौन्दर्य प्राप्त करते हैं। शब्द जैसे नर्तन कर रहे हैं। पद्य शब्दों का नर्तन है और गद्य सामान्य गति। गद्य में अर्थ की स्वाभाविकता के लिए व्याकरण के नियमों का पालन होता है, पर पद्य में ये नियम शिथिल हो जाते हैं। एक पुरानी उक्ति है—"अपि माषं मषं कुर्यात् छन्दोभंगं न कारयेत्।" पद्य में अर्थ से भी अधिक महत्त्व छन्द के नियम का रहा है। आधुनिक युग में छन्द के नियमों की पर्याप्त शिथिलता बरती जा रही है। परन्तु इस शिथिलता में भी गति के सूक्ष्म नियम काम करते हैं और इसी कारण सामान्य गद्य से यह कविता अलग है।

पद्य, काव्य, कविता या केवल काव्य के भी भेद किये गये हैं। प्रधान भेद कथानक या क्रमबद्धता के आधार पर तीन हैं—एक प्रबन्ध, दूसरा निबन्ध या निबद्ध और तीसरा अनिबद्ध[2], निर्बन्ध या मुक्तक काव्य।

---

1. कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्या व्याधिनाशनम् ।
आस्वाद्यामृतवत्काव्यमविवेकगदापहम् ॥—*काव्यमीमांसा (राजशेखर)*

2. पद्यमनेकभेदम् ॥ 6 ॥
तदनिबद्धं निबद्धं च ॥ 27 ॥
—*वामनकृत काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, 1 अधिकरण*
व्याख्या (गोपेन्द्रतिप्यभूपालविरचित)
अनिबद्धं मुक्तकं निबद्धं प्रबन्धरूपमिति प्रसिद्धिः।

1. प्रबन्ध काव्य

वह पद्य-रचना है जिसके छन्द कथासूत्र की व्यवस्था से पिरोये रहते हैं, उसके छन्दों के क्रम को बदला नहीं जा सकता।

2. निबन्ध काव्य

वह पद्य-रचना है जिसके अन्तर्गत छन्द किसी विचार-सूत्र या भावधारा से व्यवस्थित रहते हैं। इस रचना में भाव या विचार का विकास क्रमशः दिखलायी देता है, इसी की निबद्धता रहती है।

3. निर्बंध या मुक्तक काव्य

वह पद्य-रचना है जिसके छन्द स्वतः पूर्ण और स्वतन्त्र रहते हैं और किसी भी क्रम से संचालित किये जा सकते हैं। वे क्रम के किसी आन्तरिक नियम से बँधे नहीं होते हैं।

प्रबन्ध काव्य के भेद

प्रबन्ध काव्य में संगठन कथानक के द्वारा किया जाता है। हम देखते हैं कि कहीं-कहीं तो किसी महापुरुष के जीवन की एक झाँकी तथा घटना ही वर्णित करना अभीष्ट होता है और कहीं-कहीं पूर्ण जीवन का व्यापक चित्रण मिलता है। इस दृष्टि से प्रबन्ध काव्य दो रूपों में देखा जा सकता है—एक महाप्रबंध और दूसरा खंड-प्रबंध या खण्डकाव्य।

महाप्रबन्ध

महाप्रबन्ध में पूर्णता के साथ जीवन के विविध अंगों और घटनाओं का विशद, व्यापक और सजीव चित्रण होता है। इसके लिए महाप्रबन्ध के नायक अथवा नायकों का उत्कृष्ट और उदात्त चरित्र का होना आवश्यक है।

महाप्रबन्ध के तीन रूप देखे जा सकते हैं—

1. पुराण, 2. आख्यान, 3. चरित।

1. पुराण काव्य

वह महाप्रबन्ध है जिसके अन्तर्गत विभिन्न अंगों और स्कन्धों में सृष्टि के प्रारम्भ और विकास की युग-युगान्तरव्यापी कथा कही गई हो।[1] उसमें ईश्वर के अवतारों या अवतारी पुरुषों, महात्माओं या ऋषिमुनियों की अनेक कथाएँ ईश्वर के किसी विशिष्ट

1. सर्गश्च प्रतिसंहारः कल्पो मन्वन्तराणि वंशविधिः ।
जगतो यत्र निबद्धं तद् विज्ञेयम्पुराणमिति ॥—*काव्यमीमांसा*
सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं विप्र लक्षणञ्च विदुर्बुधाः ॥—*देवीभागवत*

रूप के ऐश्वर्य के प्रतिपादन के निमित्त वर्णित की गई हों जिनके अन्तर्गत भक्ति की महिमा तथा सज्जनों की विजय और दुर्जनों के पराभव के द्वारा सद्गुणों की समाज में प्रतिष्ठा की गई हो। पुराण अत्यन्त विस्तृत महाप्रबन्ध है। इसमें अनेक स्कन्ध होते हैं और एक-एक स्कन्ध में अनेक अध्याय भी होते हैं। प्रायः पुराण का विकास किसी के प्रश्न के उत्तर में या शंकानिवारण के रूप में विविध आख्यानों के द्वारा होता है और अनेक आख्यान प्रतिपाद्य सिद्धान्त की पुष्टि और दैवी ऐश्वर्य की महत्ता का चित्रण करते हुए व्यवस्थित ढंग से समाप्त होकर कथा की शृङ्खला को आगे बढ़ाते हैं। जो अत्यंत विस्तृत और महत्त्वपूर्ण होते हैं उन्हें महापुराण की संज्ञा दी जाती है—जैसे श्रीमद्भागवत महापुराण में मंगलाचरण से कथा प्रारम्भ होती है और प्रत्येक अध्याय के उपसंहार में प्रसंग का निर्देशन होता है। साथ में पुराण-माहात्म्य का अनुकथन भी रहता है। बीच के वर्णन भी प्रायः वार्तालाप के रूप में होते हैं, परन्तु उनमें किसी वस्तु, भाव, तथ्य या सिद्धान्त का अत्यन्त विशद रूप में विस्तार के साथ प्रतिपादन होता है। पुराण के पात्र प्रायः प्रागैतिहासिक हैं। पात्रों के अलौकिक और आश्चर्यजनक कृत्यों का वर्णन बड़ा ही रोचक और कुतूहलवर्द्धक होता है।

भारतीय साहित्य में अठारह पुराण और अठारह उपपुराण माने गये हैं जिनके नाम ये हैं—

अठारह पुराण—ब्रह्मपुराण, विष्णुपुराण, शिवपुराण, पद्मपुराण, भागवतपुराण, नारदपुराण, मार्कण्डेयपुराण, अग्निपुराण, भविष्यपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, लिंगपुराण, वराहपुराण, स्कंदपुराण, वामनपुराण, कूर्मपुराण, मत्स्यपुराण, गरुडपुराण और ब्रह्मांडपुराण।

अठारह उपपुराण—ये पुराणों के बाद बने माने जाते हैं—सनत्कुमार, नारसिंह, नारदीय, शिव, दुर्वासा, कपिल, मानव, औशनस्, वरुण, कालिका, शांब, नन्दा, सौर, पराशर, आदित्य, माहेश्वर, भार्गव और वाशिष्ठ।

2. आख्यान काव्य

आख्यान वह विस्तृत प्रबन्ध है जिसमें प्रेम, नीति, भक्ति, वीरता आदि के निरूपण के लिए काल्पनिक रोचक कथानक का सरस मधुर शैली में वर्णन होता है। इसके अन्तर्गत भी विभिन्न प्रसंग या खंड हो सकते हैं। आख्यान को प्रामाणिक-सा बनाने के लिए इसमें कतिपय ऐतिहासिक स्थानों और नामों का समावेश भी कर लिया जाता है। इसमें एक प्रधान या प्रमुख कथा और अन्य कुछ गौण कथाएँ संघटित रहती हैं। इसके प्रमुख भेद प्रेमाख्यान, नीत्याख्यान, साहसिक आख्यान आदि हैं। जैसे इन्द्रावती, मृगावती, नलोपाख्यान, ढोला मारूरा दूहा, छिताई वार्ता आदि।

3. चरित काव्य

यह भी एक प्रकार का वर्णनात्मक प्रबन्ध है। इसमें रोचक काव्यमय शैली में किसी व्यक्ति का, विशेषरूप से वीर या महापुरुष का, घटनाक्रम के अनुसार जीवनचरित

लिखा जाता है। इसका एक रूप आत्मचरितात्मक भी हो सकता है। हिन्दी में इस प्रकार के बहुत से काव्य हैं। जैसे—वीरसिंहदेव-चरित, जहाँगीर-जस-चंद्रिका, रतन-बावनी, सुजान-चरित, छत्रप्रकाश। वे परिचयी काव्य भी इसमें आ सकते हैं जिनमें काव्यगत विशेषताएँ विद्यमान हों। आत्मचरितात्मक काव्यों में से बनारसीदास जैन का 'अर्धकथानक' प्रसिद्ध काव्य है।

महाकाव्य

महाकाव्य के स्वरूप और धारणा का बहुत विवेचन हुआ है। पहले यहाँ पर हम विभिन्न विद्वानों के विचारों को देते हैं—

अग्निपुराण में लिखा है[1]—

सर्गबन्धो महाकाव्यमारब्धं संस्कृतेन यत् ॥ 24 ॥
तादात्म्यमजहत्तत्र तत्समं नातिदुष्यति ।
इतिहास कथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम् ॥ 25 ॥
मंत्रद्यूत प्रयाणाजि नियतं नातिविस्तरम् ।
शक्कर्याऽतिजगत्याऽतिशक्कर्या त्रिष्टुभा तथा ॥ 26 ॥
पुष्पिताग्रादिभिर्वक्त्राभिर्जनैश्चारुभिः समैः ।
मुक्ता तु भिन्नवृत्तान्ता नातिसंक्षिप्त सर्गकम् ॥ 27 ॥
अतिशक्करिकाष्टभ्यामेकं संकीर्णकैः परः ।
मात्रयाऽप्यपरः सर्गः प्राशस्त्येषु च पश्चिमः ॥ 28 ॥
कल्पोऽतिनिन्दितस्तस्मिन्विशेषानादरः सताम् ।
नगरार्णवशैलर्तु चन्द्रार्काश्रमपादपैः ॥ 29 ॥
उद्यानसलिलक्रीडा मधुपानरतोत्सवैः ।
दूती बचन-विन्यासैरसती चरिताद्भुतैः ॥ 30 ॥
तपसा मरुताऽप्यन्यैर्विभावैरतिनिर्भरैः ।
सर्ववृत्तिप्रवृत्तं च सर्वभावप्रभावितम् ॥ 31 ॥
सर्वरीतिरसैः स्पृष्टं पुष्टं गुणविभूषणैः ।
अतएव महाकाव्यं तत्कर्ता च महाकविः ॥ 32 ॥
वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम् ।
पृथक् प्रयत्नं निर्वर्त्य वाग्विक्रमणिरसाद्वपुः ॥ 33 ॥
चतुर्वर्गफलं विश्वव्याख्यातं नायकाख्यया ।
समानवृत्ति निर्व्यूढः कैशिकी वृत्तिकोमलः ॥ 34 ॥

उपर्युक्त विवरण से महाकाव्य-सम्बन्धी नीचे लिखी विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं—

---

1. अग्निपुराण, अध्या० 337, काव्यादि लक्षणम्।

1. महाकाव्य सर्गबन्ध रचना है, ये सर्ग विभिन्न वृत्तांतवाले एवं विस्तृत होते हैं।
2. इतिहास-प्रसिद्ध अथवा किसी महात्मा, सज्जन व्यक्ति के वास्तविक जीवन पर आश्रित उसका कथानक होता है।
3. उसमें शक्करी, अतिशक्करी, जगती, अतिजगती, त्रिष्टुप् जातिवाले पुष्पिताग्रादि छन्दों का प्रयोग होता है।
4. उसमें नगर, वन, पर्वत, चन्द्र, सूर्य, आश्रम, वृक्ष, उपवन, जल-क्रीडा, मधुपान-उत्सव आदि का वर्णन होता है। समस्त रीतियों, वृत्तियों और रसों का समावेश होता है।
5. उक्तिवैचित्र्य की प्रधानता होने पर भी उसमें प्राण के रूप में रस ही व्याप्त रहता है।
6. उसमें विश्वविख्यात नायक के नाम से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चतुर्वर्ग की प्राप्ति दिखायी जाती है।
7. महाकाव्य का प्रारम्भ संस्कृत से किया जाता है, उसमें तद्भव और तत्सम प्राकृतों का प्रयोग नहीं होना चाहिए।

उपर्युक्त विवरण से महाकाव्य में आये नायक, कथावस्तु, वर्णन, छन्द, रस आदि की विशेषताओं का स्पष्टीकरण हो जाता है। महाकाव्य का प्रारंम्भ संस्कृत से ही हो, यह विशेषता युग-विशेष की धारणा को अभिव्यक्ति देती है, महाकाव्य की व्यापक विशेषता को स्पष्ट नहीं करती है।

लगभग इन्हीं विशेषताओं को प्रकट करनेवाला आचार्य दंडी के द्वारा दिया हुआ महाकाव्य[1] का लक्षण है—

सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम् ।
आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम् ॥ 14 ॥
इतिहास कथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम् ।
चतुर्वर्गफलोपेतं चतुरोदात्तनायकम् ॥ 15 ॥
नगरार्णव शैलर्तुं चन्द्रार्कोदयवर्णनैः ।
उद्यानसलिलक्रीडा मधुपानरतोत्सवैः ॥ 16 ॥
विप्रलम्भैर्विवाहैश्च कुमारोदयवर्णनैः ।
मंत्रद्यूत प्रयाणाजि नायकाभ्युदयैरपि ॥ 17 ॥
अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभाव निरन्तरम् ।
सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः ॥ 18 ॥
सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरंजकम् ।
काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायते सदलंकृतिः ॥ 19 ॥

1. काव्यादर्श, प्रथम परिच्छेद, 14-19 छन्द।

दंडी के द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त लक्षण में बहुत-सी विशेषताएँ अग्निपुराण के लक्षण की हैं, परन्तु बहुत-सी नवीन और महाकाव्य की अधिक व्यापक धारणा को स्पष्ट करनेवाली विशेषताएँ भी सम्मिलित हो गई हैं। 'अग्निपुराण' के लक्षण के समान विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

1. महाकाव्य सर्गबन्ध रचना है, अनतिविस्तृत सर्गों में कथा का सुसंगठन सन्धि आदि के द्वारा इसमें होता है।
2. कथावृत्त इतिहास अथवा किसी सज्जन के सच्चे (कल्पित नहीं) जीवन पर आश्रित रहता है।
3. इसमें नगर, पर्वत, चन्द्र-सूर्योदय, उपवन, जलक्रीड़ा, मधुपान से युक्त उत्सवों आदि का वर्णन होता है।
4. उदात्त गुणों से युक्त चतुर नायक की चतुर्वर्ग की प्राप्ति का वर्णन इसमें होता है।

दंडी ने अग्निपुराण की छन्द-सम्बन्धी विशेषता का उल्लेख नहीं किया और न वे रस की प्रधानता या प्राणता ही महाकाव्य के लिए स्वीकार करते हैं, साथ ही वे महाकाव्य का आरम्भ संस्कृत से ही हो, यह भी नहीं मानते हैं। छन्दों का बन्धन दंडी ने आवश्यक नहीं माना, क्योंकि विविध वृत्तान्तवाले महाकाव्य में सुविधा और औचित्य के हिसाब से किसी भी छन्द को चुना जा सकता है। वे अलंकार और रीति के अनुयायी थे अत: उन्होंने रस को काव्य का प्राण नहीं माना, फिर भी वे विप्रलंभ और विवाह में संयोग श्रृंगार का वर्णन, आवश्यकता के रूप में स्वीकार करते हैं। नायक के अभ्युदय-वर्णन में वीर, श्रृंगार आदि का समावेश हो ही जाता है और चतुर्वर्ग की प्राप्ति से शांतरस भी आ जाता है। अत: उनके द्वारा इङ्गित किये हुए वर्णनों में स्वत: रसों और भावों की स्थिति प्रकट होती है। वे महाकाव्य को अलंकृत और विस्तृत होने के साथ-साथ रसभाव से सम्पन्न भी मानते हैं। परन्तु उनका विचार है कि कल्पान्तर-स्थायी काव्य सुन्दर अलंकृति के कारण ही बन सकता है। तात्पर्य यह है कि वे काव्य में चरित्र, कथानक आदि के साथ-साथ कवित्व की विशेषता आवश्यक समझते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दंडी का लक्षण अधिक समीचीन है।

साथ ही दंडी ने अपने लक्षण में नीचे लिखी विशेषताएँ अग्निपुराण से अधिक रखी हैं—

1. प्रारम्भ में आशीर्वचन, स्तुति या कथावस्तु का संकेत होना चाहिए।
2. महाकाव्य को विविध वृत्तांतों से युक्त लोकरंजक होना चाहिए।
3. उसमें प्रस्तुत काव्य, युगों और कालों तक अमर होना चाहिए।

उपर्युक्त विशेषताएँ महाकाव्य के उच्च गौरव, उसके सामाजिक मूल्य और व्यापक प्रभाव को स्पष्ट करनेवाली हैं। महाकाव्य में कल्पित वृत्तान्त का निषेध है।[1] दंडी ने

1. सदाश्रयमित्यनेन कल्पितवृत्तान्तस्य महाकाव्ये वर्णनं प्रतिषिद्धम्।

—*काव्यादर्श (तर्कवागीश भट्टाचार्य श्री प्रेमचन्द्र की टीका, पृष्ठ 27)*

नायक के चरित्रोत्कर्ष के लिए और भी उपाय बताये हैं। नायक के गुणों का पहले निरूपण करके फिर अत्याचारी प्रतिनायक के कार्यों का निराकरण करना सबसे सहज मार्ग है। महाकाव्य में शत्रु के भी उच्चवंश, वीर्यबल, विद्या आदि की महानता का वर्णन करना चाहिए, क्योंकि इससे उसके ऊपर विजय प्राप्त करनेवाले नायक का उत्कर्ष स्वतः हो जाता है।[1]

सर्गों की संख्या के सम्बन्ध में थोड़ा-बहुत मतभेद है, जैसे ईशान-संहिता में कहा गया है कि—

अष्टसर्गान्न तु न्यूनंत्रिंशत्सर्गाच्च नाषिकम् ।
महाकाव्यं प्रयोक्तव्यं महापुरुषकीर्तियुक् ॥

'महाकाव्य आठ सर्ग से कम न हो और तीस सर्गों से अधिक न हो और उसके भीतर किसी महापुरुष की कीर्ति का वर्णन होना चाहिए।' अतः प्रमुखतया कथा का एक प्रभावशाली और अच्छा विस्तार और नायक की महत्ता का संकेत लगभग समस्त लक्षणों में किया गया है।

विद्यानाथ ने अपने ग्रन्थ 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' में महाकाव्य-वर्णन प्रसंग के अन्तर्गत दंडी के काव्यादर्श के ही कुछ लक्षण दिये हैं, जैसे—

नगरार्णवशैलर्त्तुचन्द्रार्कोदयवर्णनम्।
उद्यानसलिलक्रीडा मधुपानरतोत्सवाः ॥
विप्रलम्भो विवाहश्च कुमारोदयवर्णनम् ।
मंत्रद्यूत प्रयाणाजि नायकाभ्युदया अपि ॥
एतानि यत्र वर्ण्यन्ते तन्महाकाव्यमुच्यते ।[2]

उपर्युक्त लक्षणों में कोई विकास या नवीनता नहीं है। वरन् इससे अधिक स्पष्ट धारणा तथा अधिक विवरणपूर्ण लक्षण तो हम दंडी के काव्यादर्श में ही पाते हैं।

सुप्रसिद्ध जैन विद्वान् आचार्य हेमचन्द्र ने अपने ग्रंथ काव्यानुशासन में महाकाव्य का अत्यन्त संक्षेप में यह लक्षण दिया है—

पद्यं प्रायः संस्कृतप्राकृतापभ्रंशग्राम्यभाषानिबद्धभिन्नान्त्यवृत्तसर्गाश्वाससंध्य-वस्कंधबंधं सत्संधिशब्दार्थवैचित्र्योपेतं महाकाव्यं।[3]

इस सूत्रबद्ध में छन्द, सर्गबन्धता, संधिसंगठन, अलंकार, उक्तिवैचित्र्य, वर्णन और

---

1. गुणतः प्रागुपन्यस्य नायकं तेन विद्विषाम् ।
निराकरणमित्येष मार्गः प्रकृति सुन्दरः ॥ 21 ॥
वंशवीर्य श्रुतादीनि वर्णयित्वा रिपोरपि ।
तज्जयान्नायकोत्कर्षवर्णनं च धिनोति नः ॥ 22 ॥—*काव्यादर्श, प्रथम परिच्छेद*

2. प्रतापरुद्रयशोभूषण, काव्यप्रकरण, पृष्ठ 96।

3. काव्यानुशासन, अध्याय 8, सूत्र 6।

भावरसादि की विशेषताओं का महाकाव्य में प्राप्त होने का संकेत मिलता है। इसमें धारणा का विकास नहीं, वरन् महाकाव्य की धारणा को लक्षण रूप में सूत्र के अंतर्गत निहित करने का प्रयत्न है। कथा-संगठन में विभिन्न कथाओं के सुन्दर संगठन की बात महत्त्वपूर्ण है। इसके बाद संस्कृत के अन्तर्गत महाकाव्य-सम्बन्धी धारणा का पूर्ण विकास साहित्य-दर्पण[1] में दिये हुए लक्षणों में देखने को मिलता है, जो निम्नांकित हैं—

सर्गबंधो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः ॥ 315 ॥
सद्वंशः क्षत्रियोवापि धीरोदात्तगुणान्वितः ।
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा ॥ 316 ॥
शृङ्गारवीरशांतानामेकोंऽगी रस इष्यते ।
अंगानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसंधय ॥ 317 ॥
इतिहासोद्भवं वृत्तं अन्यद्वा सज्जनाश्रयम् ।
चत्वारः तस्य वर्गास्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत् ॥ 318 ॥
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा ।
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम् ॥ 319 ॥
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः ।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह ॥ 320 ॥
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते ।
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत् ॥ 321 ॥
सन्ध्या सूर्येन्दुरजनी प्रदोषध्वांतवासराः ।
प्रातर्मध्याह्न मृगया शैलर्तु वनसागराः ॥ 322 ॥
संभोगविप्रलम्भौ च मुनिः स्वर्ग पुराध्वराः ।
रणप्रयाणोपायमंत्रपुत्रोदयादयः ॥ 323 ॥
वर्णनीया यथायोग्यं सांगोपांगा अमी इह ।
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा ॥ 324 ॥
नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्वनाम तु ।
अस्मिन्नार्षे पुनः सर्गा भवन्त्याख्यानसंज्ञकाः ॥ 325 ॥
प्राकृतैर्निर्मिते तस्मिन्सर्गा आश्वाससंज्ञकाः ।
छन्दसा स्कन्धकेनैतत्क्वचिद्गलितकैरपि ॥ 326 ॥
अपभ्रंशनिबद्धेऽस्मिन्सर्गा कुण्डवकाभिधाः ।
तथापभ्रंशयोग्यानिच्छदांसि विविधान्यापि ॥ 327 ॥

1. साहित्यदर्पण।

उपर्युक्त विवरण में महाकाव्य के प्रत्येक अंग की स्पष्ट धारणा प्रकट की गई है। इसे हम सात विभागों में व्यवस्थित कर सकते हैं—1. कथावस्तु और उसका संगठन, 2. नायक, 3. रस, 4. छन्द, 5. वर्णन, 6. नाम, 7. उद्देश्य।

1. कथावस्तु

महाकाव्य की कथा विस्तृत और पूर्ण जीवन-गाथा होती है जिसे नाटक की संधियों के नियमानुसार आठ से अधिक सर्गों में संगठित होना चाहिए। कथा का प्रारंभ आशीर्वचन, मंगलाचरण आदि से होना चाहिए और सर्ग के अन्त में आगामी सर्ग की कथा की सूचना होनी चाहिए। महाकाव्य की कथा इतिहास से अथवा किसी महापुरुष सज्जन की वास्तविक जीवन-गाथा के आधार पर होनी चाहिए।

2. नायक

महाकाव्य का नायक कोई देवता, उच्च कुल में उत्पन्न क्षत्रिय अथवा एक वंश में उत्पन्न हुए राजा और अनेक वंशों में उत्पन्न राजा हो सकते हैं, परन्तु उनमें धीरोदात्त[1] गुणों का समावेश होना आवश्यक है। ऐसे व्यक्ति का चरित्र निश्चय ही समाज में सद्‌वृत्तियों का विकास करनेवाला और दुर्वृत्तियों का विनाश करनेवाला होगा।

3. रस

महाकाव्य में सभी रसों का वर्णन आवश्यक है। व्यापक जीवन के विविध वृत्तान्तवाले कथानक में विभिन्न रसों का होना आवश्यक है, परन्तु कथावस्तु और चरित्र में एक निश्चित एवं क्रमबद्ध विकास के लिए श्रृंगार, वीर और शान्त इन तीन रसों में से एक रस का प्रधान होना आवश्यक माना गया है। अन्य रस गौण रूप में आने चाहिए। इस प्रकार एक महाकाव्य में जीवन की विविध सुख-दु:खमयी परिस्थितियों का संघर्षपूर्ण चित्रण अनिवार्य हो जाता है।

4. छन्द

कथा के विकास और रसप्रवाह की अबाध गति के लिए एक सर्ग में एक ही छंद के प्रयोग का नियम है, सर्ग के अन्त में छन्द बदलना चाहिए। हाँ, छन्द-चमत्कार, वैविध्य या अद्‌भुत रस की निष्पत्ति के लिए किसी एक सर्ग में अनेक छन्दों का प्रयोग भी किया जा सकता है।

5. वर्णन

महाकाव्य में विविधता और यथार्थता दोनों ही का होना आवश्यक है अत: इसके भीतर जीवन के सभी दृश्यों, प्रकृति के विभिन्न रूपों और विविध भावों का वर्णन होना चाहिए। महाकाव्य में इस प्रकार के अनेक सांस्कृतिक चित्रण स्थान प्राप्त करते हैं

---

1. अविकत्थन: क्षमावानतिगंभीरो महासत्त्व: ।
स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रत: कथित: ॥

जिनका सामाजिक मूल्य और महत्त्व भी होता है। इतने बड़े महाप्रबन्ध का प्रभाव समाज पर पड़े बिना नहीं रह सकता, अतः वर्णन के भीतर कहीं-कहीं सज्जनों की प्रशंसा और दुर्जनों की निन्दा का भी विधान है जिससे कि समाज के भीतर सद्भावना के विकास की चेतना के संस्कार बनते और गहराते जायँ।

6. नाम

महाकाव्य का नाम कवि, नायक या कथातत्त्व के आधार पर होता है जिससे उसके द्वारा या तो नायक या कवि या मुख्य घटना अथवा प्रतिपाद्य का ज्ञान हो सके। ख्यात वृत्त होने के कारण उसके सम्बन्ध के भाव हमारे भीतर पहले ही से बने होते हैं जो वर्णन के द्वारा जाग्रत हो जाते हैं।

7. उद्देश्य

महाकाव्य का उद्देश्य चतुर्वर्ग—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—की प्राप्ति मानी गई है। इसका विश्लेषण करें, तो हम देख सकते हैं कि नायक या तो किसी परोपकार के कार्य या सिद्धान्त की रक्षा के लिए अपने जीवन को व्यतीत करता है, या विजय द्वारा किसी समृद्धि को प्राप्त करता है अथवा अपना अभीष्ट किन्तु दुर्लभ कार्य सिद्ध करता है, या मोक्ष, परमधाम, लोक में सर्वप्रियता, अलौकिक शक्ति आदि पाता है। इन उद्देश्यों की सिद्धि के लिए संघर्ष, साधना, चरित्र-विकास, उच्च गुण आवश्यक हैं। इनका चित्रण विभिन्न परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में किया जाता है। अतएव महाकाव्य एक युगप्रवर्तनकारी संघर्ष-चित्रण या सांस्कृतिक उद्घाटन का महान् कार्य करता है या एक लोकप्रिय, महान् व्यक्तित्व का चित्रण करता है। इस प्रकार की महानता के बिना महाकाव्य में उपर्युक्त समस्त विशेषताएँ नहीं आ सकती हैं।

उपर्युक्त विशेषताओं को लेकर लिखा गया महाकाव्य वास्तव में विश्वविख्यात रचना होने का गौरव रखता है।

महाकाव्य सम्बन्धी पाश्चात्य धारणा

अब हम काव्य के इस भेद के सम्बन्ध में पाश्चात्य धारणाओं का विश्लेषण करेंगे। पाश्चात्य साहित्य में महाकाव्य का समानार्थी लगभग उसकी धारणा को स्पष्ट करनेवाला शब्द है एपिक (Epic)। एपिक के समस्त विकास को देखने से महाकाव्य की बहुत-सी विशेषताएँ उसमें प्राप्त होती हैं। अरिस्टॉटिल के मत से[1] ट्रैजेडी (दुःखान्त नाटक) और एपिक (महाकाव्य) में बहुत-कुछ साम्य है। दोनों में ही महत्त्वपूर्ण विषय का ओज और प्रभावपूर्ण छन्दों में प्रतिपादन किया जाता है, पर दोनों के विस्तार और तत्त्वों में अन्तर भी है। अरिस्टॉटिल के विचार से काव्य, छन्दोबद्ध भाषा में जीवन का अनुकरण करता है या वर्णन करता है। नाटक के समान कार्य उसमें नहीं रहता। फिर भी कथा का संगठन उसमें नाटक के समान ही रहता है। अरिस्टॉटिल के विचार से उसके

1. Aristotle : The Art of Poetry, translated by Bywater, पृष्ठ 34।

भीतर पूर्णता और गठन, प्रारम्भ, मध्य और अन्त होना आवश्यक है जिससे एक जीवधारी के अंग-संगठन के समान उसमें पूर्ण रचना का आभास मिल सके।[1] एपिक की कथा या तो चरित्र-प्रधान है या व्यथापूर्ण साधन या प्रयत्न के वर्णन से युक्त। महाकाव्य की कथा विस्तृत होती है और छन्दोबद्ध रूप में वर्णित होती है[2], जिसमें प्रधानतया ओजपूर्ण वीर छन्द (Heroic Metre) का प्रयोग होता है। महाकाव्य में विचित्र और अलौकिक घटनाओं का भी वर्णन होता है जो नाटक में नहीं दिखायी जा सकतीं। अरिस्टॉटिल के विचार से अलौकिक और विचित्र घटनाओं में विश्वसनीयता का गुण आवश्यक है। भाषा (Diction) और विचारधारा (Thoughts) की भी उपयुक्तता, उदात्तता और पूर्णता होनी चाहिए। अरिस्टॉटिल में कलात्मक संगठन, कार्य और प्रभाव की दृष्टि से ट्रैजेडी (दु:खान्त नाटक) को एपिक (महाकाव्य) से बढ़कर माना गया है, परन्तु महाकाव्य इस बात में नाटक से बढ़कर है कि वह एक शिष्ट और संस्कृत समाज के लिए लिखा जाता है, जो अपनी कल्पना और अर्थबोध की शक्ति का प्रयोग कर सकते हैं। इस दृष्टि से महाकाव्य अधिक उत्तम और कलात्मक रचना है।

अरिस्टॉटिल के विचार से कथावस्तु का संगठन, चरित्र-चित्रण, भाषा और छंद का सुष्ठ, सुन्दर और ओजपूर्ण प्रयोग, तथा उदात्त विचारधारा, महाकाव्य के आवश्यक तत्त्व हैं। उच्च चरित्र का चित्रण, विश्वसनीय किन्तु महान् और आश्चर्यकारी घटनाओं का वर्णन, सत्य के शाश्वत रूप का उद्‌घाटन और कथानक का व्यवस्थित एवं सुसंगठित विकास महाकाव्य के लिए आवश्यक हैं।[3] अरिस्टॉटिल का दृष्टिकोण कलात्मक होते हुए भी यथार्थवादी है। वह सम्भव यथार्थ मानवता को ही एक पूर्ण रूप देने का पक्षपाती है, असम्भव दैवी चरित्रों की सृष्टि का नहीं।

16वीं शताब्दी के प्रारम्भ में महाकाव्य की धारणा के सम्बन्ध में फिर चर्चा चली और इटली के कई विचारकों की धारणाएँ हमारे सामने आती हैं। विडा (Vida) ने महाकाव्य को काव्यकला का सर्वोच्च रूप माना जो अरिस्टॉटिल की धारणा से कुछ भिन्न है, क्योंकि वह ट्रैजेडी को सर्वोच्च स्थान देता है। रोमन महाकवि 'होरेस' की धारणा के अनुसार 'डैनियेलो' (Daniello—1535) ने महाकाव्य को राजाओं और नेताओं के उच्च चरित्रों के अनुकरण रूप में स्वीकार किया है। ट्रिसिनो (Trissino—1563) ने महाकाव्य को अन्य वर्णनात्मक काव्यों से इस बात में भिन्न माना है कि इसमें कार्य सुसंगठित और एकान्वित रहता है। सोलहवीं शताब्दी के मध्य में हमें इटैलियन लेखक 'जिराल्डी शिंटो' (Giraldi Cinto—1554) के महाकाव्य के सम्बन्ध में विस्तृत विचार प्राप्त होते हैं। उसने महाकाव्य (Epic Poetry) को प्रख्यात चरित्रों की अनुकृति माना है और उसके तीन भेद किये हैं—1. एक व्यक्ति के एक चरित्र की अनुकृति, 2. एक व्यक्ति के अनेक चरित्रों की अनुकृति,

---

1. वही, पृष्ठ 79।
2. वही, पृष्ठ 79।
3. Irene T. Myers : A Study in Epic Development, पृष्ठ 9, 11।

3. अनेक व्यक्तियों के अनेक चरित्रों की अनुकृति। इस प्रकार जैसा जिस महाकवि का उद्देश्य होता है उसी के अनुसार वह चरित्र व घटनाओं का चयन करता है।[1] तीसरे प्रकार के महाकाव्य में घटनाओं का वह विवरण प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है जो प्रथम में। भारतीय महाकाव्यों में भी यह देखा जाता है। कालिदास के रघुवंश में राम के चरित्र का उतना विस्तार नहीं जितना तुलसीदास के रामचरित मानस में है।

कैसेल वेत्रो (Castal Vatro—1570) ने महाकाव्य के भेद दूसरे ही प्रकार से किये हैं और उनके मत से ऐतिहासिक क्रम से विभिन्नता आवश्यक नहीं, वरन् वांछनीय है। इस प्रकार महाकाव्य के दो भेद हैं—1. चरित्र महाकाव्य (Biographical Epic), 2. आख्यान (काल्पनिक) महाकाव्य (Romantic Epic)।

टारक्वैटो टैसो (Torquato Tasso) के मतानुसार महाकाव्य का संगठन एक जीवधारी के अंग-संगठन के समान होना चाहिए जैसा कि अरिस्टॉटिल का भी विचार है। आश्चर्यकारी काल्पनिक वृत्तान्तों का समावेश महाकाव्य में रमणीयता को बढ़ानेवाला होता है। महाकाव्य में सामयिक घटनाओं का वर्णन उचित नहीं होता और न ऐसी प्राचीन घटनाओं का वर्णन हो, जिसके अन्तर्गत अत्यन्त विचित्र और अविश्वसनीय घटनाएँ हों। उसमें किसी रूप में ऐतिहासिकता का समावेश अवश्य होना चाहिए। ऐतिहासिक घटना के आने से वह सत्य प्रतीत होती है। टैसो दैवी और अद्भुत घटनाओं एवं वृत्तान्तों के रखने का इसलिए पक्षपाती है, क्योंकि उनसे महाकाव्य में वैचित्र्य और आश्चर्य भाव का समावेश होता है और उसकी रोचकता बढ़ जाती है। कवि कल्पनापूर्ण स्वच्छन्दता के साथ कार्य कर सके, ऐसा ही कथानक महाकाव्य के लिए आवश्यक है।

टैसो ने दुःखान्तकी (Tragedy) के समान महाकाव्य में करुणा (Pity) और भय (Fear) के भावों को प्रमुखतया आवश्यक नहीं माना। इस प्रकार महाकाव्य का नायक उच्च और उदात्त गुणों एवं सद्भावनाओं से युक्त होना चाहिए, जबकि दुःखान्तकी के नायक के लिए यह आवश्यक नहीं।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि अरिस्टॉटिल के महाकाव्य के सम्बन्ध में बीजरूप धारणा का धीरे-धीरे विकास हुआ और महाकाव्य की विशेषताओं और गौरव की प्रतिष्ठा हुई।

फ्रांसीसी और अंग्रेजी साहित्य में महाकाव्य के सिद्धान्त पर अधिक महत्त्वपूर्ण बातें प्राप्त नहीं होतीं। सामान्य उक्तियाँ ही अधिकतर मिलती हैं। 'ब्वायलू' के विचार से महाकाव्य के नायक की विशेषता उसके साहस और सद्‌गुणों में निहित होती है। सिडनी ने इसे काव्य का सर्वोत्कृष्ट रूप माना है।

'एबरक्राम्बे' के विचार से एपिक (Epic) के दो भेद हैं[3]—

1. वही, पृष्ठ 18।
2. I.T. Myers : A Study in Epic Development Introduction, पृष्ठ 19।
3. Abercrombie : The Epic, an Essay, पृष्ठ 25।

1. साहित्यिक (Literary), 2. ऐतिहासिक (Authentic)। जो रचना पूर्व-निश्चित रूप में कलात्मक अंग-संगठन के विचार से लिखी जाती है, जिसका उद्देश्य मनोरंजन अधिक हो, जो कल्पना-प्रधान हो, वह साहित्यिक महाकाव्य है। पर जो समय की आवश्यकतावश लिखी जाय, जिसमें कथानक का आधार ऐतिहासिक हो, वह ऐतिहासिक (Authentic) महाकाव्य है। साहित्यिक महाकाव्य में दैवी घटनाओं का अधिक महत्त्व होता है।

सी० एम० बावरा (C. M. Bowra) ने अपने ग्रन्थ From Virgil to Milton में एपिक के यही भेद माने हैं—साहित्यिक और ऐतिहासिक। ऐतिहासिक एपिक में वीरों के आदर्श प्रभुत्व आदि का अत्युक्तिपूर्ण भान होता है, परन्तु साहित्यिक एपिक में सत्य का विवेचन और कलात्मक आनन्द प्रदान करने का उद्देश्य होता है।[1]

जर्मन आलोचक शिलर (Schiller) और महाकवि गेटे (Goethe) में जो पत्र-व्यवहार हुआ था उसमें महाकाव्य के सम्बन्ध की धारणा स्पष्ट होती है। गेटे के विचार से महाकाव्य और नाटक (दु:खान्त) दोनों एक ही प्रकार के नियमों से बँधे हैं विशेषत: संगठन और विकास के नियमों में दोनों में एकता है। दोनों ही भौतिक, नैतिक और काल्पनिक तीनों जगतों का उपयोग करते हैं। अन्तर यह है कि महाकाव्य अतीत के रूप में घटनाओं का वर्णन करता है और नाटककार वर्तमान रूप में। जहाँ पर महाकाव्य का प्रभाव कल्पना के माध्यम से पड़ता है, वहाँ नाटक का प्रभाव नेत्र, कर्ण आदि इन्द्रियों के माध्यम से पड़ता है। शिलर के विचार से नाटक में दर्शक को कल्पना और विचार के स्वच्छन्द विचरण का अवकाश नहीं मिलता, जबकि महाकाव्य में कल्पना और विचार प्रमुखतया कार्य करते हैं। फिर भी नाटक अपने उत्कृष्ट रूप में महाकाव्य की और महाकाव्य नाटक की विशेषताओं को अपनाने का प्रयत्न करते हैं।

वैकरनेजल (Wackernagel) ने अपने ग्रन्थ पोइटिक (Poetic) में दोनों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके यह सिद्ध किया है कि नाटक महाकाव्य और गीतिकाव्य का सम्मिश्रण है। काव्य का क्रमश: विकास उन्होंने इस प्रकार माना है—वर्णनात्मक महाकाव्य (Epical Epic), प्रगीतात्मक महाकाव्य (Lyrical Epic), वर्णनात्मक गीतिकाव्य (Epical Lyric), प्रगीतात्मक गीतिकाव्य (Lyrical Lyric) और नाटक (Drama)। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि एपिक का तात्पर्य निरपेक्ष वर्णन करनेवाले काव्य से है जिसके क्षेत्र से वैयक्तिक भाव अलग कर दिये गये हैं। वर्णनात्मक विशेषता को अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों ने एपिक के रूप में ग्रहण किया है। भेद बताने के लिए हम चाहे इसे सत्य मान लें, पर भारतीय दृष्टि से महाकाव्य में भाव और रस-निरूपण का प्रमुख महत्त्व है और इस विचार को वे सभी पाश्चात्य विद्वान् भी मानते हैं जो इसे काव्य के सर्वोत्कृष्ट रूप में स्वीकार करते हैं अन्यथा यह महाकाव्य न रहकर केवल घटना-प्रधान पद्य रह जाता है जिसे महाकाव्य की संज्ञा नहीं प्रदान की जा सकती, जब तक उसमें कथा-संगठन,

1. C.M. Bowra : From Virgil to Milton, पृष्ठ 16।

चरित्र-चित्रण, भाव और वस्तुवर्णन की कला मुखरित न हुई हो। अतः यह वर्गीकरण क्रम मान्य नहीं हो सकता। आधुनिक कुछ आलोचकों ने महाकाव्य की विशेषता केवल कलात्मकता में ही सीमित कर दी है।[1] परन्तु यह प्राचीन धारणा से भिन्न है; अन्य विशेषताओं के न रहने पर केवल वर्णनात्मकता मात्र से कोई काव्य महाकाव्य (Epic) नहीं कहा जा सकता।[2] पाश्चात्य देशों में प्रबन्धकाव्य का केवल एक भेद एपिक ही प्रचलित होने के कारण यह मत-वैषम्य जान पड़ता है। अन्यथा हम खंड और आख्यान प्रबन्ध ये दो भेद कर दें, तो यह कठिनाई न रहेगी।

प्रसिद्ध विचारक हीगेल (Hegel) ने महाकाव्य की विशेषताओं पर काफी प्रकाश डाला है।

दार्शनिक हीगेल एपिक के कथानक को जीवन के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य के रूप में स्वीकार करता है। एपिक व्यक्तिविशेष का चरित होते हुए भी सार्वभौम व्यापकता रखता है। हीगेल कथानक के विस्तार पर ही केवल जोर नहीं देता, वरन् उसकी घटनाएँ महत्त्वपूर्ण होनी चाहिए, यह भी आवश्यक मानता है। साहित्यदर्पण की धारणा की भाँति 'इतिहासोद्भव' वृत्त होना एपिक के लिए अनिवार्य है। उसकी घटनाओं का ऐतिहासिक तथ्यों से पूर्ण साम्य होना आवश्यक है। हीगेल का विचार है कि ऐतिहासिकता काव्य को महान् बनाती है। एपिक ऐतिहासिक और तटस्थ वर्णन होते हुए भी उनमें कवि का वैयक्तिक दृष्टिकोण रहता है।[3] यह वैयक्तिक और स्वच्छन्द कृति होते हुए भी विश्व के भावों के अनुरूप होता है।

---

1. Epic is a "poetic narrative of memorable things."
—*Rajna : Le Origini dell' Epopea Francese*, पृष्ठ 3।
2. The broadest classification furnishes the only common ground for ancient and modern critics. Epic is a term applied by them all to narrative literature, but beyond this there is disagreement, one thinks that its aim is to delight, another that it is to instruct, and yet another thinks that is unites both functions. As to structure one critic demands unity of action, another insists upon unity of time, place and yet another tells us that no unity other than that of history is necessary. The fundamental distinction of the epic for other species of literature is that upon which they all agree—its narrative form.
—*A Study in Epic Development, Introduction*, पृष्ठ 32।
3. The Epic ought to be positive in the sense that it is this objective presentment of a world based on its own foundations and realised in virtue of its own necessary laws, a world more over with which the personal outlook of the poet must remain in connection that enables him to identify himself wholly with it.
—*Hegel : Philosophy of Fine Arts*, Vol. IV, पृष्ठ 115।

एपिक का नायक, मानवता की भावना से पूर्ण तथा सार्वभौम गुणों से युक्त ऐतिहासिक स्तर पर प्रतिष्ठित व्यक्ति होना चाहिए।[1] नायक का चरित्र-चित्रण, आन्तरिक महान् गुणों के बाह्य एवं प्राकृतिक यथार्थ परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में विकास के रूप में होना चाहिए। आकस्मिक एवं दैवी घटनाएँ जो उसमें विरोध और सहायता उपस्थित करती हैं, स्वाभाविक अंश में होनी चाहिए। इस प्रकार हीगेल की एपिक की धारणा बड़ी उदात्त है। प्रगीत की अपेक्षा एपिक में सार्वभौमता का गुण अधिक होना चाहिए जबकि उसमें राष्ट्रीय या क्षेत्रीय विशेषताओं का प्रतिविम्ब रहता है। लेजले एबरक्राम्बे ने अपने ग्रन्थ 'एपिक' में महाकाव्य की विशेषताओं पर सूक्ष्मता और विस्तार से विचार किया है। उनका विचार है कि महाकाव्य कतिपय वीरगाथाओं को लेकर जोड़ देने से नहीं बन जाता; वरन् वह तो एक क्रमबद्ध विकसित एवं सुसंगठित कथानक होता है। पूर्णतया देखने से हम कह सकते हैं कि महाकाव्य प्राचीन वस्तुओं का पुनर्निर्माण नहीं होता; वरन् प्राचीन वस्तुओं के माध्यम से निर्मित एक नवीन सृष्टि होती है।

महाकवि की कल्पना संयत किन्तु प्रबल होती है। उसके भीतर नवनिर्माण की प्रज्ञा और वस्तुओं की सूक्ष्म विशेषताओं को पहचानने की शक्ति होती है। इसके साथ ही जो सबसे बड़ी विशेषता महाकवि को अन्य कवियों से भिन्न करती है, वह है उसकी शब्दावली का जादू। इन सब विशेषताओं और गुणों के कारण हम कह सकते हैं कि महाकवि अप्रतिम कलाकार होता है।

बहुत-सी ऐसी रचनाएँ हो सकती हैं कि जिनमें महाकाव्य की कुछ विशेषताएँ विद्यमान हों, पर वे महाकाव्य न हों। अत: महाकाव्य अपनी महत्ता में अक्षुण्ण है।

पाश्चात्य विद्वानों के बीच 'आथेण्टिक' और 'लिटेरेरी' नामक काव्यभेदों को लेकर भी काफी विचार-विमर्श हुआ था। वास्तव में आथेण्टिक एपिक **लोक महाकाव्य** या मौखिक महाकाव्य है और 'लिटेरेरी' साहित्यिक, अलंकृत या कलात्मक महाकाव्य। एक में कथानक और चरित्रों के माध्यम से जीवन का उल्लास-विषाद सहज और स्वानुभूत रूप में अभिव्यक्त होता है और दूसरे में वह अध्ययन पर आधारित गूढ़ कल्पना और कला का आश्रय लेकर चलता है। यही दोनों में मुख्य भेद है।

इस प्रकार महाकाव्य-सम्बन्धी पाश्चात्य धारणा का विश्लेषण करने पर हम पाँच मुख्य बातें स्पष्ट कर सकते हैं—1. कथानक, 2. चरित्र-चित्रण, 3. वर्णन, 4. शैली और 5. उद्देश्य।

कथानक

एपिक का कथानक ऐतिहासिक होना चाहिए; पर उसमें कुछ विद्वानों के मतानुसार काल्पनिक घटनाओं का भी समावेश हो सकता है। उसके अन्तर्गत महत्त्वपूर्ण

1. Hero would be the spirit of man, the human who is drawn up and exalted from the clouded levels of conscious existence into the clearer region of the universal history.
—*Hegel : Philosophy of Fine Arts*, Vol. IV, पृष्ठ 136।

घटनाओं का संगठन होना चाहिए। कथानक इतना व्यापक होना चाहिए कि उसमें जीवन के विविध पक्षों का उद्‌घाटन किया जा सके और पाठकों का मन उसमें रम सके।

चरित्र-चित्रण

चरित्र-चित्रण में नायक पर ही विशेष ध्यान दिया गया है। उसे इतिहास का सुविख्यात व्यक्ति होना चाहिए। कुछ लोग उसे सम्राट् या महापुरुष तक ही सीमित रखते हैं। पर इतना अवश्य है कि वह चाहे जो हो, उसमें उच्च गुणों का समावेश हो। वह प्रतिष्ठित परिवार का व्यक्ति हो, यह सभी मानते हैं। नायक के कार्य ऐसे होने चाहिए जिसकी सभी लोग प्रशंसा कर सकें।

वर्णन

पाश्चात्य धारणा के अनुसार एपिक वर्णनप्रधान काव्य है। आख्यान और महाकाव्य दोनों की धारणा इसमें सम्मिलित है। ऐसी दशा में वर्णन-सम्बन्धी विशेषताएँ इसमें आवश्यक हैं। कुछ लोगों के विचार से समस्त घटनाओं का वर्णन अत्यन्त रोचक ढंग से होना चाहिए जिससे जीवन् के दृश्य सजीवता के साथ सामने प्रस्तुत हो सकें। पृष्ठभूमि, घटनाओं, कार्यों और चरित्रों—सबका वर्णन द्वारा ही इसमें उद्‌घाटन होता है।

शैली

कुछ विद्वानों का विचार है कि एपिक में वीर-छन्द (Heroic Metre) का प्रयोग होना चाहिए। परन्तु यह तभी हो सकता है जब हम उसे केवल वीरभाव के वर्णन तक ही सीमित रखें। एपिक में प्रेम, भक्ति, करुणा आदि भावों का भी वर्णन होता है, अतः उसके अनुरूप छन्दों का प्रयोग ही उचित कहा जायेगा। इसलिए शैली विषय और वर्णन के अनुरूप होनी चाहिए।

उद्देश्य

उद्देश्य के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ प्राचीन विद्वान् इसका उद्देश्य नैतिक और धार्मिक मानते हैं; पर अरिस्टॉटिल इसका उद्देश्य सत्य का उद्‌घाटन और आनन्द मानता है। इसमें सन्देह नहीं कि संकीर्ण नैतिकता या धार्मिकता ही इसका उद्देश्य नहीं हो सकता। यह महान् उद्देश्य को व्यापक प्रभाव के साथ प्रस्तुत करता है, अतः महाकाव्य में आनन्द और मनोरंजन स्वतः ही समाविष्ट हो जाते हैं।

यहाँ हम यह देखते हैं कि महाकाव्य की विशेषताओं का विश्लेषण संस्कृत-साहित्य में विशेष विस्तृत और तथ्यपूर्ण है जिसमें उसका अपना निजी स्वरूप विकसित हो पाया है। फिर भी कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने महाकाव्य की धारणा का तथ्यपूर्ण विवेचन किया है जो महाकाव्य के गौरव के अनुकूल है।

चार महान् तत्त्व

महाकाव्य की उपर्युक्त विशेषताएँ अनिवार्य हैं, फिर भी हम इस धारणा के

अन्तर्गत आनेवाले काव्यों का विश्लेषण करने पर देखते हैं कि किन्हीं-किन्हीं कृतियों में एक-दो विशेषताएँ अत्यन्त क्षीण हैं जबकि अन्य एक या अनेक विशेषताएँ अधिक प्रकट हुई हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, कतिपय ग्रन्थों में महाकाव्य की विशेषताएँ हो सकती हैं; परन्तु उनके होने पर भी वह महाकाव्य माना ही जाय, यह आवश्यक नहीं। महाकाव्य में कृति का युगान्तरस्थायी रूप प्रकट होना चाहिए। महाकाव्य-सम्बन्धी समस्त विचारों और भावनाओं का संकलन करने पर हमें लगता है कि 'महाकाव्य' के चार आधारभूत तत्त्व हैं और इन्हीं पर महाकाव्य आधारित होता है। ये तत्त्व हैं—महान् कथानक, महान् चरित्र, महान् सन्देश और महान् शैली। इन सभी महत् तत्त्वों से संगठित होने पर कोई भी काव्य महाकाव्य की संज्ञा प्राप्त करता है।

अनेक महाकाव्यों को समक्ष रखकर हम देखते हैं कि किन्हीं-किन्हीं में एकाध विशेषता क्षीण है, फिर भी अन्य विशेषताएँ उनमें विद्यमान हैं। इन तत्त्वों में भी किसी महाकाव्य में कोई तत्त्व सर्वोत्कृष्ट रूप में होता है और किसी में कोई तत्त्व। अतः इस सर्वोत्कृष्ट तत्त्व के आधार पर हम महाकाव्यों को चार वर्गों में रख सकते हैं। ये निम्नांकित हैं—

1. कथाप्रधान

जिन महाकाव्यों में अन्य विशेषताओं और तत्त्वों के होते हुए, उपर्युक्त तत्त्वों में से सर्वाधिक उत्कृष्ट रूप में कथानक का विन्यास हो, जिसके अन्तर्गत महत्त्वपूर्ण घटनाओं का रोचक एवं रमणीय वर्णन हो और कवि का उद्देश्य भी कथा या घटना के वर्णन का हो, वे महाकाव्य कथाप्रधान कहे जा सकते हैं। अन्य तत्त्व भी इसमें महाकाव्योचित रूप में रहने आवश्यक हैं। जैसे—महाभारत, पृथ्वीराजरासो आदि।

2. चरित्रप्रधान

जिन महाकाव्यों में अन्य महाकाव्योचित तत्त्वों और विशेषताओं का समावेश होते हुए भी सर्वाधिक उत्कृष्टता चरित्र-चित्रण की हो और किसी महान् व्यक्ति के चरित्र का मार्मिक विश्लेषण उसमें मिलता हो, वे चरित्रप्रधान महाकाव्य हैं। जैसे—रामायण, रघुवंश, नैषधचरित, रामचरित मानस, साकेत आदि।

3. भावप्रधान

भावप्रधान महाकाव्यों में अन्य महान् विशेषताओं के होते हुए भी सर्वोत्कृष्ट रूप भाव या वैचारिक सन्देश का रहता है। ऐसे काव्यों को पढ़कर हम कथानक या चरित्र से चाहे अधिक प्रभावित न हों, परन्तु हम भावातिरेक प्राप्त करते हैं और हमें जीवन-दर्शन और कर्त्तव्य-प्रेरणा के लिए उन्मेष मिलता है। हमारा ज्ञान और अनुभव समृद्ध होता है। इस प्रकार के काव्यों में हम सूरसागर और कामायनी जैसे ग्रन्थों को रख सकते हैं।

4. अलंकृतिप्रधान

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, महाकाव्य की शैली भी उसका महान् तत्त्व है।

ऐसी दशा में अन्य महाकाव्योचित विशेषताओं के होते हुए भी जिसमें सर्वोत्कृष्ट प्रभाव डालनेवाला तत्त्व उसकी शैली या उसकी अभिव्यंजनापद्धति हो, उसे हम अलंकृति-प्रधान महाकाव्य कह सकते हैं। इस प्रकार के काव्यों में उल्लेखनीय हैं—किरातार्जुनीय, शिशुपालवध, रामचन्द्रिका आदि। इसमें प्रतीकात्मक एवं रूपकोक्तिगर्भ काव्य भी लिये जा सकते हैं, यदि उसमें महाकाव्योचित गौरववाले अन्य तत्त्व विद्यमान हों।

खण्डकाव्य

प्रबन्धकाव्य का दूसरा भेद **खण्डकाव्य या खण्डप्रबन्ध** है। खण्डकाव्य के लक्षणों पर अधिक विस्तार से विचार नहीं किया गया है, परन्तु इसमें प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें कथावस्तु सम्पूर्ण न होकर उसका एक अंश ही होता है। प्राय: जीवन की एक महत्त्वपूर्ण घटना या दृश्य का मार्मिक उद्‌घाटन होता है और अन्य प्रसंग संक्षेप में रहते हैं। साहित्यदर्पण में इसकी परिभाषा इस प्रकार मिलती है—

भाषा-विभाषानियमात्काव्यं सर्ग समुज्झितम् ।
एकार्थप्रवणैः पद्यैः संधिसामग्रचवर्जितम् ॥ 328 ॥
खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च ।

काव्य के एक देश, एक अंश का अनुसरण करनेवाला खण्डकाव्य है। जिसके उदाहरण में मेघदूत आता है। इसमें कथा-संगठन आवश्यक है, सर्गबद्धता नहीं। इसमें भी वस्तु-वर्णन, भाव-वर्णन एवं चरित्र का चित्रण किया जाता है, पर कथा विस्तृत नहीं होती। जैसे पार्वती-मंगल, जयद्रथ-वध, पंचवटी आदि।

खण्डकाव्य के दो भेद किये जा सकते हैं—एक संघात[1] अथवा एकार्थ खण्डकाव्य, जिसमें कि एक प्रकार के छन्द में ही एक घटना या दृश्य का वर्णन किया जा सकता है तथा दूसरा अनेकार्थ खण्डकाव्य, जिसमें अनेक प्रकार के छन्दों में विविध भावों के साथ जीवन के एक अंश का चित्रण होता है। महाकाव्य के समान इसका विस्तार नहीं होता है, जैसे—यशोधरा।

अनिबद्ध, निर्बन्ध या मुक्तक-काव्य

निर्बन्ध काव्य वह है जिसके अन्तर्गत रचना के विभिन्न छन्दों में किसी प्रकार की विचारधारा या कथा-धारा अथवा शृंखला न पायी जाय और प्रत्येक छन्द स्वत:पूर्ण और निरपेक्ष हो। इस काव्य को सामान्यतया मुक्तक नाम से भी अभिव्यक्त किया गया है।

---

1. एक प्रघट्टके एक कविकृत सूक्तिसमुदायो वृन्दावनमेघदूतादि: संघात:।
—*काव्यानुशासन, 8, 13 सू० की वृत्ति*

तथा—यत्र कविरेकमर्थम् वृत्तेनैकेन वर्णयति काव्ये ।
संघातः स निगदितो वृन्दावनमेघदूतादिः ॥
—*काव्यादर्श, 1, 13वें सूत्र की टीका, प्रेमचन्द्र तर्कवागीशकृत*

परन्तु इस प्रकार के प्रबन्धहीन अनिबद्ध[1] काव्य के अनेक भेद देखे जा सकते हैं, जिनमें ये प्रसिद्ध हैं—

मुक्तक, युग्मक, सन्दानितक, कलापक, कुलक और करहाटक।

मुक्तक—एक छन्द में पूर्ण अर्थ और चमत्कार प्रकट करनेवाला अनिबद्ध काव्य मुक्तक कहलाता है।[2]

युग्मक—दो छंदों में पूर्ण अर्थ को देनेवाला **युग्मक**, और तीन में देनेवाला **सन्दानितक** कहलाता है। चार छन्दों में अर्थ को प्रकट करनेवाला **कलापक**, पाँच में **कुलक** और छः में पूरा करनेवाला **करहाटक** कहलाता है।

द्वाभ्यान्तु युग्मकं सन्दानितकं त्रिभिरिष्यते ।
कलापकं चतुर्भिश्च पंचभिः कुलकं मतम्[3] ॥

परन्तु कुछ लोगों का नाम में मतभेद है। हेमचन्द्र ने दो छन्दोंवाले अनिबद्ध काव्य को संदानितक और तीनवाले को विशेषक की संज्ञा दी है जबकि कुछ लोगों का मत है कि तीन छन्दोंवाले काव्य को गुणवती, चार के समूह को प्रभद्रक, पाँच के समूह को बाणावली और छः को करहाटक कहा जाता है।[4]

हिन्दी काव्य के अन्तर्गत सतसई, शतक, पचासा, पचीसी, दशक, अष्टक, पंचक आदि के रूप में मुक्तक देखे जाते हैं, पर उनका प्रत्येक छन्द मुक्तक ही माना जा सकता है, अन्य भेद प्रचलित नहीं हुए। इनमें कथा या विचार की शृंखला विस्तीर्ण न होने के कारण इन्हें महत्त्व नहीं मिला।

निबद्ध या निबन्ध-काव्य

हिन्दी काव्य के क्षेत्र में निबद्ध या निबन्ध-काव्य का विकास देखने को मिलता है। इन्हें प्रबन्ध-काव्य नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि इनमें कथानक का विकास महत्त्व नहीं रखता, इनमें प्रायः विचारधारा या भावधारा प्रधान है। ये या तो पत्र के रूप में हैं या अनेक छन्दों में क्रमशः विचारशृंखला को प्रकट करनेवाले हैं। ऐसे काव्यों की संज्ञा निबद्ध या निबन्ध-काव्य ही हो सकती है। इस कोटि में गोस्वामी तुलसीदास की 'विनयपत्रिका', प्रसाद की 'प्रलय की छाया', शेरसिंह का 'शस्त्र-समर्पण', निराला का 'शिवाजी को पत्र' आदि आते हैं।

---

1. अनिबद्धं मुक्तादिः ॥ 20 ॥
एकद्वित्रिचतुश्छन्दोभिर्मुक्तकसंदानितक विशेषक कलापकानि ॥ 11 ॥
—*काव्यानुशासन*, 8 परि०
2. मुक्तकः श्लोकएवैकश्चमत्कारक्षमः सताम् ॥ 39 ॥—*अग्निपुराण, अध्याय* 337
3. साहित्यदर्पण, 6, 314
4. त्रिभिर्गुणवती प्रोक्ता चतुर्भिस्तु प्रभद्रकम् ।
बाणावली पंचभिः स्यात् षड्भिस्तु करहाटकः ॥
—*काव्यादर्श की तर्कवागीश की टीका*, 1, 13

पाठ्य और गेय काव्य

पद्य-काव्य के भीतर छन्द अनिवार्य है। परन्तु इसमें कुछ संगीत के आधार पर गाये जा सकते हैं और कुछ केवल पढ़े जा सकते हैं। इस दृष्टि से अनिबद्ध-काव्य के दो भेद हो सकते हैं—1. पाठ्य और 2. गेय। ऊपर लिखित अनिबद्ध-काव्य के भेद (कुछ प्रतिवादों को छोड़कर, जैसे विनयपत्रिका) प्राय: पाठ्य-काव्य के ही अन्तर्गत देखे जाते हैं। यहाँ हम गेय-काव्य के भेद-प्रभेदों पर विचार करेंगे। इस प्रकार के भेद प्राचीन काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में नहीं मिलते, ये आधुनिक दृष्टि से ही किये जा सकते हैं। गेय-काव्य के दो भेद लिखे जाते हैं—1. कलागीत और 2. लोकगीत।

कलागीत—अलंकृत, साहित्यिक शैली पर लिखे गीत हैं; इनमें भावों या विचारों की सजावट का ध्यान रहता है।

लोकगीत—सहज, स्वाभाविक ढंग से निकले हुए लोकोद्‌गार, जो हमारे सामाजिक जीवन के विविध संस्कारों और क्रिया-कलापों, उत्सवों, त्यौहारों, ऋतुओं आदि के अवसर पर गाये जाते हैं, लोकगीत हैं। इनके लेखक सुशिक्षित, साहित्यिक या कलाकार नहीं, वरन् अज्ञात कवि हैं जिनमें कुछ के ही नाम हम जानते हैं। हमारे सहज संस्कारों और अनुभूतियों को ये स्पर्श करने की शक्ति रखते हैं और इनमें संस्कृति, उल्लास, आशाएँ, विषाद, खीझ, जीवन की निराशा, करुणा आदि व्यक्त रहती हैं। ये काव्य के सहज और प्रकृत रूप हैं।

इनमें से प्रत्येक के दो भेद किये जा सकते हैं—भावप्रधान (गीति) और वर्णनप्रधान (गान)। वर्णनप्रधान गीतों में किसी वस्तु, तथ्य या घटना का वर्णन गीत रूप में होता है, जैसे—आल्हा।

भावप्रधान गीति (Lyrics) गीतिकाव्य कहलाते हैं और आधुनिक साहित्य में इस रूप ने विशेष विकास प्राप्त किया है। इस काव्य की विशेषताएँ नीचे दी जाती हैं—

1. गीतिकाव्य, गाये जाने योग्य होना चाहिए।
2. इसमें स्वानुभूति का प्रकाशन होना चाहिए।
3. इसमें सुकुमार भावों की घनीभूत तीव्र अभिव्यक्ति होनी चाहिए।
4. एक पद में एक ही भाव की विवृति होनी चाहिए।

गीतिकाव्य अनुभूति-प्रधान काव्य है। इसमें सामान्य वर्णन किसी घटना, तथ्य या भाव का न होकर, कवि की अनुभूति के माध्यम से प्रकट होता है, अत: उसका तीव्र प्रभाव पड़ता है। इसके अन्तर्गत कवि की आत्मा और भावनाएँ झाँकती हैं। अत: स्वानुभूति गीतिकाव्य का प्रधान तथ्य है। अनुभूति की तीव्रता में कवि के उद्‌गार सहज प्रवाहित हो उठते हैं। यहाँ भाव का हम बार-बार अनुभव करना चाहते हैं। स्वर की संक्षिप्ति और विस्तृति अनुभूति को सजग करती है, कोमलता मधुर लगती है, अत: स्वानुभूति गीत के माध्यम से ही सर्वोत्तम अभिव्यक्ति पाती है। काव्य का यह सहज, नैसर्गिक और मनोरम रूप होने के कारण प्रसिद्ध विचारक हीगेल ने इसे काव्य का प्रकृत रूप माना है। इस प्रकार गीति-भावना कविता की सारवस्तु है।

नागर एवं पुस्तकबद्ध काव्य के अतिरिक्त मौखिक परम्परा में प्रचलित लोककाव्य है। लोककाव्य या लोकसाहित्य के रचयिता अज्ञात हैं। युगीन और स्थानीय प्रतिभाएँ उसमें वृद्धि करती जाती हैं और इस प्रकार लोककाव्य परिष्कृत और संवृद्ध होता रहता है। लोककाव्य प्रधानतया लोकगीतों, लोककथाओं, लोकोक्तियों, कहावतों और मुहावरों के रूप में पाया जाता है। इनमें प्रथम दो का प्रभावपूर्ण स्थान है। लोककथाएँ अपनी रोचकता के कारण प्रसिद्ध हैं और लोकगीत अपनी भावुक मर्मस्पर्शिता के कारण। लोकगीत हमारी सांस्कृतिक धरोहर है। लोकगीतों के असंख्य रूप हमारे गाँवों में प्रचलित हैं। इनमें प्रमुख भेद निम्नांकित हैं—

1. संस्कार-गीत, 2. उत्सव-त्यौहार-गीत, 3. ऋतु-गीत, 4. धार्मिक-गीत, 5. दिनचर्या-गीत और 6. विविध।

इन गीतों में उल्लास-विषाद, आशा-निराशा, विवशता-आकांक्षा, चिंता-मस्ती आदि भावनाओं को व्यक्त करनेवाले सहज उद्‌गार हैं। इनमें हमारी संस्कृति, सामाजिक दशा, सामाजिक इतिहास तथा जीवन के सजीव चित्र मुग्धकारी रूप में प्रस्तुत किये गये हैं।

गद्य-काव्य के भेद

कहते हैं कि आधुनिक युग गद्य का युग है। इस कथन में दो भावनाएँ छिपी हुई हैं— एक तो यह कि आज हम जितना विस्तार और व्यापकत्व गद्य का देखते हैं उतना पद्य का नहीं और दूसरी यह भावना भी छिपी है कि आज के साहित्य में हमारे मन और हृदय को पूर्णतया तन्मय कर देनेवाली विशेषताएँ नहीं हैं जैसी कि हम पूर्ववर्ती युगों में देखते हैं। प्राचीन आचार्यों ने काव्य के लक्षण देते हुए गद्य और पद्य दोनों ही काव्यों का लक्षण एक ही दिया है। 'शब्दार्थौ सहितं काव्यम्'; 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'; 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'; 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' आदि में गद्य-पद्य काव्य के लक्षण विद्यमान हैं। दोनों में प्रमुख अन्तर छन्दोबद्धता और व्याकरण-नियमबद्धता का है। इसलिए हमें पद्य में भी स्मृति, शास्त्र, नीति के ग्रन्थ मिलते हैं जिन्हें हम काव्य नहीं कहते और गद्य में भी कादम्बरी, हर्षचरित, दशकुमार-चरित आदि काव्य हैं।

गद्य-काव्य का महत्त्व कम नहीं। प्राचीन उक्ति है—'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति'। गद्य कवियों की कसौटी है। इस धारणा का कारण यही जान पड़ता है कि कविता की अपेक्षा गद्य-काव्य में दोष अधिक प्रत्यक्ष हो जाते हैं। कविता में छन्द की गति में कल्पना, अनुभूति, उक्ति-वैचित्र्य आदि की अद्भुत सघनता रहती है और दो-एक चमकते हुए शब्द या उक्तियाँ सारे छन्द को जगमगा देती हैं, पर गद्य के लिए सर्वांगसुन्दर होना आवश्यक है।

अस्तु, गद्य-काव्य का विस्तार प्रधानतया आधुनिक युग में ही हुआ है। प्राचीन काल में काव्य के इस रूप पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया, अतएव इसकी मीमांसा उतने विस्तार के साथ प्राप्त नहीं होती जितनी पद्य-काव्य की। आज हम उसका प्रचुर विस्तार देखते हैं। गद्य-काव्य का भेदक लक्षण अछन्दोबद्धता है। साहित्यदर्पण में उल्लेख

है—'वृत्तबन्धोज्झितं गद्यं', जो छन्दों में न बँधा हो वह गद्य है। अग्निपुराण का कथन है—'अपाद: पदसन्तानो गद्यं तदपि कथ्यते' छन्द-रहित पद का विस्तार गद्य है। इन प्रयत्नों में गद्य के प्रधान स्वरूप का विश्लेषण है, पर गद्य-काव्य का लक्षण नहीं। हम कह सकते हैं कि **किसी कथानक, चरित्र या विचार की, कल्पना और अनुभूति के माध्यम से गद्य में सरस, रोचक और रमणीय अभिव्यक्ति गद्य-काव्य है। यह छन्दमुक्त व्याकरणसम्मत रमणीय वाक्य-रचना है।** प्राचीन ग्रन्थों में गद्य-काव्य के मुक्तक, उत्कलिका, चूर्णक और वृत्तिगन्धि, ये चार भेद मिलते हैं जिनका उल्लेख अग्निपुराण, काव्यादर्श, काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थों में हुआ है। इन्हें गद्य शैली के भेद मानना चाहिए। इनमें समासरहित **मुक्तक**, दीर्घ समासयुक्त **उत्कलिका**, अल्पसमासयुक्त **चूर्णक** और पद्य का आभास देनेवाला **वृत्तगन्धि** है। वृत्तगन्धि पूर्ववर्ती तीनों में से कोई भी हो सकता है, अत: इसका अलग भेद मानना ठीक नहीं, ये भेद समास के आधार पर हैं। ऐसे ही हम संगठन-सूत्र के आधार पर गद्य-काव्य के तीन प्रधान भेद कर सकते हैं—

1. गद्य-प्रबन्ध,
2. अनिबद्ध, मुक्त-गद्य या निर्बन्ध और
3. निबन्ध।

गद्य-प्रबन्ध में किसी कथानक का सुसंगठित विकास रहता है। इसे ही हम सामान्यतया कथासाहित्य या उपन्यास-कहानी-साहित्य कहते हैं।

निबन्ध में कथा के न होते हुए भी विचारशृङ्खला, भावधारा या विवरणक्रम की निबद्धता रहती है। प्राय: वह गद्य-रचना जिसमें किसी विषय का **शृंखलित विवेचन अथवा वैयक्तिक भाव या विचार-धारा का क्रमबद्ध रोचक प्रकाशन प्रस्तुत किया जाता है, निबन्ध कहलाता है।**

अनिबद्ध गद्य-काव्य किसी प्रकार के कथानक या विचारक्रम की बद्धता से रहित मुक्त गद्यकाव्य है, जैसे सूक्तिसंग्रह, भाव-गद्य (भाव-मुक्तक) आदि।

गद्य-प्रबन्ध के भेद

गद्य-प्रबन्ध या कथा-काव्य के भेदों पर प्राचीन आचार्यों के अधिक गवेषणापूर्ण विचार उपलब्ध नहीं होते, फिर भी आधुनिक कथासाहित्य के बीज उसमें मिल जाते हैं, इसमें संदेह नहीं। अग्निपुराण में गद्य-प्रबन्ध के पाँच भेद उल्लिखित हैं—कथा, खण्ड-कथा, परिकथा, आख्यायिका और कथानिका।[1]

कथा के अन्तर्गत कथाकार श्लोकों में संक्षेप में अपने वंश का वर्णन करता है। प्रमुख उद्देश्य की सिद्धि के लिए अन्य कथानक आ सकते हैं। पर इसमें परिच्छेद नहीं होते। मुख्य सूत्र को चलने और अन्त में कथा को समेटनेवाला लम्बक होता है।

1. अग्निपुराण, अध्याय 337।

खण्डकथा—जिस कथा में बीच में चतुष्पदी श्लोकों का प्रयोग हो, नायक राजमन्त्री, व्यापारी या ब्राह्मण हो, करुण रस या चारों प्रकार के विप्रलंभ शृंगार का वर्णन हो, वह खण्डकथा है।

परिकथा—इसके लक्षण भी खण्डकथा के समान हैं। परिकथा की विशेषता यह है कि उसमें कथा और आख्यायिका दोनों ही विशेषताओं का सम्मिश्रण रहता है। खण्डकथा और परिकथा में कथानक समाप्त न होकर कथा के पीछे चलता है।

आख्यायिका—इसमें विस्तारपूर्वक गद्य में कर्त्ता के वंश की प्रशंसा की जाती है। इसमें कन्याहरण, संग्राम, वियोग, विपत्ति आदि का वर्णन होता है। रीति, स्वभाव, प्रवृत्ति आदि का विशेष रूप से प्रकाशन होता है। इसका परिच्छेद उच्छ्वास कहलाता है। इसमें चूर्णक (अल्पसमासवाले सरल गद्य) और कहीं-कहीं पद्य का भी प्रयोग होता है।

कथानिका आदि में भयानक रस होता है, मध्य में करुण रस और अन्त में अद्भुत रस। इसकी प्रकृति उदात्त नहीं होती, वरन् संकीर्ण होती है।

उपर्युक्त लक्षण स्पष्ट नहीं हैं और इनसे गद्य-प्रबन्ध के भेदों की स्पष्ट और अलग-अलग धारणा नहीं बँध पाती। कथानिका की विशेषताएँ लक्षणों द्वारा कथा और आख्यायिका में निषिद्ध नहीं हैं। खण्डकथा और परिकथा अपूर्ण कथाएँ-सी ही हैं। मुख्य दो ही भेद प्रकट होते हैं—कथा और आख्यायिका, पर इनकी विशेषताओं में कोई मौलिक अन्तर नहीं जान पड़ता। आचार्य दण्डी भी अपने ग्रन्थ 'काव्यादर्श' में दोनों के लक्षण देते हुए, जो कि अधिकांश अग्निपुराण से मिलते-जुलते हैं, अन्त में इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि दोनों में कोई मौलिक भेद नहीं[1]—

तत् कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयांकिता ।
अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाख्यानकजातयः ॥

दोनों की भेद-सम्बन्धी बातें दो रूपों में मिलती हैं। एक रूप में दोनों में भेद हैं कि कथा में कल्पना का प्राधान्य होता है, जबकि आख्यायिका में वास्तविक घटना का, जैसा कि हमें शब्दार्थचिन्तामणि में 'कोलाहलाचार्य' के निम्नांकित उद्धरण से स्पष्ट होता है—

प्रबन्धकल्पनां स्तोकसत्यां प्रज्ञाः कथां विदुः ।
परस्पराश्रया या स्यात् सा मताख्यायिका क्वचित् ॥

थोड़े सत्य के आधार पर प्रबन्ध कल्पनावाली रचना कथा है। जिसमें सत्य और कल्पना दोनों परस्पर एक-दूसरे के आश्रित हों, अर्थात् दोनों का समान महत्त्व हो, वह आख्यायिका है। ऐसी धारणा अमरकोश में भी प्रकट है—'आख्यायिकोपलब्धार्था। प्रबन्ध कल्पना कथा।'[2]

अर्थात् जिसकी प्रधान कथा वास्तविक घटना हो वह आख्यायिका और जिसमें

---

1. काव्यादर्श, 1, 28।
2. अमरकोष, प्रथम काण्ड।

प्रबन्ध की कल्पना की गई हो वह कथा है। दूसरे रूप में आख्यायिका की कथा नायक के द्वारा कही जाती है। आचार्य दण्डी ने अपने ग्रन्थ काव्यादर्श में इसी भेद को स्पष्ट किया है—

अपादः पदसन्तानो गद्यमाख्यायिका कथा ।
इति तस्य प्रभेदौ द्वौ तयोराख्यायिका किल ॥ 23 ॥
नायकेनैव वाच्यान्या नायकेनेतरेण वा ।
स्वगुणाविष्क्रिया दोषो नात्र भूतार्थशंसिनः ॥ 24 ॥

पाद (चरण) रहित पदसन्तान अर्थात् सार्थक शब्दसमूह का विस्तार गद्य है जिसके कथा और आख्यायिका नाम के दो प्रभेद हैं। इनमें आख्यायिका नायक द्वारा कथित होती है और दूसरी नायक या किसी दूसरे के द्वारा। आख्यायिका में अपना ही गुणकथन दोषपूर्ण नहीं, क्योंकि यह बीती घटनाओं का कथन होता है।

साहित्यदर्पण में दोनों का भेद स्पष्ट नहीं है। परन्तु आचार्य हेमचन्द्र ने अपने ग्रन्थ काव्यानुशासन में दोनों ही भेदों का स्पष्ट उल्लेख किया है। उनके विचार से नायक के द्वारा अपना निजी वृत्तान्त प्रकट करनेवाली, भावी अर्थ-सूचक वचन और अपवक्त्र छन्दों में कही गई, उच्छ्वासों में विभक्त संस्कृत गद्य-रचना आख्यायिका होती है और धीर प्रशान्त नायक का, गद्य या पद्य में वर्णन करनेवाली समस्त भाषाओं में गद्यरचना कथा होती है।[1] हेमचन्द्र के अनुसार धीर प्रशांत नायक आख्यायिका का नायक नहीं हो सकता, क्योंकि वह अपने गम्भीर स्वभाव के कारण अपने गुणों का वर्णन स्वयं न करेगा। अतएव आख्यायिका के नायक धीरोद्धतादि हो सकते हैं। इसमें कन्यापहरण, संग्राम, अभ्युदय आदि का वर्णन होता है। उच्छ्वास से निबद्ध संस्कृत गद्य में उचित घटनाओं के चुनाव के साथ कहीं-कहीं पद्य का प्रयोग होते हुए भी आख्यायिका एक निर्दोष गद्य-प्रबन्ध का रूप है, जैसे हर्षचरित। कथा में स्वचरित-कथन आवश्यक होने से नायक धीर प्रशान्त होता है जिसके चरित और गुणों का वर्णन कवि या किसी अन्य पात्र के द्वारा होता है। यह समस्त भाषाओं—संस्कृत, प्राकृत, मागधी, पैशाची, शौरसेनी, अपभ्रंश आदि—में हो सकती है। कुछ कथाएँ गद्यमयी होती हैं जैसे कादम्बरी, परन्तु कुछ पद्यमयी भी होती हैं जैसे लीलावती।[2]

कथा-भेद

काव्यानुशासन के आठवें अध्याय के 7वें और 8वें सूत्रों की टीका में कथा के नीचे लिखे भेद कहे गये हैं—

उपाख्यान—कथा-प्रबन्ध के बीच दूसरों को समझाने के लिए कही गई कहानी उपाख्यान कहलाती है, जैसे नल, सावित्री आदि।

---

1. नायकाख्यातस्ववृत्ता भाव्यर्थशंसिवक्त्रादिः सोच्छ्वासा संस्कृता गद्ययुक्ताख्यायिका ॥ 7 ॥
धीरशान्तनायका गद्येन पद्येन वा सर्वभाषा कथा ॥ 8 ॥

—*हेमचन्द्र*, *काव्यानुशासन*, 8, 7-8

2. काव्यानुशासन, 8, 7-8 टीका।

आख्यानक—उसे कहा जाता है जो दूसरों के प्रबोध के लिए किसी ग्रन्थिक (ज्योतिषी) के द्वारा सभा में पढ़ा, गाया या अभिनय किया गया हो, जैसे गोविन्दाख्यान।

निदर्शन—वह कथानक है जिससे पशु, पक्षियों या अन्य जीवधारियों की चेष्टाओं और आचरणों से कार्य-अकार्य का निश्चय किया जाय—जैसे पंचतन्त्र, मयूर-मार्जारिका आदि।

प्रवह्लिका—प्रधान (कथा) को लेकर जहाँ दो व्यक्तियों में विवादादि अर्द्धप्राकृत भाषा में प्रकट किया जाता है, वह प्रवह्लिका कहलाती है। जैसे—चेटकादि।

मन्थल्लिका—महाराष्ट्र आदि भाषाओं में उस क्षुद्रकथा (कहानी) को मन्थल्लिका कहते हैं, जिसमें प्रारम्भ से अन्त तक पुरोहित, अमात्य, तापस आदि का उपहास किया जाय। जैसे—गोरोचन, अनंगवती।

मणिकुल्या—वह कहानी है जिससे वस्तु पहले न होकर बाद में प्रकाशित होती है, जैसे मत्स्य हसितादि।

परिकथा—जिसमें चार पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) में से एक को लक्ष्य करके विचित्र प्रकार के वृत्तान्तों को सुनाया जाता है, वह परिकथा है। जैसे, शूद्रकादि।

खण्डकथा—किसी प्रबन्ध के भीतर जब किसी प्रसिद्ध वृत्तान्त को उसके बीच से या छोर से लेकर वर्णन करते हैं, वह खण्डकथा है—जैसे इन्दुमती।

सकलकथा—प्रारम्भ से फलप्राप्ति के अन्त तक पूरे चरित्र का यथातथ्य वर्णन जिसमें होता है वह सकलकथा है। जैसे—समरादित्यं।

उपकथा—जहाँ किसी चरित के अंग का आश्रय ग्रहण कर अतिविचित्र दूसरी प्रसिद्ध कथा कही जाती है, वह उपकथा है।

बृहत्कथा—किसी विशाल महत्त्वपूर्ण विषय को लेकर अद्भुत कार्य की सिद्धि का वर्णन करनेवाली पिशाचभाषा से युक्त कथा बृहत्कथा है—जैसे नरवाहनदत्तादि।

ऊपर वर्णित कथा-भेदों में परिकथा, सकलकथा और बृहत्कथा तो कथा के भेद हैं। मन्थल्लिका, मणिकुल्या ये क्षुद्रकथा (आधुनिक कहानी) के रूप हैं और उपाख्यान, आख्यानक, निदर्शन, प्रवह्लिका, खण्डकथा, उपकथा आदि किसी प्रधान या आधिकारिक कथा की गौण या सहायक कथाएँ हैं जिनका कि काव्यभेद की दृष्टि से अलग और स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसमें संदेह नहीं कि प्रधान या आधिकारिक कथा के स्वरूप स्पष्टीकरण और विश्लेषण के लिए इन गौण या प्रासंगिक कथाओं के स्वरूप का समझना भी आवश्यक होता है। इस दृष्टि से आचार्य हेमचन्द्र की उपर्युक्त व्याख्या अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

कथा के ये भेद आधुनिक कथा-साहित्य के विवेचन में भी महत्त्वपूर्ण हैं। आधुनिक उपन्यास के जासूसी, ऐतिहासिक और सामाजिक इन तीन भेदों को हम क्रमशः बृहत्कथा, सकलकथा और परिकथा में प्राप्त करते हैं।

कथा-साहित्य के प्राचीन और अर्वाचीन, दोनों के समन्वित रूप का विवेचन हमें

भारतेन्दु-युग के प्रसिद्ध विद्वान् साहित्याचार्य पण्डित अम्बिकादत्त व्यास के एक लेख में प्राप्त होता है। उनके अनुसार आधुनिक उपन्यास, कथा-साहित्य का पर्याय है और उसके कुल मिलाकर उनचास, छः करोड़ एकतीस लाख अट्ठानबे हजार चार सौ भेद हैं। गद्यकाव्य के सम्बन्ध में उनकी धारणा यह है—

"जो गद्यों में ही शोभित हो उसे गद्य-काव्य कहते हैं। यहाँ श्रव्य ग्रन्थ-रूप गद्य-काव्य का विचार किया जाता है। इसी गद्य-काव्य को उपन्यास कहते हैं—जैसे कादम्बरी अथवा मेरा रचित 'शिवराज विजय' इत्यादि। उपन्यास में पद्य तो होने ही न चाहिए। यदि हों तो कहावत में हों अथवा अन्य कवि की उक्ति के बताने में हों। और जहाँ पात्र ने ही कोई बात पद्य में कही है और उसका पद्य ही में दिखलाना अधिक आनन्दजनक होता है, तो ऐसे स्थल में पद्य हो सकते हैं। इन पद्यों में स्वाभाविक उक्ति हो और प्रसादगुण हो। ये छन्द छोटे होने चाहिए और इन छन्दों में भी कुछ गद्य का-सा आनन्द हो।...... इससे यह चम्पू नहीं कहला सकता, क्योंकि वह लेख तो इस काव्य का अवयव नहीं होता।"

"उपन्यास बाँधनेवाले को चाहिए कि पहले तो कहानी उत्तम चुने और फिर उसमें और भी नाना पात्र और घटनाओं की कल्पना करके उसे अधिक मनोहर करे। देश-काल आदि के वर्णन में स्वाभाविक वर्णन करे, अस्वाभाविक बहुत ऊटपटाँग न हाँके और आपस की बातचीत में स्वभावोक्ति का ध्यान रखे।...... प्रबन्ध ऐसा होना उत्तम है कि बराबर उत्कण्ठा बढ़ती ही चली जाय, हृदय उसमें डूबता ही जाय।......"

"जहाँ एक कथा का विच्छेद हो, वहाँ परिच्छेद की कल्पना की जा सकती है, इसका नाम परिच्छेद, उच्छ्वास, भाग, प्रश्वास आदि रखा जा सकता है।...... इन भाग परिच्छेदादि के प्रारम्भ में देश-कालादि का वर्णन, भाग के अन्त में अद्भुतादि और मध्य में प्रधान विषय माधुर्यमय रखा जाय, तो अच्छा होता है। एक परिच्छेद में भिन्न दो ऋतुओं का वर्णन न करे और निष्कारण एक पात्र के स्वभाव में भी भेद न दिखलावे।"[1]

इस कथन से स्पष्ट है कि उनकी गद्य-काव्य की धारणा सीमित है, उसके भीतर केवल गद्य प्रबन्ध आ सकता है और अन्य आधुनिक भेद नहीं आ सकते। गद्यकाव्य या उपन्यास के नीचे लिखे भेद व्यासजी ने किये हैं—

कथा कथानिका चैव कथनालापको तथा ।
आख्यानाख्यायिके खण्डकथा परिकथाऽपि च ॥ 25 ॥
संकीर्णमिति विज्ञेयो उपन्यासभिदा नव ।
प्रत्येकलक्षणान्येषां कीर्त्यन्ते च पृथक् पृथक् ॥ 26 ॥

इस प्रकार कथा, कथानिका, कथन, आलाप, आख्यान, आख्यायिका, खण्डकथा, परिकथा, संकीर्ण ये उपन्यास के नौ भेद हुए। व्यासजी के अनुसार इन भेदों की व्याख्या यह है[2]—

---

1. 'गद्य-काव्य-मीमांसा', अम्बिकादत्त व्यास, कारिका 1. 24।
2. वही, कारिका 30 से 48।

1. कथा

कथा से पूर्वपीठिका में वक्ता की भूमिका बाँधी जाती है। उसके अन्तर्गत एक वक्ता और श्रोता स्थापित किया जाता है। श्रोता का कथा के प्रति उत्साह और जिज्ञासा दिखाई जाती है। इसमें सारी कहानी वक्ता के मुँह से ही कहलायी जाती है। उपन्यास का समस्त प्रधान विषय इसी में समाप्त हो जाता है। इसका उपसंहार होता है। विभिन्न प्रसंगों को सुसंगठित और अद्भुत रसयुक्त किया जाय तो उत्तम होता है। इसके दो भेद हैं—प्रथम वक्ता, उस प्रसङ्ग का पात्र होता है—जैसे कादम्बरी में 'शुक', द्वितीय वक्ता, प्रधान कथा का पात्र नहीं होता।

2. कथानिकोपन्यास

जिसमें सब लक्षण तो कथोपन्यास के हों, पर अनेक पात्रों के आलाप से प्रधान कथा कहलायी जाय। इसके तीन भेद हो सकते हैं—1. वार्तालाप करनेवाले सभी लोग प्रधान कथा के पात्र हों, 2. कोई भी प्रधान कथा के पात्र न हों, 3. कुछ पात्र हों और कुछ न हों।

3. कथनोपन्यास

इसमें कवि की उक्ति होती ही नहीं। अतः पूर्वपीठिका और उत्तरपीठिका की भी आवश्यकता नहीं। औपन्यासिक वक्ता स्वयं अचानक उपन्यास में प्रधान चरित्र को किसी मोड़-तोड़ से कहना प्रारम्भ कर देता है। यद्यपि पूर्वपीठिका नहीं रहती तथापि उसी की उक्ति से इसका भी पता चल जाता है कि वह कौन है और कहाँ है। जब इसकी वक्तृता समाप्त होती है, उसी समय ग्रन्थ भी समाप्त हो जाता है। इसके दो भेद हैं—1. जिसमें वह वक्ता कथा का पात्र है और 2. जिसमें वह पात्र न हो।

4. आलापोपन्यास

जिसमें अनेक पात्रों की बातचीत में ही उद्दिष्ट विषय का निरूपण करता हुआ ग्रन्थ पूरा हो, वह आलापोपन्यास कहलाता है। इसमें न तो पूर्वपीठिका होती है और न उत्तर-पीठिका और न कवि की उक्ति ही। शेष समस्त लक्षण कथनोपन्यास के हैं। कथानिका की भाँति इसके तीन भेद होते हैं।

5. आख्यानोपन्यास

यदि समस्त कहानी केवल कवि ही कहे, पात्रों से न कहलावे तो आख्यानोपन्यास कहा जाता है। इसमें अधिक मनोहरता लाने के उद्देश्य से अद्भुत रस प्रायः लाया जाता है। विषय का प्रारम्भ नाटक की भाँति बीच से ही कर दिया जाता है, तो भी कवि की चतुराई से पौर्वापर्य का क्रम ठीक ही लक्षित होता है। कथा के विभिन्न अंशों का संगठन इस प्रकार किया जाता है कि पाठक या श्रोता का उत्साह बढ़ता ही जाता है। पात्रों की बातचीत अत्यन्त परिमित रहती है और स्वाभाविक भाषा में होती है। इसके उदाहरण हैं 'नरेन्द्र मोहनी', 'परीक्षागुरु', 'जीवन प्रभात' आदि।

6. आख्यायिकोपन्यास

इसमें समस्त लक्षण आख्यान का ही रहता है। थोड़ा भेद इतना ही है कि इसमें पात्र अपने कुछ-कुछ चरित्र स्वयं कहते हैं।

7. खण्डकथोपन्यास

जिस ग्रंथ में एक-एक खण्ड में एक-एक कहानी हो और उनका आपस में कोई घनिष्ठ सम्बन्ध न हो, तो वह खण्डकथा कहलाती है। इसके दो भेद हैं—एक में सब कहानियों का उठान और परिणाम एक प्रकार का होता है और दूसरे में सब अलग-अलग और कोई कहानी कथनोपन्यास के ढंग की होती है और कोई आलापोपन्यास के ढंग की। जैसे 'बात-बात में बात', 'भाषा ऋजु पाठ' आदि।

8. परिकथोपन्यास

यह वह है जिसमें एक कहानी के भीतर बहुत-सी कहानियाँ हों। ये कहानियाँ आपस में सम्बन्ध रखती हों और परस्पर किञ्चित् आकांक्षा भी रखती हों। इसके चार भेद हैं—1. शुद्ध-परिकथा, 2. अति-मुक्तकथा, 3. कदम्बकथा, 4. स्तबककथा। **शुद्ध-परिकथा** में किसी के मुँह से प्रसंग बाँधकर एक कहानी में बहुत-सी कथा कहलायी जाती है, जैसे 'बेताल पचीसी', 'सिंहासन बत्तीसी', 'सुगाबहत्तरी', 'उपदेशलता' आदि। एक कहानी में दूसरी, उसमें तीसरी, उसमें चौथी यों निकलें और समाप्त होते समय उलटे क्रम में समाप्त हों तो वह **अतिमुक्तकथा** कहलाती है। यह मोतियों या मुक्ता के फूल के समान होती है इसलिए यह नाम है। एक ग्रंथ में एक कहानी के सम्बन्ध में बहुत-सी अतिमुक्त कथाएँ हों, तो उसे **कदम्बकथा** कहते हैं। कदम्ब के फूल में प्रत्येक अवयव में मोतियों की भाँति एक में दूसरी पंखुड़ी निकलती है, इसी से यह नाम है। यदि पूर्वोक्त दो या तीन कथाओं का सांकर्य हो तो **स्तबककथा** कहलाती है, जैसे पंचतन्त्र, सहस्त्ररजनीचरित्र। फूलों के गुच्छे के समान इसकी रचना होने से यह नाम हुआ है।

9. संकीर्णोपन्यास

जिसमें पूर्वोक्त लक्षणों का सांकर्य देख पड़ता है और इस कारण अधिक मनोहर होता है, वह संकीर्णोपन्यास कहलाता है। समस्त प्रभेदों को मिलाकर 19 भेद हुए हैं।

प्राय: उपर्युक्त भेद कथा-संगठन और कथा-शैली अथवा वक्ता के आधार पर किये हैं, ऐसे ही नायक, फल, भाषा, वर्ण्यविषय, कथानक का आधार, रस, कथा-विस्तार आदि के आधार पर असंख्य भेद हो सकते हैं जिनका संकेत ऊपर किया जा चुका है।

उपर्युक्त विवेचन के सम्बन्ध में दो बातें कहनी हैं—एक तो यह कि इन नामों की पूर्वपरम्परा इस रूप में नहीं है जैसा कि पूर्वोक्त हेमचन्द्र के परिकथा, खंडकथा, आख्यान तथा अग्निपुराण के कथा, खण्डकथा, परिकथा, कथानिका आदि भेदों के देखने से स्पष्ट है। व्यासजी द्वारा दी हुई व्याख्या पूर्ववर्ती धारणाओं से मेल नहीं खाती।

दूसरी बात यह है कि आधुनिक कथा-साहित्य विशेषतः उपन्यास-साहित्य की दृष्टि से देखते हैं, तो केवल कथनोपन्यास, आलापोपन्यास, आख्यानोपन्यास, आख्यायिकोपन्यास, तो उपन्यास के भेद हैं और खण्डकथा, परिकथा कहानी के भेद हैं जिन्हें आजकल उपन्यास से भिन्न ही समझा जाता है। व्यासजी का संकीर्णोपन्यास अवश्य हमारे बड़े काम का है। आजकल इसी का अवलम्बन उपन्यासकारों ने ग्रहण किया है। पर इसका नाम संकीर्ण भ्रमात्मक है इसके स्थान पर सांकर्योपन्यास ही अधिक उपयुक्त हो सकता है।

उपन्यास

आधुनिक विवेचना के अनुसार उपन्यास गद्य-प्रबन्ध का एक प्रधान रूप है जिसमें किसी चरित्र का देश-काल में स्वाभाविक चित्रण किया जाता है। वर्णन, चरित्र-विश्लेषण और वार्तालाप के द्वारा लेखक हमें देखे, सुने और अनुभूत जीवन के दृश्यों के साथ सजीव जीते-जागते व्यक्तियों की वास्तविक झाँकी दिखलाता है। यह आधुनिक गद्य का एक महत्त्वपूर्ण रूप है। इसके प्रमुख तत्त्व हैं—कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, देशकाल, उद्देश्य और शैली। उपयुक्त शैली में कथोपकथन, देशकाल, कथाविकास और चरित्र-चित्रण के द्वारा लेखक अपना उद्देश्य सिद्ध करता है। सामान्य उद्देश्य जीवन की व्याख्या है, विशिष्ट उद्देश्य कोई भी हो सकता है। इन्हीं तत्त्वों के आधार पर आज उपन्यासों के भेद भी किये जाते हैं। इन तत्त्वों में जिसकी प्रधानता हो उसी के अनुसार उपन्यासों के—1. घटनाप्रधान, 2. चरित्रप्रधान, 3. शैलीप्रधान—ये तीन भेद किये जा सकते हैं। उद्देश्य की दृष्टि से आदर्शवादी, यथार्थवादी और फिर प्रगतिवादी, गाँधीवादी, समाजवादी, मार्क्सवादी आदि भेद किये जाते हैं। इनमें प्रमुख दो ही हैं—आदर्शवादी और यथार्थवादी। कथावस्तु के आधार पर भी ऐतिहासिक और काल्पनिक दो भेद हैं और इनमें भी प्रत्येक के सामाजिक और अद्भुत, विचित्र या अय्यारी, जासूसी, तिलिस्मी आदि दो भेद हैं। प्रथम में वर्णन हमें ऐसा लगता है जैसे हमारे देखे-सुने जीवन का हो, दूसरे भेद में वैचित्र्यपूर्ण चरित्र और घटनाओं का चित्रण होता है। यह भेद चरित्रप्रधान उपन्यास के भी हो सकते हैं जिसमें एक भेद मनोवैज्ञानिक और भी जोड़ देना चाहिए। शैली की दृष्टि से अनेक भेद हैं जिनमें प्रमुख आत्मचारित्रिक शैली या आख्यान शैली, वर्णन शैली या कथा शैली, नाटकीय या आलाप शैली और मिश्र शैली है। प्रथम में पात्रों में कोई और प्रमुखतया नायक कथा कहता है, द्वितीय में कवि या लेखक वर्णन और कथानक प्रस्तुत करता है, तृतीय में वार्तालाप द्वारा प्रमुखतया कथानक और चरित्र का उद्घाटन होता है और चतुर्थ में इनमें से अनेक का सम्मिश्रण रहता है। इसके अतिरिक्त प्रतीक शैली, विश्लेषणात्मक शैली, आवेश शैली, अलंकृत शैली, व्यंग्य शैली भी प्रचलित हैं। उपन्यास के उपर्युक्त भेदों से हम भलीभाँति परिचित हैं, अतः अधिक विवरण की आवश्यकता नहीं। आज-कल लघु कथा के समान एक भेद लघु उपन्यास भी सामने आ रहा है।

कहानी

गद्यप्रबन्ध का दूसरा रूप कहानी है, जिसमें उपन्यास के तत्त्व विद्यमान हैं, पर

यह उपन्यास का अंग नहीं, अलग स्वच्छन्द रूप है। इनमें आधुनिक युग में अधिक कलात्मक प्रयोग हुए हैं जिनके परिणामस्वरूप यह एक स्वतन्त्र रूप है। उपन्यास और कहानी में एक विशाल वृक्ष तथा एक छोटे पौधे का-सा साम्य है। आम के सभी अंग गुलमेंहदी या दुपहरिया के पौधे में भी होते हैं, पर दोनों एक नहीं हैं। वृक्ष की विशेषता उसकी उपयोगिता में और पौधे की उसके सौन्दर्य में है। कहानी का भी इसी प्रकार का कलात्मक महत्त्व है। कहानी के भी उपन्यास के समान ही भेद-प्रभेद किये जा सकते हैं। आज की कहानी और प्राचीन कहानी में अन्तर है। आज की कहानी साहित्य का एक लिखित रूप है अतः अधिक कलात्मक है, प्राचीन कहानी प्रमुखतः मौखिक थी अतः कुतूहल और घटना-प्रधान थी। कथा और चरित्र का वैचित्र्य उसकी विशेषता थी जबकि आज की कहानी का गुण है—स्वाभाविक सूक्ष्म कला और प्रमुख उद्देश्य है मनोविश्लेषण।

शब्दचित्र (रेखाचित्र)

कहानी के ही समरूप गद्य प्रबन्ध के दो भेद और मिलते हैं—एक रेखाचित्र और दूसरा रिपोर्ताज (सूचनिका)। इन दो रूपों में कहानी के दो तत्त्व अधिक उभरते हैं, एक में चरित्र, दूसरे में वर्णन। शब्दचित्र में किसी व्यक्ति की यथार्थ या वास्तविक चारित्रिक विशेषताओं के उभारने का प्रयत्न होता है। इसमें प्रायः हम पहचान जाते हैं कि अमुक शब्दचित्र हमारे अनुभव से टकराये हुए अमुक व्यक्ति का-सा है, यही हमारी सजीवता और विशेषता होती है। शब्दचित्र का प्रेरक कोई एक वास्तविक व्यक्ति होता है जिसके व्यक्तित्व और चारित्र्य का विश्लेषण शब्द-चित्रकार करता है। इसकी सफलता यही है कि हम उसे पहचानकर कह दें कि हाँ, यह सब बिलकुल ठीक है।

रिपोर्ताज

चरित्र का नहीं वरन् किसी घटना या दृश्य का अत्यन्त विवरणपूर्ण, सूक्ष्म, रोचक वर्णन इसमें इस प्रकार किया जाय कि वह हमारी आँखों के सामने प्रत्यक्ष हो जाय और हम उससे प्रभावित हो उठें। इसका प्रादुर्भाव द्वितीय महायुद्ध के युद्ध-वर्णनों में हुआ था। इसे हम सरलतापूर्वक निबन्ध के अन्तर्गत भी रख सकते हैं। रिपोर्ताज की घटनाएँ या दृश्य काल्पनिक नहीं, वरन् वास्तविक होने चाहिए।

जीवनी

इस गद्यकाव्य का कथानक कल्पित न होकर पूर्णतः सत्य होता है। प्रायः इसमें लेखक का जीवनी के नायक के साथ निजी सम्पर्क होता है। इसमें रोचक, प्रभावपूर्ण घटनाओं और विवरणों को चुनकर जीवन-चरित्र का पूरा रूप प्रस्तुत किया जाता है। नायक कोई प्रसिद्ध व्यक्ति होता है। घटनाओं का सच्चा जीवन वर्णन और उसके द्वारा व्यक्ति की स्थिति, व्यक्तित्व, योग्यता, निपुणता और चारित्र्य का प्रभावपूर्ण लेखा प्रस्तुत करना ही इसका ध्येय होता है। रचनात्मक विशेषता जिस जीवनी में होगी वही गद्यकाव्य का रूप हो सकता है, अन्यथा वह गद्यकाव्य न होकर इतिहास होगा।

गद्य-प्रबन्ध के उपर्युक्त भेद ही अभी तक हमारे सामने आये हैं।

अनिबद्ध या मुक्त गद्य

अनिबद्ध या मुक्त गद्य, वह रोचक स्मरणीय गद्य-काव्य है जिनमें न तो कोई कथानक हो और न विचारसूत्र ही। इस प्रकार यह पूर्णत: मुक्त होता है। इसको हम दो रूपों में देखते हैं—एक तो सूक्ति या महावाक्य-संग्रह के रूप में और दूसरा भावगद्य के रूप में। भावगद्य में लेखक अपने भावावेश में विशृङ्खल रूप से हृदय के उद्‌गार प्रकट करता है। ये गम्भीर भावानुभूति और तन्मयता में निकले हुए, परन्तु किसी प्रकार के भी सूत्र से अविद्ध भावरत्न है। इसे ही हम प्राय: गद्यगीत या गद्यकाव्य भी कहते हैं। जो भावावेश या मौज में आकर लिखे जाते हैं, उन्हें हम भावमुक्तक भी कहते हैं।

आन्तरिक अनुभूति का चित्रण या कल्पना की उड़ान इनमें प्रधान रहती है।

निबन्ध

गद्यकाव्य के इस रूप का विकास पाश्चात्य साहित्य के संपर्क की देन है। अँग्रेजी, फ्रेंच आदि भाषाओं में बहुत पहले इस रूप का सुन्दर विकास हुआ था। निबन्ध के सम्बन्ध में 'मौंटिन', 'बेकेन', 'जॉनसन', 'एडिसन', 'प्रीस्टले' आदि के विभिन्न मत हैं जिनमें वैयक्तिक विचारों का प्रकाशन हुआ है। निबन्ध के सम्बन्ध में विभिन्न धारणाओं को अंगीकार करते हुए हम कह सकते हैं कि **निबन्ध वह गद्य रचना है जिसमें लेखक किसी भी विषय पर स्वच्छन्दतापूर्वक परन्तु एक विशेष सौष्ठव, संहिति, सजीवता और वैयक्तिकता के साथ अपने भावों, विचारों और अनुभवों को व्यक्त करता है।**

सामान्यत: निबन्ध दो रूपों में मिलते हैं—एक रचनात्मक और दूसरे विवेचनात्मक (Creative and Critical)। गद्य-काव्य के भीतर रचनात्मक निबन्धों को हम लेंगे। दूसरे प्रकार के निबन्ध शास्त्र के भीतर आते हैं।

भेद

निबन्धों के चार भेद माने जाते हैं—वर्णनात्मक, कथात्मक या विवरणात्मक, भावात्मक और विचारात्मक। प्रथम दो कल्पनाप्रधान, तीसरा भावप्रधान और चौथा विचारप्रधान होता है। **वर्णनात्मक** निबन्धों में किसी घटना या पदार्थ का वर्णन रहता है। इसी का एक रूप रिपोर्ताज है। **कथात्मक** निबन्ध में कथा के सहारे या कालक्रम के अनुसार चित्रण गतिशील रहता है। वर्णन का सम्बन्ध देश से है और विवरण का सम्बन्ध काल से है, अत: **विवरणात्मक** निबन्धों में वर्ण्यविषय स्थिर रूप में नहीं, वरन् गतिशील रूप में रहता है। यह प्रगति समय और स्थान दोनों में हो सकती है। समय की प्रगति कालक्रम में और स्थान की प्रगति यात्रा आदि के रूप में देखी जाती है। **भावात्मक** निबन्धों का प्रधान उद्देश्य भावाद्रेक या रस-सञ्चार है। निबन्ध का यह सबसे प्रभावशाली रूप है। प्रेम, करुणा, हास्य, वीरता आदि के भावों का चित्रण करनेवाले निबन्ध बड़े ही प्रभावपूर्ण होते हैं। भावात्मक निबन्धों की तीन शैलियाँ देखी जाती हैं—धारा शैली, विक्षेप या तरंग शैली और प्रलाप शैली। धारा शैली में मन्थर गति से संयत शब्दावली में

भाव का धारा-प्रवाह प्रकाशन होता है। विक्षेप या तरंग शैली में भावों का प्रकाशन तरंग, मौज या मस्ती में होता है जिससे भावों का अनुभव कभी तीव्र और कभी मन्द रूप में होता है। प्रलाप शैली अति भावावेश की उच्छृङ्खल अवस्था में होती है। इससे लेखक भावों के प्रकाशन में एक व्याकुलता और छटपटाहट का अनुभव करता है और भावों की अनर्गल अभिव्यक्ति भी पुनरुक्ति के कारण इस शैली में होती है। विचारात्मक प्रबन्ध में किसी विषय पर रोचक ढंग से विचारों को प्रकट किया जाता है।

समस्त निबन्धों को समास, व्यास, उत्कलिका, चूर्णक तथा सरल अलंकृत शैलियों में लिखा जा सकता है। परन्तु सर्वत्र निबन्ध में लेखक का व्यक्तित्व और निजीपन झाँकता हुआ होना चाहिए।

गद्य-काव्य के पूर्ण विस्तार का लेखा प्रस्तुत करना अत्यन्त कठिन है। इसके नवीन रूप बराबर विकसित हो रहे हैं। यहाँ पर संक्षेप में ही कुछ प्राचीन विस्तृत और कुछ अत्यन्त परिचित और निश्चित रूपरेखाओं में ढले हुए भेद को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

काव्य-भेदों को एक दूसरे आधार पर भी विभाजित किया गया है और वह आधार है— इन्द्रियों का माध्यम। इस आधार पर समस्त काव्य के दो भेद किये जाते हैं— एक श्रव्य या पाठ्य और दूसरा दृश्य। जो केवल सुना अथवा पढ़ा ही जा सके, वह श्रव्य या पाठ्य काव्य है। परन्तु जिसका सुनने और पढ़ने के अतिरिक्त अभिनय द्वारा प्रदर्शन भी किया जा सके और इस प्रकार जिसका आनन्द न केवल सुनकर या पढ़कर ही, वरन् देखकर भी प्राप्त किया जा सके, उसे दृश्य-काव्य कहते हैं। इसका व्यापक विस्तार है और इसकी रचनाविधि में भी विशेषताएँ हैं, अतः हम इस भेद पर आगे अलग अध्याय में विचार करेंगे।

■■

3

गद्यकाव्य का विवेचन

अध्याय 3

गद्यकाव्य-विवेचन

उपन्यास

युग की गतिशील पृष्ठभूमि पर सहज शैली में स्वाभाविक जीवनी की एक पूर्ण व्यापक झाँकी प्रस्तुत करनेवाला गद्य-काव्य **उपन्यास** कहलाता है। नाटक, महाकाव्य और उपन्यास जीवन की परिस्थितियों एवं चिन्ताओं से युक्त जीवन को सम्पूर्ण रूप में अभिव्यक्त करते हैं। परन्तु इन तीनों में सुकर और प्राकृतिक रूप उपन्यास का ही है। इसमें लेखक अत्यन्त स्वच्छन्द होकर अपने हृदयपटल पर पड़े हुए जीवन के जीते-जागते चित्रों को प्रस्तुत करता है। नाटक और महाकाव्य के-से बन्धन उपन्यास-लेखन के लिए नहीं होते। नाटक में नाट्यकला और अभिनय-सम्बन्धी अनेक उपादानों की आवश्यकता पड़ती है और अभिनय ही उसका साधन होता है। महाकाव्य में काव्यांगों का पूर्ण ज्ञान, जीवन का गम्भीर अनुभव और विवेचन तो आवश्यक है ही, उसकी रचनाविधि के भी अपने नियम हैं; परन्तु उपन्यास के लिए ये कठिनाइयाँ, बन्धन और पृष्ठभूमि की आवश्यकताएँ नहीं। वह कथा-साहित्य का सरल स्वाभाविक रूप है, इसी कारण से आजकल उसका अत्यधिक विकास हो रहा है।

नाटक और उपन्यास

नाटक और उपन्यास दोनों ही व्यक्तियों के चरित्रों का उद्‌घाटन करते हैं, फिर भी दोनों के दृष्टिकोण में अन्तर है, जिसे यहाँ स्पष्ट किया जाता है।

नाटक	उपन्यास
1. नाटक में अतीत की घटनाओं को वर्तमान में प्रत्यक्ष घटित होते हुए दिखलाया जाता है।	1. अतीत की घटनाओं का अतीत में घटित रूप में ही वर्णन होता है।
2. नाटककार अपनी समस्त रचना में अप्रत्यक्ष रहता है वह स्वयं कुछ नहीं कहता। उसे जो कुछ कहना होता है वह पात्रों के वार्त्तालाप या	2. उपन्यासकार अपनी कृति में प्रकट और प्रत्यक्ष रूप में आता है और पात्रों के चरित्रों, आन्तरिक मनो-भावों और विचारों पर प्रकाश

स्वगत कथन के रूप में प्रकट करता है। पात्रों के कथोपकथन और क्रियाकलाप ही उनके चरित्र को अभिव्यक्त करते हैं।	डालता और टीका-टिप्पणी करता है। वह चरित्र-चित्रण के विश्लेषणात्मक और नाटकीय दोनों ही ढंगों का प्रयोग करता है और कथानक के विकास और चरित्रों की परिचय-सम्बन्धी सूचना तथा देशकाल या युग की पृष्ठभूमि का विवरण स्वयं उपस्थित करता है।
3. नाटक में पात्र अपने भाव और अर्थ को कथोपकथन और अभिनय द्वारा पूर्णतया प्रकट करते हैं और दर्शक को कल्पना पर अधिक जोर देना नहीं पड़ता। देशकाल का संकेत 'सीन-सीनरी' आदि द्वारा होता है। इस कारण अर्थ और भाव अधिक सहजग्राह्य तथा अधिक प्रभावकारी रूप में प्रकट होते हैं।	3. उपन्यासकार का माध्यम केवल शब्द है। अतः उसे अपनी वर्णन-शैली को स्वाभाविक, सहजग्राह्य और प्रभावशाली बनाना पड़ता है। साथ ही पाठक के लिए भी कल्पना-शीलता, संवेदना की अधिक अपेक्षा रहती है। कथासूत्र को स्मृति और बुद्धि द्वारा जोड़ना होता है।
4. नाटक का दर्शक नियत समय के लिए ही नाटक का आनन्द ले सकता है। बीच में छोड़कर और जब इच्छा हो, तब नाटक का आनन्द नहीं लिया जा सकता।	4. उपन्यास-पाठक के लिए समय का कोई प्रतिबन्ध नहीं। जब इच्छा और समय हो; तब पढ़ा और उसका आनन्द प्राप्त किया जा सकता है।
5. नाटक में प्रभाव का ध्यान अधिक रखा जाता है।	5. उपन्यास का प्रमुख ध्येय वास्तविकता है। वह हमारे अनुभूत जीवन को चित्रण करने का प्रयत्न करता है।

इतिहास और उपन्यास

कुछ लोग उपन्यास को इतिहास के समकक्ष रखते हैं। एक विद्वान् का विचार है कि इतिहास में नामों और तिथियों के अतिरिक्त और कुछ वास्तविक नहीं और उपन्यास में नामों और तिथियों के अतिरिक्त सब कुछ वास्तविक है। इस कथन में दोनों की सीमाओं और विशेषताओं का संकेत मिल जाता है। यहाँ पर हम दोनों के भेद को और अधिक स्पष्ट करेंगे।

इतिहास	उपन्यास
1. इतिहासकार की दृष्टि राष्ट्रीय है। उसके लिए राष्ट्र प्रधान है, व्यक्ति गौण। वह चरित्रों को राष्ट्र की पृष्ठभूमि में देखता है। अतः व्यक्ति की निजी भावनाओं का उसके लिए महत्त्व नहीं, वरन् बाह्य घटनाएँ उसके लिए अधिक महत्त्व की हैं। आन्तरिक भावनाओं का वह उतना ही संकेत करता है जितना बाह्य घटनाओं के प्रसंग-संघटन में आवश्यक होता है।	1. उपन्यासकार के लिए व्यक्ति ही सब कुछ है। उसकी परिस्थितियों की सृष्टि और आवश्यकता व्यक्ति के लिए होती है। उसके लिए व्यक्ति प्रधान है, राष्ट्र गौण। बाह्य घटनाएँ व्यक्ति के उत्कर्ष, अपकर्ष और व्यक्तित्व के विकास के लिए ही महत्त्वपूर्ण होती हैं। अतः वह चुनी हुई घटनाओं का ही उपयोग करता है, सबका नहीं। उसका प्रमुख उद्देश्य पात्रों के मनोभावों का विश्लेषण है। वह एक विश्वासपात्र व्यक्ति की भाँति पात्रों के आन्तरिक रहस्य का भी उद्घाटन करता है।
2. इतिहास में मौलिकता और कल्पना के लिए कोई स्थान नहीं। लाख जनश्रुति होने पर भी वह ठोस प्रमाण के बिना कोई भी तथ्य स्वीकार नहीं कर सकता। उसका कार्य परिस्थिति अथवा घटना की खोज करना होता है।	2. उपन्यासकार कल्पना पर ही आश्रित है, अपने कल्पित पात्र के अनुकूल वह परिस्थितियों का निर्माण करता है। देखे-सुने जीवन के अनुभव के आधार पर पात्रों और परिस्थितियों का सहज स्वाभाविक संयोजन उपन्यासकार की मौलिकता का द्योतक है। उसका कार्य खोज नहीं, निर्माण करना है।
3. इतिहासकार प्रामाणिक तथ्यों, तिथियों और यथार्थ नामों के रूप में सत्य को ग्रहण करता है।	3. उपन्यासकार तिथियों और नामों की कल्पना कर सम्भावित सत्य का चित्रण करता है।
4. इतिहासकार सत्य का साररूप इतिवृत्त ग्रहण करता है। भावना और संवेदना की अपेक्षा, तटस्थ, अभावुक दृष्टिकोण इतिहासकार के लिए आवश्यक है।	4. वह सारभूत सत्य को, जीवन की घटनाओं के ढाँचों और भावों, अनुभूतियों, आशाओं के रक्त-मांस से युक्त कर सजीव और साकार रूप में प्रस्तुत करता है। भावुकता और संवेदना उपन्यासकार की

	प्रेरक शक्तियाँ हैं। वह सत्य के बीज को कल्पना की मिट्टी में भावना के जल से सींचकर पल्लवित और पुष्पित करता है।

कहानी और उपन्यास

कहानी और उपन्यास के तत्त्व समान हैं और वे एक ही जाति के हैं भी, फिर भी दोनों में अन्तर है जिसे हम यहाँ पर स्पष्ट कर रहे हैं।

कहानी	उपन्यास
1. कहानी जीवन की एक झलकमात्र प्रस्तुत करती है।	1. उपन्यास सम्पूर्ण जीवन का विशद और व्यापक चित्र उपस्थित करता है।
2. कहानीकार के लिए संक्षिप्त और संकेतात्मकता आवश्यक है।	2. उपन्यास के लिए विवरणपूर्ण, विशद और व्याख्यापूर्ण शैली आवश्यक है।
3. कहानीकार एक भाव या प्रभाव-विशेष का चित्रण करता है।	3. उपन्यासकार पूरी परिस्थिति और गतिशील जीवन की विवृत्ति करता है।
4. कहानी में प्रासंगिक कथांशों का अवसर नहीं होता।	4. उपन्यास में प्रासंगिक कथाओं का संगठन, आधिकारिक कथा की एकरसता को दूर करने तथा वर्णन में विविधता लाने के लिए आवश्यक होता है।
5. कहानी में थोड़े समय में ही महत्त्वपूर्ण बात कहनी होती है। अतः कला की सूक्ष्मता इसमें आवश्यक होती है। कहानी कलात्मक अधिक होती है। वह एक भाव-विशेष का ही चित्रण करने का प्रयत्न करती है।	5. उपन्यास में सूक्ष्म कला की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी व्यापक उदात्त दृष्टिकोण तथा भाव, रस और परिस्थिति के समग्र रूप में चित्रण की। रस के विविध रूपों का समावेश उपन्यास में हो सकता है।
6. कहानी द्वारा हलका मनोरंजन ही प्रायः सम्पादित हो पाता है।	6. उपन्यास परिस्थिति और पात्र के पूर्ण चित्रण द्वारा हृदय-मंथन और मनस्संस्कार भी करता है।

उपन्यास के अंग एवं रचना-विधि

उपन्यास के छः प्रमुख अंग माने जाते हैं—

1. कथानक
2. चरित्र-चित्रण
3. कथोपकथन
4. देशकाल या वातावरण
5. शैली
6. उद्देश्य

1. कथानक

यद्यपि आधुनिक काल में कथानक का महत्त्व कम समझा जाता है, पर यह उपन्यास का मूल है। उपन्यास में व्याप्त कुतूहल का तत्त्व कथानक के सहारे ही विकास पाता है। उपन्यास का समग्र रूप कथानक के ढाँचे पर विकसित होता है। कथानक का चुनाव और निर्माण उपन्यास की प्रमुख विजय है और लेखक के कौशल का संकेत इसमें मिल जाता है। कथानक के समस्त अंगों का सुन्दर संगठन, घटनाओं का समुचित विन्यास उपन्यास को सुन्दर बनाने के लिए आवश्यक होता है। यह धारणा भ्रान्त है कि उपन्यास में कथानक का कोई महत्त्व नहीं, या सामान्य कथानक को भी वर्णनकौशल के द्वारा उत्तम बनाया जा सकता है। क्योंकि यदि वर्णन-कौशल के साथ कथानक की उत्कृष्टता भी मिल जाय तो मणिकांचन योग होगा। कथानक के समुचित विकास के लिए उसे घटनाओं के पूर्वापर सम्बन्ध, कुतूहल और औचित्य को ध्यान में रखकर स्थिर करना चाहिए। कारण-कार्य की शृङ्खला को ध्यान में रखते हुए कुतूहल को तीव्र बनाते चलना उपन्यास में रोचकता का प्राण है। फिर भी वह कुतूहल इस प्रकार का नहीं होना चाहिए कि प्रस्तुत वर्णन में पाठक का मन न रमे। अत: व्यर्थ के विवरण को हटाकर रमणीय वर्णन, चरित-उद्‌घाटन एवं मनोविश्लेषण करनेवाले वार्त्तालाप के द्वारा कथानक का विकास होना चाहिए।

उपन्यास के कथानक को तीन प्रधान भागों में बाँटा जा सकता है—(1) प्रारम्भ या प्रस्तावना भाग, (2) मध्य या विकास, (3) परिणाम या समाप्ति। प्रारम्भ और समाप्ति भागों में सबसे अधिक कथानक के कलात्मक विकास की आवश्यकता रहती है। मध्य भाग में पात्रों के आन्तरिक और बाह्य संघर्षों का विशद विवरण और घटनाचक्र रहता है। मध्य भाग की सफलता के लिए उपन्यासकार को संसार का विस्तृत अध्ययन और मानस मनोभावों का सूक्ष्म ज्ञान आवश्यक है। उपन्यासकार की सफलता इस बात में निहित रहती है कि पाठक आगामी घटना, क्रियाकलाप अथवा अन्तिम परिणाम का अनुमान न लगा सके। यदि उसे समस्त कथानक का आभास प्रस्तावना के कुछ अंश को पढ़ने से ही लग गया, तो वह उपन्यास असफल ही समझिये। मध्य भाग के लिए जीवन के विविध रूपों की विशद विवृति होना सफलता का लक्षण है। उपन्यास यदि जीवन के किसी सीमित या एकांगी रूप को ही लेकर चलता है जिसमें लेखक का व्यापक और यथार्थ ज्ञान प्रकट नहीं होता, तो वह उपन्यास खिलवाड़ या बचकाना प्रयत्न-सा लगता है। स्थान के विवरण लेखक के परिपक्व अनुभवों से ओतप्रोत होने चाहिए और

पारिवारिक तथा सामाजिक दृश्यों के विवरण ऐसे लगें कि हम उपन्यास नहीं पढ़ रहे हैं, वरन् वास्तविक जीवन के बीच में खड़े हैं। पात्रों के अन्तस् के रहस्य का उद्घाटन आजकल के सफल उपन्यास का प्रधान गुण माना जाता है। इन बातों का ध्यान रखते हुए हम उत्कृष्ट कथानक के लिए निम्नलिखित विशेषताएँ आवश्यक समझते हैं—

मौलिकता

कथानक की मौलिकता विषय की नवीनता, नवीन घटनाओं की कल्पना और उनके संयोजक के ढंग, वर्णन और विन्यास की विशेषताओं में देखी जा सकती है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, जिसमें पाठक परिणाम तथा आगामी घटना का आभास न पा सके, उस कथानक को मौलिक कहना चाहिए।

प्रबन्ध-कौशल

कथानक की मुख्य और गौण कथाओं को औचित्य और प्रभाव के साथ संगठित करने की चतुराई प्रबन्ध-कौशल है। इसकी तो सफल उपन्यास में अनिवार्य आवश्यकता है, अन्यथा कथानक उखड़ा-उखड़ा लगेगा।

संभवता

उपन्यास में जो कुछ भी वर्णन है, वह सम्भव लगे, असम्भव नहीं। यदि किसी ऐसी घटना या दृश्य का समावेश है जिसकी सत्यता की सम्भावना पर पाठक का विश्वास नहीं जमता, तो वह सारे उपन्यास को प्रभावहीन बना देती है। अत: सम्भव घटनाएँ हों और कार्यों तथा घटनाओं के कारण, औचित्य एवं संगति भी हो, तभी हमारा विश्वास होता चला जाता है। सम्भवता और औचित्य का ध्यान हमें घटनाओं में नहीं, वार्त्तालाप, वेशभूषा, वर्णन सभी में रखना पड़ता है।

सुगठन

प्रबन्ध-कौशल के साथ-साथ समस्त उपन्यास एक सुगठित रचना होनी चाहिए। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसमें अनावश्यक का त्याग और आवश्यक का ग्रहण किया गया है। कोई आवश्यक बात छूटी नहीं है। (A brevity that excludes everything that is redundant and leaves nothing that is significant.)

रोचकता

कथानक की रोचकता प्राय: उपर्युक्त बातों का ध्यान रखने से आ ही जाती है, परन्तु इसके लिए उपन्यासकार आकस्मिक और अप्रत्याशित का सहारा लेता है। यह आकस्मिक, सम्भवता और कार्य-कारण-शृङ्खला से अलग न होते हुए भी पाठक के अनुमान और कल्पना से बाहर होता है। परन्तु रोचकता-सम्पादन के लिए पद-पद पर आकस्मिक का संयोजन उचित नहीं, हाँ, अप्रत्याशित का संयोजन, जो आकस्मिक न हो, अधिक संगत माना जाता है।

उपन्यास के कथानक का विन्यास कई प्रकार से किया जा सकता है—1. एक द्रष्टा द्वारा वर्णित कथा के रूप में, 2. आत्मकथा के रूप में, 3. वार्त्तालाप द्वारा, 4. पत्रों द्वारा। इन शैलियों में प्रथम और द्वितीय ही अधिक प्रचलित हैं।

2. चरित्र-चित्रण

आधुनिक उपन्यास में चरित्र-चित्रण को सबसे अधिक महत्त्व प्रदान किया जाता है। उपन्यास मानव-जीवन का चित्रण है, अत: मानव-चरित्र का विश्लेषण उसकी रोचकता और रमणीयता का प्रधान कारण हो जाता है। यथार्थ और समुचित प्रभाव के साथ चरित्र-चित्रण करना उपन्यासकार की सफलता का द्योतक है। चरित्र-चित्रण के लिए समाज और जीवन का प्रत्यक्ष और विशद अनुभव आवश्यक है। यदि उपन्यास के पात्र उपन्यास के चरित्रों-जैसे ही न लगकर जीवन में देखे-सुने और सम्पर्क में आये व्यक्तियों के समान लगते हैं और उनके साथ ममता, घृणा, द्वेष, सौहार्द, करुणा आदि के भाव स्वत: जगने लगते हैं, तो समझिये कि उपन्यास में सफल चरित्र-चित्रण हुआ है। अत: पात्रों की सजीवता अत्यन्त आवश्यक है। उपन्यास पढ़ चुकने के बाद भी पात्र हमारे भीतर अपना प्रभाव डाले रहते हैं और उन्हें हम भूल नहीं पाते।

चरित्र-चित्रण में हम तीन विशेषताओं को खोजते हैं—1. चरित्र का व्यक्तित्व, 2. उसके बौद्धिक गुण, 3. उसके चारित्रिक गुण।

1. व्यक्तित्व के भीतर पात्र का आकार, रूप, रंग, वेश-भूषा आदि सम्मिलित रहती है जिसके द्वारा हम उसे पहचानते हैं। यदि उपन्यास के भीतर इन बातों का विवरण नहीं हो तो हम अपनी कल्पना और अनुभव के आधार पर उसके व्यक्तित्व का एक रूप बना लेते हैं। यह व्यक्तित्व जितना ही प्रभावशाली हो तथा अन्य सजातीय पात्रों से भिन्न जान पड़े उतना ही अच्छा होता है। 2. बौद्धिक गुणों के भीतर उसका अध्ययन, चतुरता, संकट में बुद्धि-वैभव आदि की विशेषताएँ आती हैं। इसके लिए उसके गुण यदि लोक-कल्याणकारी हुए तो हम सम्मान और प्रशंसा करते हैं और यदि अकल्याणकारी हैं, तो हम निन्दा करते हैं। इन गुणों का हमारे ऊपर प्रभाव पड़ता है। 3. चारित्रिक गुणों का प्रभाव सबसे अधिक पड़ता है। उसके भीतर दूसरों के सुख में सुखी और दु:ख में दु:खी होने की कितनी शक्ति है, वह कितना संवेदनशील और भावुक है, परिस्थितियों का घात-प्रतिघात सहकर भी उसमें कितनी करुणा और सहृदयता है, इन बातों पर हमारा ध्यान उसके प्रति प्रेम या घृणा का भाव जाग्रत करता है। चारित्रिक विशेषताओं में उसके आचरण और दूसरों के प्रति व्यवहार को परखा जाता है। अत: इन विशेषताओं का प्रत्यक्ष स्पष्टीकरण उपन्यासकार की कुशलता का अंग है।

चरित्र-चित्रण के लिए प्राय: दो शैलियों का अवलम्बन किया जाता है—1. विश्लेषणात्मक, 2. नाटकीय। प्रथम में उपन्यासकार स्वयं ही चरित्रों के भावों, मनोवृत्तियों, विचारों आदि का तटस्थ भाव से विश्लेषण करता है और द्वितीय में अन्य पात्रों के कथोपकथन द्वारा किसी पात्र के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है। उपन्यासकार स्वयं

ही अपना निर्णय दें, इसकी अपेक्षा पात्र के कथन, व्यवहार तथा पात्रों पर पड़े प्रभाव के विश्लेषण द्वारा चरित्र का स्पष्टीकरण हो, यह अधिक आधुनिक प्रणाली है। इसमें भी पृष्ठभूमि में उपन्यास-लेखक विश्लेषण-पूर्ण विवरण प्रस्तुत करता है। यह सोचना कि एक शैली सर्वथा दूसरी से निरपेक्ष रूप में आती है, भ्रमात्मक है। एक को अधिक आधुनिक समझना भी उचित नहीं, क्योंकि मनोवैज्ञानिक गुत्थियों को स्पष्ट करने के लिए विश्लेषण की आवश्यकता पड़ती है अत: उद्देश्य और चरित्र के अनुसार इन दो में से जो शैली अधिक उपयुक्त हो, उसका प्रयोग करना चाहिए। वास्तव में आजकल के सफल उपन्यासों में सम्मिलित शैली का उपयोग होता है जिसमें नाटकीय और विश्लेषणात्मक दोनों विधियाँ यथावश्यक रूप में प्रयुक्त होती हैं।

3. कथोपकथन

उपन्यास में कथानक और चरित्र-चित्रण प्रधान तत्त्व हैं। इनको प्रकट करने के लिए अन्य साधनों की आवश्यकता होती है। इन साधनों में कथोपकथन प्रधान है। कथोपकथन कथानक को भी आगे बढ़ाता है और चरित्र को भी प्रकट करता है। कथोपकथन की निम्नलिखित विशेषताएँ उपन्यास की सफलता की द्योतक हैं—

1. कथोपकथन संक्षिप्त, यथावश्यक, स्वाभाविक और स्मरणीय होना चाहिए।
2. वह परिस्थितियों से पूर्णतया मेल खाता हो।
3. पात्रों के बौद्धिक एवं सांस्कृतिक स्वर के अनुरूप उसे होना चाहिए।
4. कथोपकथन का विषय कथावस्तु से सम्बद्ध एवं पात्रों के मानसिक धरातल के अनुरूप होना चाहिए।
5. कथोपकथन में सरसता और रोचकता होनी आवश्यक है; यह तभी हो सकता है जब उसका विषय अत्यन्त एकांगी और वैयक्तिक न हो।
6. उपन्यास के कथोपकथन में प्रचार या सैद्धान्तिक आग्रह का समावेश उपन्यास की रचनात्मक सुषमा को नष्ट करनेवाला होता है। अत: कथोपकथन में व्यक्तित्व के निजीपन की छाप और पात्रानुकूल वैचित्र्य के साथ स्वाभाविकता, लाघव, सजीवता और सार्थकता आवश्यक होती है।

4. देशकाल अथवा युग की पृष्ठभूमि

उपन्यास मानव-जीवन का चित्रण है जिसमें प्रधानतया मनुष्य के चारित्र्य का सजीव वर्णन रहता है। निश्चय है कि मनुष्य का सम्बन्ध अपने युग, समाज, देश और परिस्थितियों से रहता है अथवा मानव के चारित्र्य की पृष्ठभूमिरूप में देश-काल का चित्रण उसका एक आवश्यक अंग है। जितनी ही वास्तविक पृष्ठभूमि में चरित्रों को प्रकट किया जायेगा, उतनी ही गहरी विश्वसनीयता का भाव जगाया जा सकता है। इस पृष्ठभूमि के बिना हमारी कल्पना को ठहरने की कोई भूमि नहीं मिलती और न हमारी भावना ही रमती और विश्वास करती है।

परिस्थिति अथवा पृष्ठभूमि का चित्रण दो रूपों में होता है—एक तो समान और अनुकूल रूप में, दूसरे चरित्रों के लिए विषम और प्रतिकूल रूप में। पात्रों और उद्देश्य के अनुरूप उपन्यासकार दोनों ही स्थितियों का चित्रण कर हमारी कल्पना और अनुभूति को सजग करता है। सामाजिक उपन्यासों में तो लेखक प्रायः अपने युग की देखी-सुनी और अनुभूत पृष्ठभूमि देता है और पाठक के समसामयिक होने के कारण उसको जाँचने और विश्वास करने का अवसर होता है। आगामी युगों के पाठक के लिए तो सामाजिक उपन्यासकार सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास की सामग्री प्रदान करता है। अतः मेरा तो विश्वास यह है कि यदि उपन्यासकार अपने समाज का अत्यन्त यथार्थ—यहाँ तक कि ऐतिहासिक यथार्थता को ध्यान में रखकर वास्तविक जीवन का चित्रण करता है, तो वह न केवल साहित्य की सृष्टि करता है, वरन् सांस्कृतिक और सामाजिक इतिहास के लिए भी सामग्री तैयार करता है या पृष्ठभूमि बनाता है।

सामाजिक उपन्यासकार की अपेक्षा अधिक कठिनाई, ऐतिहासिक उपन्यासकार को युग की पृष्ठभूमि का चित्रण करने में उपस्थित होती है। ऐतिहासिक उपन्यास में लेखक को उस युगविशेष की पृष्ठभूमि का चित्रण करना पड़ता है जिसके चरित्रों का वह वर्णन करना चाहता है। अतः उसके वर्णन में उस युग के विशिष्ट रीति-रिवाज, चाल-ढाल और वातावरण के प्रामाणिक चित्रण द्वारा यह आभास देना पड़ता है कि वह वही युग है। उस युग के विपरीत कोई बात उसमें न होनी चाहिए। इसके साथ ही उपन्यास में संघटित एवं संयोजित घटनाएँ भी उस युग के इतिहास में घटित घटनाओं के मेल में होनी चाहिए, उनके विरुद्ध नहीं। इसके लिए ऐतिहासिक उपन्यासकार को उस युग के इतिहास का अच्छा ज्ञान होना चाहिए। लेखक जिन घटनाओं, पात्रों एवं परिस्थितियों की कल्पना करे, वे भी वैसी ही हों जैसी वास्तविक घटनाएँ हुई हों।

अतः हम देखते हैं कि कथानक को वास्तविकता का आभास देने के साधनों में वातावरण मुख्य है। उसके लिए स्थानीय ज्ञान अत्यन्त आवश्यक होता है। वर्णन में देश-विरुद्धता और काल-विरुद्धता के दोष नहीं आने चाहिए। देश-काल-चित्रण का वास्तविक उद्देश्य कथानक और चरित्र का स्पष्टीकरण है। अतः उसे इसका साधन ही होना चाहिए, स्वयंसाध्य न बन जाना चाहिए। प्राकृतिक दृश्यों का संयोजन यथार्थता का भी आभास देता है और भावों को उद्दीप्त भी करता है। अतः स्थानीय विशेषताओं का ध्यान रखते हुए प्रकृति की भावानुकूल पृष्ठभूमि देना उपन्यास की रोचकता की वृद्धि में सहायक होता है।

5. शैली

शैली का संकेत हम कथानक के साथ कर चुके हैं। इस सम्बन्ध में इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि जितनी स्वाभाविक अर्थात् पात्रानुकूल और स्थिति के अनुरूप शैली होगी, उतना ही उसका प्रभाव पड़ेगा। उपन्यास की शैली संकेतात्मक न होकर विवृतात्मक होती है, क्योंकि उसे पूर्ण वातावरण और उसमें रस और भावों की सृष्टि करनी होती है। अतः पात्र की शिक्षा, संस्कृति और मानसिक धरातल के अनुरूप ही उसकी भाषा होनी चाहिए। इसके लिए पाण्डित्यपूर्ण, व्यंग्ययुक्त भाषा से लेकर ठेठ

प्रादेशिक और ग्राम्य भाषा तक का प्रयोग यथावश्यक रूप में किया जाता है। शैली के सम्बन्ध में सामान्य-रूप से ये बातें ध्यान में रखने पर भी एक उपन्यासकार की शैली दूसरे से भिन्न होती है। प्रत्येक का अपना निजी अनुभव-क्षेत्र, वातावरण, संस्कार एवं शिक्षा होती है अतः जीवन को देखने और उसको चित्रित करने के अपने निजी ढंग हैं। निजीपन के होते हुए भी, जैसा पहले कहा जा चुका है, स्वाभाविकता और प्रभाव शैली की विशेषताएँ होनी चाहिए।

6. उद्देश्य

उपन्यास का प्रमुख संगठन-तत्त्व उसका उद्देश्य होता है। कुछ लोग केवल मनोरंजन के लिए उपन्यास पढ़ते हैं। यह तथ्य होने पर भी उपन्यास केवल मनोरंजन के लिए लिखा जाता है, यह तथ्य नहीं। उसका उद्देश्य जीवन की झाँकी देकर उसकी व्याख्या करना होता है। वह सामाजिक और पारिवारिक अनौचित्यपूर्ण चित्रणों द्वारा हमारे हृदय को आन्दोलित करता है, उसके भीतर आदर्श चरित्रों की प्रतिष्ठा कर हृदय का संस्कार करता है, साथ ही राष्ट्रीयता की भावना को जाग्रत करता है। एक युग और समाज के जीवन के चित्रण द्वारा वर्तमान युग और समाज के जीवन को प्रेरणा देने का काम भी उपन्यास का है। उपन्यास द्वारा नैतिक, सामाजिक अथवा राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रच्छन्न अथवा प्रत्यक्ष प्रचार भी होता है, पर उनका प्रत्यक्ष आग्रहपूर्वक प्रचार उपन्यास की त्रुटि और उपन्यासकार की दुर्बलता है। वास्तव में उपन्यास हमारे जीवन-सम्बन्धी अनुभव को समृद्ध बनाता है। एक साथ पूरे जीवन की झाँकियाँ देकर मानव-जीवन का ज्ञान प्राप्त करके, हम अपने दैनिक जीवन में सामंजस्य और सफलता प्राप्त कर सकते हैं, तथा कभी-कभी दैनिक जीवन की चिन्ताग्रस्त अवस्था से ऊबकर एक नवीन वातावरण में प्रवेश कर शांति प्राप्त करते हैं। इस प्रकार उपन्यास का उद्देश्य बहुमुखी होता है।

कहानी : स्वरूप, अंग और कला

आधुनिक युग में कहानी-साहित्य बहुत पनपा है। जहाँ रोचकता ने उसका प्रचुर प्रचार किया है, वहीं उनकी कला ने भी विकास पाया है। कहानी की विविध शैलियाँ देखने को मिलती हैं और कोई भी विषय इससे अछूता नहीं। पर कहानी केवल आजकल की ही वस्तु नहीं। कहानी का विकास मनुष्य की भाषा के साथ-साथ माना जा सकता है। जहाँ मनुष्य ने बोलना सीखा, कहानी ने भी कोई-न-कोई रूप अवश्य ग्रहण किया। प्राचीन कहानी और आजकल की कहानी में उसी प्रकार भेद है जैसा राजतंत्र और स्वतंत्र-शासन में। आदिम कहानी विशेष एवं प्रसिद्ध व्यक्तित्व को लेकर चली थी; पर आज की कहानी का नायक साधारण और उपेक्षित जन है। प्रारम्भ में कहानी कही जानेवाली वस्तु थी, लिखी-पढ़ी जानेवाली वस्तु नहीं, जैसा कि 'कहानी' नाम से ही विदित है। पर यह अन्तर होते हुए भी जब हम कहानी के मुख्य तत्त्व को खोजते हैं, तो कही जानेवाली कहानी में वह उतनी ही सबलता से विद्यमान मिलता है जितना वर्तमान लिखित कहानियों में। कहने का तात्पर्य यह है कि कहानी का साथ जीवन से है। जीवन की प्रत्येक अवस्था में किसी-न-किसी रूप में कहानी की उपस्थिति है। कहानी को इतना जानते हुए भी,

'कहानी क्या है' इस प्रश्न का उत्तर तुरन्त नहीं दे सकते; क्योंकि कहानी का स्वरूप इतना सरल नहीं कि तुरन्त उसे सीमित किया जा सके। कहानी के स्वरूप में जितनी विविधता आयी है, उतनी और किसी साहित्यिक रचना के स्वरूप में नहीं। हम कहना चाहें तो कह सकते हैं कि हमारी कहानी ने ही युग और अवसर के अनुकूल महाकाव्य, खण्डकाव्य, कथा, आख्यायिका, उपन्यास, गल्प, नाटक आदि के रूप ग्रहण किये हैं। इसी कारण जब हम कहानी के स्वरूप का विश्लेषण करते हैं तो इसके अवयवों में इन सभी के तत्त्व पा जाते हैं और यही एक बड़ा कारण है कि आजकल मानव-समाज साहित्य के नाते कहानी पर ही जा रहा है। हमारा विश्वास है कि मानव की जिज्ञासा-तृप्ति के लिए कहानी किसी-न-किसी प्रकार चिरन्तन रूप से आवश्यक है।

ऐसी कहानी को परिभाषा के घेरे में बाँधना कठिन है। इसलिए वैज्ञानिक रूप से उसकी परिभाषा न देकर उसके स्वरूप को समझने का प्रयत्न ही अधिक श्रेयस्कर होगा। आजकल के काव्य में कहानी का प्रमुख स्थान है। समाचारपत्रों में कहानी का रूप रहता ही है, कहानी की स्वतन्त्र पत्रिकाएँ निकलती हैं, साथ ही साहित्यिक पत्रिकाओं में भी कहानी को स्थान देना पड़ता है और जनसाधारण की रुचि भी कहानी की ओर अधिक है। अत: कहानी का महत्त्व किसी से छिपा नहीं है। इसके अतिरिक्त धर्म की व्याख्या और प्रचार के लिए कहानी का आश्रय पुराणों एवं जातककथाओं में लिया गया। सामाजिक व्यवस्था तथा नीति और उपदेश के लिए हितोपदेश, पंचतन्त्र आदि कहानियों की सृष्टि हुई। व्यक्तिगत शूरता और प्रताप के विस्तार के लिए बैताल पचीसी, सिंहासन बत्तीसी, भोजप्रबन्ध आदि कहानियाँ रची गईं। और आज भी अनेक राजनीतिक और सामाजिक सिद्धान्तों एवं विश्वासों के प्रचार के हेतु कहानी का पल्ला पकड़ा जाता है। अत: न केवल काव्य में ही वरन् सामाजिक और धार्मिक शास्त्रों में भी कहानी का महत्त्वपूर्ण स्थान है, वहाँ भी उद्देश्य-सिद्धि के लिए कहानी एक सबल साधन है। शास्त्रोपयोगी कहानियों और काव्यान्तर्गत कहानियों के स्वरूप में भिन्नता है। प्रथम में उद्देश्य और उपयोगिता प्रधान है जबकि द्वितीय में शैली और कला। एक का उद्देश्य शिक्षा और सुधार है तो दूसरे का उद्देश्य मनोरंजन और ज्ञानवर्द्धन, किन्तु इस प्रकार का अन्तर हमें कहानी के प्राचीन रूपों में ही देखने को मिलता है। नवीन रूप में या तो काव्यगत रूप ही प्रधान हैं या अधिक-से-अधिक दोनों रूप मिलकर एक हो गये हैं। यहाँ पर हम कहानी के काव्यगत रूप पर ही विचार करेंगे।

कहानी और कविता

कहानी के स्वरूप को समझने के लिए यह आवश्यक है कि काव्य के अन्य अंगों से इसकी विषमता प्रकट की जाय। अत: कहानी और कविता, कहानी और उपन्यास के पारस्परिक साम्य और वैषम्य पर विचार करना आवश्यक होगा। सबसे प्रथम हम कहानी और कविता को लेते हैं। कहानी और कविता में स्थूल भेद तो यह है कि कहानी की भाषा गद्य और कविता की भाषा पद्यरूप होती है। कविता के अन्तर्गत मैं आजकल की छन्दस्वच्छन्द कही जानेवाली कविता को भी ले रहा हूँ। कविता के अन्तर्गत छन्द आवश्यक है। जहाँ पर हमारा उद्गार किसी भी नियमित गति के अनुकूल चलता है वहाँ छन्द आ ही जाता है। गति ही छन्द का प्रमाण है और गति कविता के लिए भी अनिवार्य

है। व्याकरण के नियमों की अवहेलना या उसका त्याग जहाँ पर भी गति के लिए किया जाय वहाँ हमें छन्द की सत्ता माननी पड़ेगी। अत: कविता और कहानी का स्थूल भेद कहानी की गद्य-रचना में है। दूसरे भेद कहानी और कविता में यह है कि कविता विशिष्ट भावनाओं को लेकर चलती है जबकि कहानी जीवन की सामान्य अनुभूतियों को ही ग्रहण करती है। कवि वस्तुओं और अनुभूतियों के कल्पनागत रूपों का चित्रण करता है, कहानीकार अनुभूत जीवन की यथार्थता को। कवि वास्तविकता का ध्यान रखते हुए भी ऐसा चित्र उपस्थित करेगा जो हमारी कल्पना को अधिक संतुष्ट करे। उसका प्रयत्न वस्तु की अन्तरात्मा का चित्रण करने में और उस सार्वभौम सत्य को पकड़ने में है जो हमारी आन्तरिक वृत्तियों का जीवन है, पर कहानीकार कल्पना के सहारे वास्तविक जीवन के स्थूल दृश्य उपस्थित करता है। हमारे अनुभूत जीवन के क्षणों को फिर जगाता है। कवि विषय से घुल-मिलकर एक हो जाता है। अत: कविता अपने पाठक के बीच में कोई अन्तर नहीं रखना चाहती और कहानीकार विषय का दर्शक रहता है और पाठक देखे-सुने जीवन के दृश्यों को फिर से देखता है। कहानीकार विषय और घटनाओं का सञ्चालक होता है परन्तु कवि उनके साथ स्वयं चलता है। कविता के कुछ रूप वे भी हैं जिनमें कहानी मिल गई है, जैसे खण्डकाव्य, महाकाव्य आदि। इनमें दोनों प्रकार के आनन्द प्राप्त होते हैं।

कहानी और उपन्यास

कहानी और उपन्यास एक ही कोटि के हैं पर उनमें भेद अवश्य है, जैसा हम पहले कह चुके हैं। इनमें सबसे पहला भेद तो आकार का ही है। उपन्यास समाज की पृष्ठभूमि में किसी भी व्यक्ति के पूर्ण जीवन का वर्णन करता है जबकि कहानी जीवन की किसी अवसर-विशेष का ही चित्र उपस्थित करती है। उपन्यास के भीतर आनेवाले अनेक अवसर स्वत: पूर्ण कहानी नहीं होते। उनमें आगे की घटनाओं के प्रति जिज्ञासा जगती है जो उपन्यास के अन्त में जाकर पूरी होती है। पर कहानी में किसी भी अवसर का चित्रण स्वत: पूर्ण होता है। जिज्ञासा-तृप्ति का साधन इनके ही अन्तर्गत रहता है, वह दूसरे अवसर का मुखापेक्षी नहीं रहता। तत्त्व की दृष्टि से यद्यपि उपन्यास और कहानी में मौलिक भेद नहीं है, पर एक की कला पूर्ण विवरण में है और दूसरे की संक्षिप्ति में। कहानीकार कथोपकथन, वर्णन, पात्र आदि में किसी एक प्रकाशन के साधन से सन्तुष्ट हो सकता है; परन्तु उपन्यासकार केवल एक से ही काम नहीं चला सकते। उपन्यास का क्षेत्र प्राय: वस्तु-वर्णन के ही अन्तर्गत है जबकि कहानीकार अपनी आन्तरिक भावनाओं को गीतिकाव्य की भाँति नितान्त व्यक्तिगत ढंग से ही व्यक्त कर सकता है अर्थात् कहानी में स्वानुभूति-चित्रण का उपन्यास से अधिक अवसर है।

कहानी और नाटक

कहानी और नाटक में साम्य संक्षिप्ति और कथोपकथन में ही है। नाटककार से कहानीकार अधिक स्वच्छन्द है। कहानी में कथोपकथन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पर कहानीकार वर्णन को भी अपना सकता है, किन्तु नाटककार की भावाभिव्यक्ति का साधन एकमात्र कथोपकथन ही है। नाटककार की भाँति कहानीकार को भाव-प्रकाशन के साधनों की कठिनाई नहीं होती। हाँ, कहानीकार के वर्णन और कथोपकथन दोनों ही

बहुत संगत होने चाहिए। नाटकों में एकांकी का कहानी से अधिक साम्य है। इसी से उनका भी प्रचार आधुनिक काल में हुआ है। कहानी की भाँति एकांकी भी एक अवसर का पूर्ण चित्रण करते हैं और थोड़े ही समय में जीवन के किसी क्षण की पूर्ण झाँकी दे देते हैं। कला की दृष्टि से कहानी नाटक से अधिक स्वच्छन्द है।

इन अनेक काव्य-भेदों से साम्य रखते हुए भी कहानी की अपनी विशेषताएँ हैं और आधुनिक युग में उसकी अपनी शक्ति है। कहानी का प्रचार समाज के प्रत्येक वर्ग में है; क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति की अनुभूति और वासना को जगानेवाली कोई-न-कोई कहानी रहती ही है। कहानी की दूसरी विशेषता यह है कि मनुष्य अधिक व्यस्त होते हुए भी कहानी पढ़ने का अवकाश निकाल ही लेता है। इसके पाठक और लेखक भी युग की प्रत्येक परिस्थिति में उत्पन्न हो सकते हैं। अत: कहानी का शाश्वत महत्त्व है। तीसरी विशेषता यह है कि कहानी का क्षेत्र बहुत विस्तृत और व्यापक है—इतना व्यापक है जितना कि मानव-जीवन। अथवा हम कह सकते हैं कि वह मानव-जीवन से भी अधिक व्यापक है, क्योंकि कहानियाँ आकाश और पाताल की भी होती हैं, वे पर्वत, पत्थर, पेड़, पशु और पक्षियों के जीवन को भी अपनाती हैं। मनुष्य समाज के बाहर भी उनका बहुत अधिक क्षेत्र रहा है। ईसप, हितोपदेश, जातक आदि की कहानियाँ इसके प्रमाण हैं। चौथी विशेषता यह है कि इसके व्यापक क्षेत्र के अनुसार ही इसकी शैली भी बहुत प्रकार की हो सकती है। अत: अन्य कलाओं की भाँति इसके लिए अधिक शिक्षा और अधिक अभ्यास की अपेक्षा नहीं है। पाँचवीं विशेषता यह है कि इसके द्वारा समयानुकूल विचारों का प्रचार भी किया जा सकता है और इस दृष्टि से यह समाज और देश के कल्याण और उन्नति का साधन भी है। अत: मनोरंजन, सुधार, प्रचार और प्रगति ही कहानी की शक्तियाँ हैं। इनकी सदैव आवश्यकता रहती है। इसीलिए कहानी का इतना अधिक सम्मान है।

मुख्य तत्त्व

कहानी का मुख्य तत्त्व कुतूहल है। यही किसी-न-किसी रूप में कहानी में उपस्थित रहकर कहानी की रोचकता को बढ़ाता और हमें प्रारम्भ से लेकर अन्त तक पढ़ने को विवश करता है। कहानी अपने कहे जानेवाले रूप में कुतूहल पर अधिक आश्रित रहती है और इसी के बल पर ही कहानी सुनानेवाले सुनाते-सुनाते बीच में रुककर श्रोताओं से पैसा ले लेते थे और श्रोतागण कुतूहल-वश पैसा देकर भी अधूरी कहानी को पूरी सुनते थे। यह मनुष्य के भीतर जाग्रत कुतूहल की ही माया है। आजकल लिखित कहानी के भीतर कुतूहल ने दूसरा रूप धारण किया है। अब यह केवल घटना का ही कुतूहल नहीं रह गया, वरन् चरित्र और मनोवैज्ञानिक तथ्य की जिज्ञासा के रूप में परिणत हो गया है। निश्चित है कि कहानी के भीतर कुतूहल किसी-न-किसी रूप में अवश्य विद्यमान रहना चाहिए।

कहानी का विश्लेषण करने पर हमें उसके भीतर छ: आवश्यक अवयवों की स्थिति मिलती है। वे हैं कथानक, चरित्र-चित्रण, वर्णन, कथोपकथन, भाषाशैली और उद्देश्य। इन्हीं आवश्यक अंगों के स्वरूपों का परिवर्तन एवं विकास कहानी के भीतर

भिन्न-भिन्न युगों में देखने को मिलता है और इन्हीं को प्रभावशाली, रोचक और पूर्ण बनाने में कहानी-कला का अस्तित्व है। आगे हम इन्हीं अवयवों का विश्लेषण कर कहानी-कला की स्थिति पर विचार करेंगे।

कहानी के अंग

एक समय था जब कहानी 'एक था राजा, एक थी रानी' रूप में चला करती थी। उस समय कहानी के कथानक का विकास, जिस क्रम से घटनाएँ घटित होती थीं, उसी क्रम से किया जाता था। मौखिक कहानियों में यह बात प्राय: अब भी चलती है। ऐसी दशा में घटना की विचित्रता और असाधारणता ही रोचकता का कारण हो सकती है। पर आजकल की लिखित कहानी में विचित्र और असाधारण घटनाओं का महत्त्व नहीं है। कहानी में जितनी ही स्वाभाविक घटनाएँ और वर्णन होगा, कहानी उतनी ही सफल मानी जायगी। स्वाभाविक घटनाओं में कथानक का वह कुतूहल नहीं रहता जो विचित्र घटनाओं में। अत: आधुनिक लिखित कहानियों में कहानी-लेखक कथानक की स्वाभाविक घटनाओं में भी कुतूहल जगाने के हेतु घटनाओं के क्रम में परिवर्तन कर देता है। वह कहानी का आरम्भ ही ऐसे ढंग से और ऐसे स्थल से करता है कि शेष घटनाओं के लिए जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है और इसी के सहारे वह कुतूहल की मात्रा अन्त तक बनाये रखता है। इस घटना-क्रम के चुनाव में ही कहानी की कथानक-सम्बन्धी कला है।

कथानक और चरित्र-चित्रण कहानी का विषय या सामग्री होते हैं और वर्णन, कथोपकथन आदि उसके स्वरूप और उपकरण। कथानक और चरित्र-चित्रण वर्णन और कथोपकथन आदि से व्यक्त किये जाते हैं। कथानक का महत्त्व तो स्पष्ट हो चुका, चरित्र-चित्रण का महत्त्व भी कम नहीं है। कहानी के पात्रों का सजीव स्पष्टीकरण चरित्र-चित्रण के लिए आवश्यक है। कहानी में यदि कथानक है तो उसके अन्तर्गत कुछ पात्र अवश्य होंगे और उन पात्रों का सजीव वर्णन और पूर्ण परिचय ही चरित्र-चित्रण का काम है। पात्रों के गुण, दोष, स्वभाव, व्यवहार, योग्यता, रूप, रंग, आकार आदि सभी बातें चरित्र-चित्रण के अन्तर्गत आती हैं और इन विषयों पर जो भी कहानी विशेष प्रकाश डालती है वही अधिक प्रभावशाली होती है। चरित्र-चित्रण के लिए जिन पात्रों को चुना गया है उनके व्यक्तित्व की पूरी छाप कहानी-लेखक के मस्तिष्क पर होनी चाहिए और उसी प्रकार की छाप पाठक पर भी लगनी चाहिए। चरित्र-चित्रण को पूर्ण रीति से स्पष्ट करने के लिए किसी पात्र की विशेषताओं को तीन भागों में बाँट सकते हैं—शारीरिक, मानसिक, आत्मिक या चारित्रिक। शारीरिक विशेषताओं के भीतर रंग, रूप, आकार, वेश-भूषा, गठन आदि शारीरिक गुणों का वर्णन होता है जिससे कि व्यक्ति का चित्र आँखों के सामने उपस्थित हो सके। मानसिक विशेषताओं के अन्तर्गत उसके बौद्धिक गुणों का परिचय मिलना चाहिए तथा आत्मिक विशेषताओं के अन्तर्गत उसकी सहृदयता और सद्व्यवहार का वर्णन होना चाहिए। इस प्रकार से किसी के भी चरित्र में उपर्युक्त विशेषताओं का वर्णन चरित्र-चित्रण के अन्तर्गत है। इन सभी विशेषताओं के प्रति मनुष्य की स्वाभाविक जिज्ञासा रहती है। अत: इनका वर्णन स्वयं

ही रोचक होता है। मनुष्य यह जानना चाहता है कि किसी विशेष परिस्थिति में मनुष्य किस प्रकार का व्यवहार करता है। अत: चरित्र के विषय में कुतूहल सदा ही रहता है। आजकल मनोदशाओं का चित्रण कहानीकार का रोचक कार्य समझा जाता है। चरित्र-सम्बन्धी इन अनेक विशेषताओं का स्पष्टीकरण और प्रमाण कथानक की अनेक घटनाओं से भी प्राप्त होता है। अत: दोनों अंग एक दूसरे का अवलम्बन लेते हैं। कहानी का मुख्य तत्त्व कुतूहल यहाँ भी विद्यमान है।

वर्णन और कथोपकथन ही कथानक और चरित्र-चित्रण को हमारे सामने रखते हैं। ये दो उपकरण हैं जिनके द्वारा कहानी का विकास होता है। वर्णन और कथोपकथन दोनों अकेले या मिलकर कथावस्तु और चरित्र-चित्रण को प्रकट कर सकते हैं। वर्णन कहीं पर घटना की पृष्ठभूमि तैयार करता है, कहीं चरित्र का विश्लेषण करता है और कहीं स्वयं घटना को प्रस्तुत करता है। कथोपकथन भी घटना के विकास और चरित्र के प्रकाशन का उपयोगी और स्वाभाविक साधन है। इन दोनों का ही उपयोग कहानीकार अपनी रुचि और आवश्यकता के अनुसार करता है। स्वाभाविकता और संक्षिप्ति के गुण दोनों में होने चाहिए। इन दोनों में कहानी के मुख्य तत्त्व कुतूहल को सजग रखने की विशेषता होती है।

भाषा और शैली के विषय में कहानीकार को काफी स्वतन्त्रता होती है। पात्रों के अनुकूल और अपनी रुचि के अनुसार भाषा का प्रयोग होना चाहिए जो कथानक और चरित्र-चित्रण को वर्णन और कथोपकथन द्वारा व्यक्त कर सके। आजकल के कुछ कहानीकार काव्यमयी भाषा का प्रयोग करते हैं और कुछ स्वाभाविक बोल-चाल की भाषा का, कुछ भाषा की भावुकता लेकर चलते हैं और कुछ संकेतमय आवश्यक और प्रकाशन में समर्थ संक्षिप्त शब्दावली अथवा प्रतीकों का उपयोग करते हैं। इसके विषय में कुछ विशेष नियम नहीं बनाये जा सकते। यह कहानीकार की आवश्यकता और रुचि पर ही निर्भर करता है। पर इतना अवश्य है कि कहानी जैसी संक्षिप्त रचना में व्यर्थ के शब्दालंकार का स्थान नहीं है और कहानी-कला यही चाहती है कि शब्द अतीव आवश्यक और समर्थ हो। शैली भी अपनी रुचि की है और नई-नई शैलियाँ क्षेत्र में आती-जाती हैं। वर्णन और वार्त्तालापपूर्ण शैली के अतिरिक्त कुछ डायरी के रूप में कहानी लिखते हैं, कुछ सप्ताह भर की घटनाओं के रूप में। कुछ पत्रों द्वारा कहानी लिखते हैं। पर स्वाभाविक और प्रभावपूर्ण शैली वर्णन और वार्त्तालाप दोनों को लेकर चलनेवाली होती है। जिस प्रकार जीवन में वर्णन या वार्त्तालाप का प्रमुख स्थान है, मनुष्य का समय इन्हीं द्वारा बीतता है, उसी प्रकार कहानी में भी स्वाभाविक वर्णन या वार्त्तालाप का महत्त्व है। शैली की स्वाभाविकता कहानी की जान है। आजकल कहानी के तत्त्व और उपकरणों के आधार पर अनेक शैलियाँ प्रचलित हैं, जैसे वर्णन-प्रधान शैली, घटना-प्रधान शैली, चरित्र-प्रधान शैली, कथोपकथन-प्रधान शैली, पत्र शैली, डायरी शैली, प्रतीक शैली आदि। यही कहानी के भी प्रकार हो सकते हैं। पर जैसा कहा जा चुका है, स्वाभाविक और सफल कहानी वही है जिसमें वर्णन और वार्त्तालाप दोनों का सहारा लेकर कथानक का विकास एवं चरित्र-चित्रण उपस्थित किया गया हो। यह सदा ही ध्यान रखना चाहिए कि संक्षिप्त और स्वाभाविक शैली कहानी-कला का आवश्यक अंग है।

कहानी के अन्तर्गत उद्देश्य की आवश्यकता सभी नहीं मानते। कहानी में घटना का वर्णन होता है और उस वर्णन का कोई उद्देश्य नहीं, ऐसा बहुतों का विचार है। पर कहानी का उद्देश्य उसका अत्यन्त आवश्यक अङ्ग है। अधिकांश तो कहानी का उद्देश्य मनोरंजन होता ही है। जिस किसी घटना के साथ कहानीकार का भावात्मक सम्बन्ध हो जाता है उसका पूर्ण और सजीव चित्रण कर वह पाठक को भी उसका अनुभव कराना चाहता है और इसमें कभी केवल मनोरंजन और कभी अन्य उद्देश्य भी रहता है। पर कुछ कहानियाँ उद्देश्य को लेकर ही लिखी जाती हैं। उद्देश्य चाहे स्पष्ट न हो, पर व्याप्त अवश्य रहता है। नीति, धर्म, उपदेश, प्रचार के उद्देश्य कहानियों में ढूँढ़ने से मिलते हैं। सच्चरित्र का आदर्श सामने रखकर कहानीकार समाज का सुधार करना चाहता है, वीर का आदर्श अङ्कित कर समाज को वीर बनाना चाहता है और पीड़ितों का चित्रण कर समाज को अपने कर्त्तव्य की ओर उन्मुख करना चाहता है। इस प्रकार खोजने से कहानी के भीतर कोई-न-कोई उद्देश्य मिल जाता है। कहानीकार का भीतर से कुछ उद्देश्य रहता अवश्य है अन्यथा वह घटनाओं का चुनाव ठीक रीति से नहीं कर सकता। पर कहानी की कला इस बात में है कि कहानी हमारी अनुभूतियों को उकसाती हुई अन्त में जाकर ही अपने उद्देश्य को प्रकट करे जिससे कि उसके साथ हमारा भावात्मक सम्बन्ध हो जाय और हम उसे भूल न सकें। कहानी एक पूर्ण रचना है, इस दृष्टि से भी वह उद्देश्यहीन नहीं हो सकती। साथ-ही-साथ एक बात और है कि कहानीकार के उद्देश्य को खोजते चलने में कहानी के भीतर कला का स्वरूप अधिक स्पष्ट होता चलता है, अन्यथा हम कहानी की कला का उचित मूल्यांकन नहीं कर सकते। इस कारण कला का विश्लेषण करते समय कहानी के उद्देश्य पर ध्यान रखना आवश्यक है। कहानी का मुख्य तत्त्व कुतूहल यहाँ भी अपनी स्थिति से कहानी-कला की श्री-वृद्धि करता है। उद्देश्य के प्रति कुतूहल जगे, पर वह अन्त में ही सन्तुष्ट हो, इसी में कहानी की पूर्णता और सफलता है। इस प्रकार कहानी के अनेक अवयवों के भीतर कहानी के मुख्य तत्त्व कुतूहल की अभिव्यंजना में ही कहानी-कला की स्थिति रहती है और कहानीकार को इसी की पूर्ति में पूरा प्रयत्न करना चाहिए।

आधुनिक जीवन में कहानी का प्रभाव किसी से छिपा नहीं और जीवन जितना ही जटिल और रहस्यमय होता जाता है, कहानी-कला भी उतनी अधिक सूक्ष्म होती जाती है। अतः सम्भव है आगे आनेवाली कहानी का स्वरूप, कला के रूप में भी कुछ विकास उपस्थित करे। पर यह अवश्य है कि कहानी का भविष्य बड़ा उज्ज्वल है, इसमें बड़ा विकास होगा पर कहानी-कला को समझने के लिए जीवन को भलीभाँति समझना होगा।

शब्दचित्र-रिपोर्ताज (सूचनिका)-कहानी

अपने सम्पर्क में आए किसी विलक्षण व्यक्तित्व अथवा संवेदना को जगानेवाली सामान्य विशेषताओं से युक्त किसी प्रतिनिधि चरित्र के मर्मस्पर्शी स्वरूप को, देखी-सुनी या संकलित घटनाओं की पृष्ठभूमि में इस प्रकार उभारकर रखना कि उसका हमारे हृदय में एक

निश्चित प्रभाव अङ्कित हो जाय, रेखाचित्र या शब्दचित्र कहलाता है। यह गद्य-पद्य दोनों में ही हो सकता है। पर आजकल प्रधानतया इसका विकास गद्य में देखने को मिलता है। कहानी और सूचनिका (Reportas) से यह भिन्न है। ये भिन्नताएँ निम्नलिखित हैं—

1. कहानी का उद्देश्य जहाँ पर कथानक, चरित्र, वर्णन, कथोपकथन, शैली और उद्देश्य सबका समन्वित रूप से कलात्मक संगठन होता है, वहाँ पर चित्रण का प्रमुख उद्देश्य चारित्रिक उभार है।
2. कहानी कल्पना पर आश्रित रहती है, पर शब्दचित्र किसी देखे-सुने, अनुभव से टकराए वास्तविक व्यक्ति की चारित्रिक विशेषताओं का मर्मस्पर्शी चित्रण होता है।
3. कहानीकार घटनाओं का संगठन करके, कल्पना में विभिन्न परिस्थितियों को लाकर फिर किसे पहले, किसे बाद में रखे, यह सोचता-विचारता है। पर शब्द-चित्रकार तो अपने अनुभव का विश्लेषण कहीं से भी प्रारम्भ कर देता है और अपने हृदय पर पड़े व्यक्तित्व और प्रभाव को सजीवता के साथ संस्मरणात्मक ढंग पर स्पष्ट करता जाता है। शब्दचित्र वास्तव में किसी व्यक्ति के संस्मरणों का कलात्मक संगठन है। संस्मरण किसी प्रसिद्ध व्यक्ति के होते हैं और प्रायः मृत्यु के उपरान्त लिखे जाते हैं, पर शब्दचित्र में किसी भी अप्रसिद्ध उपेक्षित व्यक्ति की भी प्रभावकारी विशेषताओं का जीता-जागता रूप प्रस्तुत किया जाता है।

इसी प्रकार की विभिन्नताएँ शब्दचित्र और सूचनिका में देखने को मिलती हैं।

रिपोर्ताज (सूचनिका) किसी स्थान या घटना का यथार्थ, सजीव, मर्मस्पर्शी और संवेदना को उभारनेवाला वर्णन होता है। इसमें घटना या दृश्य प्रधान रहता है, चरित्र या व्यक्ति नहीं। परन्तु शब्दचित्र में प्रधान चरित्र और व्यक्ति रहता है। घटना आदि पृष्ठभूमि के लिए ग्रहण की जाती है। यथार्थता की विश्वसनीयता, वैयक्तिक सम्पर्क की सजीवता और ऊष्मा तथा शैली की मर्मस्पर्शिता शब्दचित्र को लोकहृदय के संस्कार करने का अत्यन्त प्रभावशाली माध्यम सिद्ध करती है। इसका कारण यह होता है कि हम अपने अनुभव से टकराए हुए व्यक्तियों को इसके बहाने समक्ष प्रस्तुत पाते हैं। अनेक करुणापूर्ण चित्रणों को पढ़कर व्यापक मानवता का विकास होता है।

ऐसी बात नहीं कि शब्द-चित्रकार सदैव अपने नायक की प्रशंसा ही करे, वह सहानुभूति रखता हुआ भी उसके गुणों और दोषों को समान रूप से सजीवता के साथ स्पष्ट करता है। यहाँ लेखक का व्यक्तित्व तटस्थ रहता है। वह गुणों और दोषों को प्रकट करते हुए हमारे सामने जीते-जागते, भलाई-बुराई करते हुए मानव-स्वभाव की झलक प्रस्तुत करता है।

इन चित्रणों में जितना प्रत्यक्ष हमारे सामने शब्द-चित्र का नायक होता है, उतना ही लेखक स्वयं भी। हम लेखक के माध्यम से पात्र के चरित्र का प्रभाव तो प्राप्त करते ही हैं, पात्र के विश्लेषण से लेखक की बुद्धि, भाव, संस्कार, आदर्श और प्रवृत्ति से भी पूर्णतः परिचित हो जाते हैं।

शब्दचित्र की प्रमुख विशेषताएँ

शब्दचित्र की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं, जिनके माध्यम से नायक की विशेषताओं और उसके व्यक्तित्व का स्वरूप स्पष्ट होता है। शब्दचित्र की प्रमुख विशेषताएँ निम्नांकित हैं—

शब्दचित्र की पहली विशेषता है—वास्तविक वर्णन। लेखक नायक का वर्णन यथार्थ की पृष्ठ-भूमि पर प्रस्तुत करता है जिसमें झूठ या बनावटी बातों को स्थान नहीं मिलता है। परिस्थिति के बीच व्यक्ति का उभार होता है जिसमें उसकी चारित्रिक विशेषता स्पष्ट होती है। चित्र की भाँति परिस्थितियों और घटनाओं का उतना ही चित्रण होता है जितना कि संवेदना जाग्रत करने और परिचय पाने के लिए आवश्यक होता है।

शब्दचित्र की दूसरी और प्रमुख विशेषता है—चरित्रगत विशेषताओं का उभार। लेखक अपने अनुभव के प्रमाण के साथ, व्यक्ति की रूपरेखा और व्यक्तित्व को स्पष्ट करने का प्रयास करता है। रूपरेखा, मुद्राओं और चेष्टाओं का यथार्थ चित्रण होता है जिसमें उस व्यक्ति की चारित्रिक झाँकी सी प्राप्त होती है। चरित्र की विशेषताओं का विश्लेषण, मानसिक स्थिति, दूसरों के साथ व्यवहार, संकट की परिस्थितियों में कार्य, परोपकार और देशप्रेम आदि का चित्रण प्रमुख रूप से होता है।

शब्दचित्र की तीसरी विशेषता है—भाव और संवेदना को जाग्रत करना। ये हमारे भाव हैं जो लेखक के वर्णन से प्रकट होते हैं। करुणा, हास, प्रेम जो प्रमुख भाव हैं, वह भी शब्दचित्र से जाग उठते हैं। प्रमुख भावों के उभार में लेखक की भाषाशैली तथा सूक्ष्म दृष्टि महत्त्वपूर्ण है। भाव और संवेदना को जाग्रत करने में लेखक का व्यक्तित्व तटस्थ रहता है। परन्तु, उसके वर्णन में सहानुभूति, विनोदी व्यक्तित्व, करुणा, व्यंग्य, आत्म-प्रकृति और अनुभव का सामंजस्य रहता है। लेखक का यही सामंजस्य हमारी भावनाओं और संवेदनाओं को जाग्रत करने में सफलता प्राप्त करता है।

शब्दचित्र की चौथी विशेषता है—शैली। शब्दचित्र की सफलता लेखक की शैली पर आधारित है। वर्णन-शैली में हास्य-व्यंग्यपूर्ण, चुभते हुए विशेषण, नई किन्तु तुली हुई शब्दावली होती है जिसमें वैयक्तिक सम्पर्क की आत्मीयता और सहानुभूति का सामंजस्य होता है। बीच-बीच में पात्र के मुख से रखे वास्तविक एवं स्वाभाविक वार्त्तालाप में लेखक की विशेषता ही प्रकट होती है। लेखक की शैली में कहीं-कहीं कवित्वपूर्ण शैली भी दृष्टिगोचर हो जाती है।

शब्दचित्र की पाँचवीं विशेषता है—उद्देश्य। शब्दचित्र का प्रमुख उद्देश्य चरित्र को सजीवता से स्पष्ट करके हृदय-परिष्कार, धारणा-परिवर्तन, उदारता का विकास, लोक-हृदय का निर्माण, न्याय के प्रति जागरूकता, चेतना, दुखियों के प्रति करुणा आदि के भाव जाग्रत करना है। इस प्रकार प्रेम और सहानुभूतिपूर्ण जीवन का आदर्श स्थापित करना और जीवन के वास्तविक रूपों और अनुभवों में रस लेना शब्दचित्र का मुख्य उद्देश्य है।

■■

4

दृश्यकाव्य-मीमांसा

अध्याय 4

दृश्यकाव्य-मीमांसा

काव्येषु नाटकं रम्यम्

काव्य-भेदों में नाटक जितना रमणीय है, उतना ही प्राचीन और महत्त्वपूर्ण भी। यूनान और भारत दोनों ही प्राचीन सभ्यता के देशों में दृश्यकाव्य का विकास बहुत प्राचीन काल में ही हो गया था। अभिनयशील या दृश्यकाव्य का संस्कृत में नाम रूपक और पाश्चात्य साहित्य में 'ड्रामा' (Drama) है। अरिस्टॉटिल तथा अन्य पाश्चात्य आचार्यों के विचार से नाटक जीवन की अनुकृति है[1], भारतीय नाटक के क्षेत्र में भी यही धारणा स्वीकार की गई है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में लिखा है—

देवतानां मनुष्याणां राज्ञां लोकमहात्मनाम् ।
पूर्ववृत्तानुचरितं नाटकं नाम तद् भवेत् ॥

इसी प्रकार दशरूपकार धनंजय ने भी लिखा है—

अवस्थानुकृतिर्नाट्यं रूपं दृश्यतयोच्यते ।
रूपकं तत्समारोपात् ॥

किसी की स्थिति-विशेष का अनुकरण नाट्य या अभिनय कहलाता है। रूपक, नाटक या दृश्य-काव्य में नाट्य या अभिनय का प्रधान स्थान होता है। अत: दृश्यकाव्य के भीतर काव्यवस्तु, चरित्र तथा दृश्यों का इसी प्रकार से संगठन होता है जिन्हें रंगमंच पर दिखाया जा सके। इस दृष्टि से रूपक की रचना कठिन मानी जाती है। दृश्यकाव्य के दो भेद संस्कृत में मिलते हैं—1. रूपक, 2. उपरूपक। रूपक के दस और उपरूपक के अठारह भेद माने गये हैं, जो निम्नांकित हैं—

रूपक—नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, व्यायोग, समवकार, डिम, वीथी, अंक, ईहामृग।

---

1. Tragedy is primarily imitation of action.–*Aristotle*.
Drama is a copy of life, a mirror of custom, a reflection of truth.–*Cicero*.
Drama is a mirror in which nature is reflected.
–*Victor Hugo*.

उपरूपक—नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थान, उल्लाप्य, काव्य, प्रेंखण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिता, दुर्मल्लिका, प्रकरणी, हल्लीश तथा भाणिका।

इन भेदों में रूपक के भेदों के ही प्रयोग अधिक मिलते हैं, उपरूपकों के भेदों का प्रयोग प्रायः नहीं मिलता। अतः यहाँ हम रूपक के भेदों के ही लक्षण देना आवश्यक समझते हैं।

1. नाटक

रूपक के भेदों में नाटक ही सबसे अधिक प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण भेद है। इसमें नाट्यशास्त्र के अधिकांश अभिनय-सम्बन्धी लक्षणों का समावेश हो जाता है।[1] इसमें वीर अथवा श्रृङ्गार रस की प्रधानता होनी चाहिए तथा अन्य रस गौण रूप में आने चाहिए। नाटक अपनी व्यापक और सर्वग्राहिणी प्रकृति के कारण हिन्दी में संस्कृत के रूपक के स्थान पर प्रयुक्त होता है और दृश्यकाव्य का पर्याय है। अभिनयात्मक काव्य के समस्त भेद इसके अन्तर्गत होते हैं।

नाटक की कथावस्तु प्रसिद्ध होती है। उसका नायक (आधिकारिक कथावस्तु का प्रधान पात्र) राजा, राजर्षि, दिव्य अथवा दिव्यादिव्य कोई व्यक्ति होता है। वह धैर्य,

---

1. साहित्यदर्पण में नाटक का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात् पंचसन्धिसमन्वितम् ।
विलासद्धर्यादिगुणवद् युक्तं नानाविभूतिभिः ॥ 307 ॥
सुख-दुःख समुद्भूति नानारस निरन्तरम् ।
पंचाधिकादशपरास्तत्रांकाः परिकीर्तिताः ॥ 308 ॥
प्रख्यातवंशो राजर्षिधीरोदात्तः प्रतापवान् ।
दिव्योऽथदिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको मतः ॥ 309 ॥
एक एव भवेदंगी श्रृङ्गारो वीर एव वा ।
अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कार्यो निर्वहणेऽद्भुतः ॥ 310 ॥
चत्वारः पंच वा मुख्याः कार्यव्यापृतपूरुषाः ।
गोपुच्छाग्रसमाग्रन्तुं बन्धनं तस्य कीर्तितम् ॥ 311 ॥
प्रत्यक्ष नेतृचरितो रसभाव समुज्ज्वलः ।
भवेदगूढ़शब्दार्थः क्षुद्रचूर्णकसंयुतः ॥ 312 ॥
दूराह्वानं वधो युद्धं राज्यदेशादिविप्लवः ।
विवाहो भोजनं शापोत्सर्गौ मृत्यूरतं तथा ॥ 316 ॥
दन्तच्छेद्यम् नखच्छेद्यमन्यद् व्रीडाकरञ्च यत् ।
शयनाधरपानादि नगराद्यवरोधनम् ॥ 317 ॥
स्नानानुलेपने चैभिर्वर्जितो नाऽतिविस्तरः ।
देवीपरिजनादीनाममात्यवणिजामपि ॥ 318 ॥
प्रत्यक्ष चित्रचरितैर्युक्तो भावरसोद्भवैः ।
अन्तनिष्क्रान्तनिखिलपात्रोंऽक इति कीर्तितः ॥ 319 ॥

गाम्भीर्य, शौर्य, त्याग आदि उदात्त गुणों से युक्त होता है। नाटक में अंकों की संख्या पाँच से दस तक मानी जाती है। दस या उससे अधिक अंकोंवाले नाटक को महानाटक कहा जाता है।

नाटक में पंचसन्धियाँ होनी चाहिए और उसकी कथावस्तु का संगठन 'गोपुच्छाग्रवत्'—गाय की पूँछ के अग्रभाग के समान होना चाहिए। जिस प्रकार गाय की पूँछ में प्रारम्भ में कम बाल होते हैं और बीच में अधिक घने और मोटे हो जाते हैं, उसी प्रकार नाटक के कथानक का विकास संक्षिप्त वृत्त से होता है और बीच में उसका व्यापक विस्तार तथा उसमें बहुसंख्यक प्रासंगिक कथाओं का समावेश होता है। जैसे अन्त में फिर पूँछ पतली होकर समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार बीच में उठी हुई प्रासंगिक कथाएँ भी धीरे-धीरे समाप्त होती हुई आधिकारिक कथा में तिरोहित हो जाती हैं और सबसे अन्त में वही अकेली रह जाती है। कार्यावस्थाओं, अर्थप्रकृतियों और पंचसंधियों के संगठन द्वारा यह कार्य सम्पन्न होता है। इस प्रकार नाटक प्रभावशाली और पूर्ण कृति होता है।

2. प्रकरण

प्रकरण में नाटक के समान वस्तु, रस आदि का समावेश होता है। पर इसकी भिन्नता इन बातों में है। प्रकरण की कथावस्तु उत्पाद्य अथवा कवि-कल्पित होती है। इसका नायक धीर, शान्त अर्थात् ब्राह्मण, वणिक्, सचिव, पुरोहित, मन्त्री होता है। उदात्त, दिव्य चरित तथा राजशासन आदि का प्रसंग इसमें नहीं होता। इसमें पाँच से दस तक अंक होते हैं। इसमें प्रसंग के अनुसार कुलीना अथवा वेश्या नायिका हो सकती है।

3. भाण

यह एकांकी होता है। पात्र भी इसमें एक ही होता है। यह पात्र अपने तथा दूसरों के धूर्त्ततापूर्ण कृत्यों का आकाशभाषित रूप में वर्णन करता है। इसमें प्रायः भारती और कहीं-कहीं कैशिकी वृत्ति का आश्रय लिया जाता है। मुख तथा निर्वहण सन्धियाँ होती हैं। इसमें पात्र दूसरों के वचनों को स्वयं कहता है और अनेक अंगविकारों और विविध चेष्टायुक्त अभिनय करता है।

4. प्रहसन

यह हास्यप्रधान एकांकी होता है। इसमें मुख और निर्वहण सन्धियाँ होती हैं। इसके तीन भेद हैं—शुद्ध, विकृत और संकर। शुद्ध में संन्यासी, तपस्वी अथवा पुरोहित; विकृत में नपुंसक, कंचुकी तथा कामुक और संकर में धूर्त्त व्यक्ति नायक के रूप में आते हैं। इसमें परिहासपूर्ण वार्त्तालाप रहता है।

5. व्यायोग

इसमें कथावस्तु तथा नायक प्रसिद्ध होते हैं। नायक धीरोद्धत, राजर्षि अथवा दिव्य पुरुष होता है। पुरुषपात्र अधिक और स्त्रीपात्र बहुत कम होते हैं। व्यायोग भी एकांकी

होता है। इसमें युद्ध होता है, परन्तु स्त्री के लिए नहीं। इसमें गर्भ तथा विमर्श सन्धियाँ, कैशिकी वृत्ति तथा हास्य, शृङ्गार और शान्त रस की स्थिति नहीं होती।

6. समवकार

इसका कथानक देवताओं और असुरों से सम्बद्ध एवं प्रसिद्ध होता है। नायक बारह और वे उदात्त दिव्यादिव्य गुणोंवाले पुरुष होते हैं। प्रत्येक को पृथक्-पृथक् फल मिलता है। यह वीररस-प्रधान होता है। इसमें सभी वृत्तियों का प्रयोग होता है, केवल कैशिकी का प्रयोग कम होता है। इसमें तीन अंक होते हैं, प्रथम अंक में दो सन्धियाँ और अन्य में एक-एक होती हैं। इसमें विमर्श सन्धि नहीं होती। बिन्दु अर्थप्रकृति भी इसमें नहीं होती।

7. डिम

इसकी कथावस्तु प्रख्यात होती है। इसमें चार अंक तथा भूतप्रेतादि सोलह उद्धत नायक होते हैं। प्रधान रौद्ररस होता है, शान्त, हास्य तथा शृङ्गार को छोड़कर अन्य रस गौण रूप में आते हैं। इसमें विमर्श को छोड़कर अन्य चार सन्धियाँ होती हैं। कैशिकी को छोड़कर अन्य वृत्तियों का इसमें प्रयोग होता है। इसमें उल्कापात, सूर्य-चन्द्रग्रहण, माया, इन्द्रजाल के दृश्य होते हैं। प्रधान आरभटी वृत्ति है।

8. वीथी

इसकी कथावस्तु कल्पित होती है। यह एकांकी होता है और इसका नायक मध्यम कोटि का होता है। एक-दो ही पात्र होते हैं और आकाश-भाषित का प्रयोग होता है। यह शृङ्गाररस-प्रधान है। मुख और निर्वहण सन्धियाँ तथा कैशिकी वृत्ति इसमें प्रमुख होती है।

9. अंक

अंक में वस्तु-विषय प्रख्यात होता है परन्तु कविकल्पना का भी प्रयोग रहता है। यह एकांकी होता है और करुणरस-प्रधान। स्त्रियों का विलाप इसमें खूब रहता है। अनेक प्रकार की व्याकुलता की चेष्टाएँ इसके अन्तर्गत दिखाई जाती हैं। इसमें भारती वृत्ति का प्रयोग होता है।

10. ईहामृग

इसका कथानक मिश्र होता है। चार अंक तथा मुख, प्रतिमुख एवं निर्वहण सन्धियाँ होती हैं। नायक धीरोद्धत होता है और वह अलभ्य दिव्य नायिका के पाने की इच्छा करता है। प्रतिनायक भी उस पर अनुरक्त होता है। इस प्रकार युद्ध की पूर्ण सम्भावना होती है, पर किसी प्रकार युद्ध टल जाता है।

रूपक के ये भेद नाट्यशास्त्र, दशरूपक, साहित्यदर्पण आदि के आधार पर हैं। इनमें से भाण, प्रहसन, व्यायोग, वीथी और अंक ये पाँच एकांकी हैं।

रूपक के इन सभी भेदों में नाटक सर्वोत्कृष्ट माना गया है।

काव्यभेदों में भी नाटक को सर्वाधिक रमणीय माना गया है। कहा गया है, 'काव्येषु नाटकं रम्यम्'। ऐसा कहने का कारण है। नाटक में हम जीवन को अपने सामने देखते हैं, अतः उसमें रम जाना सहज है। काव्य की अन्य विधाओं महाकाव्य, उपन्यास आदि के समान वर्णित जीवन की कल्पना करने की आवश्यकता नाटक में नहीं है। इसके अतिरिक्त नाटक शिक्षित, अशिक्षित, नागरिक, ग्रामीण, सभी के द्वारा देखा जा सकता है। उसके रसास्वाद के लिए किसी प्रकार की पूर्ववर्ती दक्षता की अपेक्षा नहीं होती।

काव्य की अन्य विधाओं में पढ़ने पर भी समग्र आनन्द सभी को प्राप्त नहीं होता; पर नाटक में ऐसा नहीं है। नाटक में अतीत और भविष्य दोनों ही वर्तमान के रूप में प्रन्यक्ष कराये जाते हैं। इसके साथ-ही-साथ संगीत आदि कलाओं के कारण भी नाटक अधिक रमणीय हो जाता है। उसके भाव-प्रवाह में सारा दर्शक-समाज डूबता-उतराता रहता है। इसीलिए नाटक सर्वाधिक रम्य काव्य का रूप माना गया है।

नाटक के तत्त्व

नाटक का विश्लेषण करने पर उसके चार तत्त्व मिलते हैं—1. कथावस्तु, 2. नायक और पात्र, 3. रस, 4. अभिनय। इन पर हम अलग-अलग विचार करेंगे। भारतीय नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत इन पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है।

1. कथावस्तु

कथावस्तु के भेद

कथावस्तु का संगठन नाटक का प्रमुख उद्देश्य है। क्योंकि इसमें केवल कथोपकथन और अभिनय द्वारा ही कथानक का उद्घाटन होता है, अतः कथा का संगठन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। कथा के दो भेद हैं—1. आधिकारिक, 2. प्रासंगिक। आधिकारिक कथावस्तु का सम्बन्ध नाटक के फलभोक्ता या अधिकारी से रहता है। इसका सम्बन्ध फल-प्राप्ति के कार्य से है। यह नाटक के प्रमुख पात्र नायक का प्रश्रय ग्रहण किये रहती है। प्रासंगिक कथाओं का उद्देश्य आधिकारिक कथावस्तु को विकसित करने में सहायता पहुँचाना है। प्रासंगिक कथा का आधिकारिक कथा के साथ ऐसा संगठन होना चाहिए जिससे कहीं वह व्यर्थ न हो।

नाटक में आये समस्त कथानक को रंगमंच पर नहीं दिखाया जा सकता। कुछ अभिनय द्वारा दिखाया जाता है और शेष की केवल सूचना दी जाती है। इस आधार पर कथावस्तु के दो भेद हैं—1. दृश्य, 2. सूच्य। दृश्य कथावस्तु को अभिनय द्वारा रंगमंच पर दिखाया जाता है और सूच्य की केवल सूचना दी जाती है। सूच्य कथावस्तु कें साधनों को अर्थोपक्षेपक कहते हैं। ये पाँच माने गये हैं—

1. विष्कंभक, 2. प्रवेशक, 3. चूलिका, 4. अंकमुख या अंकास्य, 5. अंकावतार।

1. विष्कंभक

जिसमें पुरोहित, अमात्य, कंचुकी आदि मध्यम श्रेणी अथवा संकर अर्थात् मध्यम और नीचे श्रेणी के पात्रों द्वारा संस्कृत में नाटक की मुखसन्धि के भीतर अर्थात् प्रारम्भ में बीती हुई अथवा आनेवाली घटनाओं की सूचना दी जाती है वह दृश्य विष्कंभक कहलाता है। यह नाटक के प्रारम्भ में अथवा प्रारम्भिक अंकों के बीच आता है।

2. प्रवेशक

दो अंकों के बीच में, नाटक या प्रकरण के मध्य संक्षेप में प्राकृत या बोलचाल की भाषा में निम्न श्रेणी के पात्रों द्वारा, जिसमें अनभिनेय कथाभाग की सूचना दी जाती है, उसे प्रवेशक कहते हैं।

3. चूलिका

जहाँ जवनिका (पर्दे) के पीछे से, उत्तम, मध्यम या अधम श्रेणी के पात्रों द्वारा सूचना दी जाती है, वहाँ चूलिका होती है।

4. अंकमुख या अंकास्य

जहाँ किसी अंक के अभिनय की समाप्ति पर, आगे आनेवाले अंक की कथा की सूचना दी जाती है, वहाँ पर अंकास्य या अंकमुख होता है।

5. अंकावतार

जहाँ बिना पात्रों को बदले हुए ही, पहले अंक में काम करनेवाले पात्र, बाहर जाकर फिर रंगमंच पर आ जाते हैं और आगेवाले अंक की सूचना देते हैं, वहाँ अंकावतार होता है।

स्रोत या आधार के विचार से कथावस्तु के तीन भेद किये जाते हैं—1. प्रख्यात, 2. उत्पाद्य, 3. मिश्र।

प्रख्यात

जिस कथावस्तु का आधार इतिहास, पुराण या परम्परा से चली आती जनश्रुति होती है वह प्रख्यात है।

उत्पाद्य

जो कथावस्तु नाटककार की कल्पना की उपज होती है वह उत्पाद्य है, उसे कल्पित वस्तु भी कहते हैं।

मिश्र

मिश्र कथावस्तु वह है जिसमें इतिहास-लब्ध और कल्पित दोनों ही प्रकार के कथानकों का सम्मिश्रण होता है।

प्रसिद्ध कथानक में नाटककार अपनी कल्पना द्वारा यथावश्यक परिवर्तन कर लेता है अत: मिश्र का कथानक ही आजकल अधिक प्रचलित है।

कथा-संगठन—कार्यावस्था

फलप्राप्ति के लिए किया जानेवाला व्यापार कार्य है, यह नाटक में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक विस्तृत रहता है। इस विस्तार के पाँच भाग किये गये हैं जिन्हें कार्यावस्था कहते हैं। ये पाँच हैं— 1. प्रारम्भ, 2. प्रयत्न, 3. प्राप्त्याशा, 4. नियताप्ति, 5. फलागम।

प्रारम्भ

जिस अवस्था में मुख्य फल की प्राप्ति के लिए औत्सुक्य जागृत होता है, वह प्रारम्भ है।

प्रयत्न

जिसमें फलप्राप्ति के लिए शीघ्रतापूर्वक उद्योग किया जाता है, वह प्रयत्न है।

प्राप्त्याशा

जहाँ आशंका और बाधाओं के साथ किंचित् फलप्राप्ति की आशा बँधती हो, वह प्राप्त्याशा की अवस्था है।

नियताप्ति

जिससे फलप्राप्ति का निश्चय हो जाता है, परन्तु कार्य-व्यापार चलता रहता है, वह नियताप्ति है।

फलागम

जिसमें उद्देश्य की पूर्ति हो जाती है और सभी अभिलषित फल प्राप्त हो जाते हैं, वह फलागम की अवस्था है।

उपर्युक्त पाँच अवस्थाओं की तुलना पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में निरूपित पाँच अवस्थाओं (Stages of action) से की जा सकती है जिनका विवेचन अरिस्टॉटिल की पोइटिक्स में भी मिलता है। वे हैं—

1. Exposition, 2. Incident, 3. Crisis, 4. Denoument, 5. Catastrophe.

1. एक्सपोजिशन (Exposition)

यह प्रारम्भ अवस्था की ही भाँति है जिसमें कथावस्तु के एक अंग का इस प्रकार उद्घाटन होता है कि औत्सुक्य जाग्रत हो।

2. इन्सिडेन्ट (Incident)

यह संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व की अवस्था है और कार्य की पूर्ति के लिए प्रयत्न-प्रधान होने से प्रयत्नावस्था से साम्य रखती है।

3. क्राइसिस (Crisis)

इससे संघर्ष घनीभूत होता है और बाधाएँ अपनी चरम सीमा पर पहुँचती हैं। इसका साम्य प्राप्त्याशा अवस्था से है। इसमें चरम उत्कर्ष या क्लाइमेक्स (Climax) की स्थिति रहती है।

4. डिनोमा (Denoument)

इसमें संघर्ष क्षीण हो जाता है। संघर्ष करनेवाले दो पक्षों में से एक हीन हो जाता है और दूसरे की विजय की सम्भावना जान पड़ती है। अत: इसका साम्य नियताप्ति अवस्था से है।

5. कैटस्ट्राफी (Catastrophe)

वह अवस्था है जिसमें सर्वनाश सम्पन्न हो जाता है। फलागम की समस्या से साम्य होते हुए भी, दोनों अवस्थाओं में नाटक-सम्बन्धी धारणा के कारण भेद है। पाश्चात्य धारणा में उत्कृष्ट नाटक विषादान्त (Tragedy) माना जाता है। अत: निश्चय है कि ऐसे नाटक का अन्त दुर्घटना में होगा। परन्तु भारतीय दृष्टिकोण में नायक के इच्छित फल की प्राप्ति आवश्यक होती है, अत: अन्तिम अवस्था सर्वनाश या दुर्घटना की नहीं, वरन् फलप्राप्ति की होती है। उद्देश्य में भिन्नता होने पर भी दोनों की कार्यावस्थाओं में अद्भुत साम्य है।

अर्थ-प्रकृतियाँ

अर्थप्रकृतयः प्रयोजनासद्धिहेतवः (साहित्यदर्पण, 6।64 की वृत्ति) अर्थात् प्रयोजन (फल अथवा कार्य) की सिद्धि के लिए हेतु (साधन) **अर्थप्रकृतियाँ** हैं। दूसरे शब्दों में हम इस प्रकार कह सकते हैं कि अर्थप्रकृतियाँ कथावस्तु के वे अंग हैं जो उसे (वस्तु को) कार्य की ओर अग्रसर करते हैं। इनके पाँच भेद बताये गये हैं—1. बीज, 2. बिन्दु, 3. पताका, 4. प्रकरी तथा 5. कार्य।

बीज—कार्य (फल) का वह हेतु है जो आरम्भ में अत्यन्त सूक्ष्म होता है और बाद में विस्तृत होता जाता है। जिस प्रकार छोटा बीज आगे बढ़कर विशाल (वृक्ष का) रूप धारण कर लेता है उसी प्रकार कथावस्तु का बीज-भाग भी उसे बढ़ाने में सहायक होता है।

बिन्दु—प्रधान कथा का बीज के द्वारा सूत्रपात हो जाने पर जो भाग कथा को आगे बढ़ाता है वह बिन्दु कहलाता है। जिस प्रकार जल पर तेल की बूँद फैल जाती है उसी प्रकार कथावस्तु के बिन्दु में भी प्रसार देखा जाता है।

पताका—वस्तु दो प्रकार की कही गई है, आधिकारिक तथा प्रासंगिक। प्रासंगिक के दो भेद होते हैं—पताका तथा प्रकरी।

पताका तथा प्रकरी— साहित्यदर्पणकार ने पताका की परिभाषा देते हुए लिखा है—

'व्यापि प्रासंगिर्क वृत्तं पताका'

अर्थात् व्यापक प्रासंगिक वृत्त पताका होता है। प्रासंगिक कथावस्तु से अभीष्ट उस वस्तु से है जो आधिकारिक वस्तु को आगे बढ़ने में सहायता देती है। प्रासंगिक कथाएँ भी दो प्रकार की होती हैं—एक वे जो कथानक के साथ बराबर चलती हैं, जैसे रामचरितमानस में सुग्रीवादि की कथा, दूसरी जो कुछ दूर तक प्रधान कथा के विकास-क्रम में सहायता देकर रुक जाती है, जैसे अभिज्ञानशाकुंतल के छठे अंक में दास और दासी का वार्त्तालाप। प्रथम कोटि को पताका की संज्ञा दी गई है। प्रासंगिक कथा का दूसरा भेद प्रकरी कहलाता है।

कार्य— जिसकी सिद्धि के लिए समस्त प्रयास होते रहे हैं और जो कथावस्तु में अभीष्ट है, वही कार्य है। जैसे, रामायण में रावण का वध ही एकमात्र लक्ष्य है जिस ओर सारी क्रियाएँ निर्दिष्ट हैं।

सन्धियाँ

सन्धि का शाब्दिक अर्थ है दो वस्तुओं की जोड़। नाटक के अन्तर्गत भी इस शब्द का प्रयोग अपने रूढ़ अर्थ में ही हुआ है। नाटक के कुछ स्थलों पर अवस्थाओं के साथ अर्थप्रकृतियों का संयोग होता है। ऐसे स्थलों को ही विभिन्न सन्धियों का नाम दिया गया है। सन्धियाँ पाँच मानी गई हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श तथा निर्वहण।

साहित्यदर्पण में इन्हें 'ताः इतिवृत्तभागाः' अर्थात् वे कथानक के भाग हैं, ऐसा कहा गया है, पर दशरूपक में उल्लेख है—

अर्थप्रकृतयः पंच, पंचावस्था समन्विताः ।
यथासंख्येन जायन्ते, मुखाद्याः पंचसंधयः ॥

अतएव अर्थ-प्रकृतियों और कार्यावस्थाओं के समन्वय से क्रमशः पंचसन्धियों की रचना होती है।

मुख

जहाँ प्रारम्भ नामक अवस्था के साथ संयोग होने से अनेक अर्थों और रसों के व्यंजक बीज (अर्थप्रकृति) की उत्पत्ति हो वह मुखसन्धि है।

प्रतिमुख

इसमें मुखसन्धि में प्रकट हुआ बीज कुछ लक्ष्य और कुछ अलक्ष्य रूप में विकसित होता हुआ जान पड़ता है। यहाँ प्रयत्न नामक अवस्था और बिन्दु नामक अर्थप्रकृति कार्यव्यापार को अग्रसर करती है।

गर्भ

इसमें प्रतिमुख सन्धि में कुछ-कुछ प्रकाशित बीज का बार-बार आविर्भाव, तिरोभाव तथा अन्वेषण होता रहता है। इसमें प्राप्त्याशा अवस्था और पताका अर्थप्रकृति रहती है।

विमर्श

नियताप्ति अवस्था और प्रकरी अर्थप्रकृति का योग होता है। इसमें गर्भसन्धि की अपेक्षा बीज का अधिक विस्तार होता है और उसके फलोन्मुख होने में शाप, क्रोध आदि विघ्न उपस्थित होते हैं। इसमें हृदयमंथन, संघर्ष और विमर्श की दशाएँ उपस्थित होती हैं अतः इसका नाम विमर्श सन्धि है।

निर्वहण

इसके अन्तर्गत फलागम अवस्था और कार्य अर्थप्रकृति आती है। इसमें चारों सन्धियों में वर्णित अर्थों का समाहार हो जाता है और मुख्य फल की प्राप्ति भी हो जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नाटक की रचना में कथावस्तु के सुन्दर और समुचित संगठन का कितना ध्यान रखा जाता है। रूपक के अन्य भेदों में समस्त कार्यावस्थाएँ, अर्थप्रकृतियाँ और सन्धियाँ नहीं रहती हैं। कथावस्तु का संगठन महाकाव्य में भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, इसी कारण उसमें भी समस्त सन्धियों का विधान है (सर्वे नाटकसंधयः—साहित्यदर्पण)।

2. नायक और पात्र

दृश्यकाव्य का दूसरा अंग या तत्त्व नायक और पात्र होते हैं। रूपक का प्रधान पात्र नायक या नेता कहा जाता है। भारतीय आचार्यों ने नायक को विनयशील, सुन्दर, त्यागी, कार्य-कुशल, मिष्टभाषी, लोकप्रिय, पवित्र, वक्ता, कुलीन, स्थिरचित्त, युवा, बुद्धिमान, उत्साही, स्मृति-सम्पन्न, प्रज्ञावान्, कलाओं का ज्ञाता, स्वाभिमानी, शूर, दृढ़, तेजस्वी, शास्त्रज्ञ तथा धार्मिक होना आवश्यक माना है। इस प्रकार भारतीय नाट्यशास्त्र के नियमों के अनुसार नायक उच्च तथा उदार गुणों का केन्द्र (समुच्चय) होना चाहिए।

नायक चार प्रकार के बताये गये हैं—

1. धीरोदात्त,
2. धीरललित,
3. धीरप्रशान्त,
4. धीरोद्धत।

इन चार कोटियों के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि धीर उन सबका गुण माना गया है।

धीरोदात्त

साहित्यदर्पणकार ने इसका लक्षण इस प्रकार दिया है—

अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः ।
स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढ़व्रतः कथितः ॥ 3 । 32 ॥

अर्थात् आत्मप्रशंसा न करनेवाला, क्षमाशील, अत्यन्त गम्भीर, हर्ष-शोकादि से अप्रभावित रहनेवाला, कार्यों में स्थिर, स्वाभिमानी तथा अपनी बात का निर्वाह करनेवाला (नायक) धीरोदात्त कहा गया है।

इस प्रकार का नायक सभी नायकों में सर्वश्रेष्ठ तथा उदार चरित्रवाला होता है। उपरिलिखित गुणों में से सभी उसमें पाये जाते हैं। इस प्रकार के नायकों के उदाहरण श्रीराम तथा युधिष्ठिर हैं।

धीरललित

यह निश्चिंत, कलाप्रिय, सुखी तथा मृदुल स्वभाव का होता है— रत्नावली के 'वत्सराज' और शकुन्तला के 'दुष्यन्त' ऐसे ही नायक हैं। इस प्रकार के नायक भोग-विलास तथा सुखद ललित क्रीड़ाओं में संलग्न रहते हैं।

धीरप्रशान्त

इस कोटि का नायक सामान्य गुणों से युक्त क्षत्रियेतर होता है। धनंजय के अनुसार वह द्विजादिक होता है। कुछ विद्वानों ने इससे केवल ब्राह्मण ही अर्थ लिया है, किन्तु धनिक ने 'विप्रवणिग्सचिवादि' के रूप में इसकी व्याख्या की है। मालतीमाधव का 'माधव' और मृच्छकटिक का 'चारुदत्त' इसका सुन्दर उदाहरण है।

धीरोद्धत

यह मायावी, उग्र, चपल, अहंकार और दर्प से पूर्ण तथा आत्मश्लाघी होता है। इसे अपने बल तथा वैभव का बड़ा गर्व रहता है। साहित्य में इस प्रकार के नायक बहुत कम मिलते हैं। गौण पात्रों तथा प्रतिनायकों में अवश्य ही इस प्रकार के लक्षण दिखायी पड़ते हैं। रावण, परशुराम, भीमसेनादि इसके उदाहरण हैं।

शृंगार रस की दृष्टि से भी नायक चार प्रकार के होते हैं—अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट।

अनुकूल नायक—सदैव एक ही नायिका में अनुरक्त रहता है।

दक्षिण नायक—एक से अधिक पत्नीवाला होता अवश्य है, किन्तु वह प्रधान महिषी का सर्वाधिक ध्यान रखता है। सभी नायिकाओं के प्रति उसका व्यवहार सरल, भद्र तथा सदय होता है। वह एक साथ सबको प्रसन्न रख सकता है।

शठ—अन्य नायिकाओं से प्रेम अवश्य करता है, किन्तु प्रकट में नहीं।

धृष्ट—यह स्पष्ट रूप से दुराचरण करता है और निर्लज्ज होता है। नायक का

प्रतिद्वन्द्वी **प्रतिनायक** कहा जाता है। यह सदा धीरोद्धत होता है। प्रासंगिक कथा-वस्तु का नायक, जो प्रधान का सहायक होता है, **पीठमर्द** कहलाता है।

नायक के सहायक

नायक तथा प्रतिनायक के अतिरिक्त प्रत्येक नाटक में अन्य अनेक पुरुष पात्र रहते हैं, जिनका उद्देश्य नायक अथवा प्रतिनायक को अभीष्ट की प्राप्ति में सहायता देना होता है। इस प्रकार के पात्रों में विट, चेट, शकार और विदूषक मुख्य हैं।

विट

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में विट का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

वेश्योपचारकुशलः मधुरः दक्षिणः कविः ।
ऊहापोहक्षमो वाग्मी चतुरश्च विटो भवेत् ॥ 35, 55 ॥

वेश्या के उपचार में कुशल, मधुर, व्यवहारकुशल, कवि, ऊहापोह की परिस्थिति लाने में समर्थ, बात करने में चतुर विट होता है।

चेट

चेट का लक्षण इस प्रकार है—

कलहप्रियो बहुकथो विरूपो गन्धसेवकः ।
मान्यामान्यविशेषज्ञश्चेटोप्येवंविधः स्मृतः ॥

कलहप्रिय, अनेक कथाएँ जाननेवाला, विकृत रूपवाला, गन्ध का सेवन करनेवाला, मानने और न माननेवाली बातों का विशेष ज्ञान रखनेवाला चेट होता है।

शकार और विदूषक

संस्कृत नाटकों में हास्यविनोद के प्रसंग उपस्थित करनेवाला विदूषक होता है जैसा कि पाश्चात्य नाटकों में 'क्लाउन' (Clown) होता है। नाट्यशास्त्र के 35वें अध्याय में शकार और विदूषक का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

उज्ज्वलवस्त्राभरणः क्रुद्धत्यनिमित्ततः प्रसीदति च ।
अधमो मागधभाषी भवति शकारो बहुविकारः ॥ 56 ॥

वामनो दन्तुरः कुब्जो द्विजिह्वी विकृताननः ।
खलति पिंगलाक्षश्च स विधेयो विदूषकः ॥ 57 ॥

श्वेत वस्त्रों और आभूषणों को पहननेवाला, अकारण क्रोध करनेवाला और प्रसन्न होनेवाला, अधम कोटि का, विकारों से युक्त मागध भाषा बोलनेवाला, शकार होता है तथा वामन (छोटे कद का), बड़े दाँतोंवाला, कुबड़ा, विकृत मुँहवाला, पीली आँखोंवाला और दोहरी बातें कहनेवाला विदूषक होता है। विदूषक नायक का मनोरंजन भी करता है और सत्परामर्श भी देता है। प्रायः पेटू (बहुभोजी) चित्रित किया गया है।

प्रेमादि के प्रसंगों में विदूषक मंत्रणा भी देता है और संकेतपूर्ण बातें करता है। वह नायक का मित्र माना जाता है और अन्त:पुर तक उसकी गति होती है। इस प्रकार प्रत्यक्ष हास्योत्पादक विकृतियों से युक्त होने पर भी विदूषक महत्त्वपूर्ण पात्र होता है।

नायिका

सर्वगुणसम्पन्न नायक की प्रिया या अभीप्सिता नायिका होती है। नाट्यशास्त्र में नायिका की विशेषताओं का निर्देशन इस प्रकार किया गया है—

रूपगुणशीलयौवनमाधुर्यशक्तिसंपन्ना ॥ 62 ॥
विशदा स्निग्धा मधुरा पेशलवचनाभिरक्तकंठी च ।
योग्या याभक्षुभिता लयतालज्ञा रसैस्तु संयुक्ता ॥ 33 ॥
एवंविधगुणैर्युक्ता कर्तव्या नायिका तज्ज्ञै: ।

(*35वाँ अध्याय*)

इस प्रकार नायिका रूपवती, गुण, शील, यौवन, मधुरता और शक्ति से युक्त, प्रसन्न, स्नेहपूर्ण, मधुर, स्निग्ध, भावपूर्ण मधुर वचन बोलनेवाली, योग्य, क्षोभरहित लय-ताल का ज्ञान रखनेवाली और रसयुक्त होती है। नायिका के रूप और गुणों का आकर्षण नायक के लिए महत्त्वपूर्ण है तथा नाटक की कथावस्तु के विकास के लिए प्रेरणारूप होता है। इनके अतिरिक्त अन्य सामान्य महत्त्व के पात्र नाटक में काम करते हैं।

3. रस

नहि रसादृते कश्चिदप्यर्थ: प्रवर्तते। (*नाट्यशास्त्र*)

प्राचीन भारतीय दृष्टि से नाटक में रस का महत्त्वपूर्ण स्थान है। रस-संचार के बिना कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। अत: रसनिष्पत्ति नाटककार का प्रमुख लक्ष्य होता है। प्रश्न होता है कि रस है क्या? **रस एक प्रकार का विशेष आनन्द है जो काव्य के पठन, श्रवण अथवा नाटक के अभिनय देखने से सामाजिक को प्राप्त होता है।** इस विशेष आनन्द के सम्पादन के सम्बन्ध में भरतमुनि का सूत्र है—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति:।' विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। यह रस केवल शास्त्रीय वस्तु ही नहीं, वरन् व्यावहारिक अनुभवगम्य वस्तु है। नाट्यशास्त्र में इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार अनेक व्यंजनों, ओषधियों और द्रव्यों से युक्त होने पर भोजी भोजन में एक विशेष स्वाद का अनुभव करते हैं, उसी प्रकार रसिक जन, अनेक भावों के अभिनय से युक्त स्थायी भावों का आस्वादन करते हैं। यही नाटक की रसानुभूति है। नाना भावों से संयुक्त होने पर स्थायी भाव अपने सामान्य नहीं, वरन् विशेष मानसिक आनन्द को प्रदान करते हैं। यहाँ एक बात और ध्यान में रखने की है। जिस प्रकार बहुविध व्यंजन के भोजन का पूर्ण आनन्द पाने के लिए भूख और स्वादविवेक आवश्यक है, उसी प्रकार रसानुभूति की पूर्णता के लिए सहृदयता, संवेदनशील संस्कारों और विवेक की आवश्यकता रहती है।

नाटक में भरतमुनि के अनुसार रसों की संख्या आठ ही मानी गई है। यद्यपि काव्य में नौ, दस और ग्यारह तक रसों की संख्या विद्वानों द्वारा स्वीकृत हुई है। 'शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः। वीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः॥' इनमें शृङ्गार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत और वीभत्स से भयानक रस की उत्पत्ति मानी गई है। रस के चार अंग हैं—विभाव, अनुभाव, संचारीभाव और स्थायीभाव।

विभाव

विभावः कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः ।
विभाव्यन्तेऽनेन वागंगसत्त्वाभिनया इति विभावः ॥
यथा विभावितं विज्ञातमित्यर्थान्तरम् । (*नाटचशास्त्र*)

विशेष रूप से जो भावों को प्रकट करते हैं, वे विभाव हैं। ये कारण रूप होते हैं। स्थायीभाव के प्रकट होने का जो मुख्य कारण होता है, उसे आलम्बनविभाव कहते हैं। इसका आलम्बन ग्रहण करके ही रस की स्थिति होती है। प्रकट हुए स्थायीभाव को और अधिक प्रबुद्ध, उद्दीप्त और उत्तेजित करनेवाले कारणों को उद्दीपन-विभाव कहते हैं। उदाहरण के लिए हांस स्थायी किसी के विकृत रूप, वेश-भूषा को देखकर प्रकट होता है। अतः ऐसे रूप और वेश-भूषावाला व्यक्ति **आलम्बन** हुआ। उनके उपरान्त उसके क्रियाकलाप, वचन आदि से वह और भी अधिक उद्दीप्त होता है, अतएव इन्हें **उद्दीपन विभाव** कहेंगे। जिसके अन्तर्गत स्थायीभाव या अन्य भावों का प्राकटच होता है अर्थात् जिसके भीतर उनकी स्थिति जानी जाती है उसे **आश्रय** कहते हैं।

संचारीभाव

जो स्थायीभाव के साथ-साथ संचरण करते हैं उन्हें संचारीभाव कहते हैं। इनके द्वारा स्थायीभाव की स्थिति की पुष्टि होती है। ये संचारीभाव जल में बुद्‌बुदों या लहरों की भाँति उठते और विलीन हो जाते हैं। एक रस के स्थायीभाव के साथ अनेक **संचारीभाव** आते हैं। इन्हें व्यभिचारीभाव भी कहते हैं, क्योंकि एक संचारी किसी एक स्थायीभाव या रस के साथ नहीं रहता है, वरन् अनेक रसों में देखा जा सकता है जो उसका व्यभिचरण है। जैसे शंका वियोग शृङ्गार में आती है, करुण में भी और भयानक में भी। एक संचारी का कोई एक स्थायी या रस से सम्बन्ध नहीं, अतः उसे व्यभिचारी कहा गया है। व्यभिचारी भावों की संख्या 33 मानी गई है। कोई कोई आचार्य 34 भी मानते हैं।

अनुभाव

अन्तस्थ भावों को प्रकट करनेवाले अंगविकार, शारीरिक चेष्टाएँ आदि अनुभाव हैं। ये भावों के पश्चात् उत्पन्न होते हैं, परन्तु भाव-सूचक होते हैं। नाट्यशास्त्र में लिखा है—

वागंगाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते ।
वागंगोपांगसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः ॥ 7, 5 ॥

वाणी और अंगों के अभिनय द्वारा जिनसे अर्थ प्रकट हो, वे अनुभाव हैं। अनुभावों की कोई निश्चित संख्या नहीं है। परन्तु आठ अनुभाव जो सहज हैं और सात्त्विक विकारों के रूप में आते हैं, **सात्त्विकभाव** कहे जाते हैं। ये अनायास सहजरूप से प्रकट होते हैं। आठ सात्त्विक अनुभाव निम्नांकित हैं—

स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, वैवर्ण्य, कम्प, अश्रु, स्वरभंग और प्रलय (मूर्च्छा)। क्रोध स्थायीभाव को प्रकट करने के लिए मुँह का लाल हो जाना, दाँत पीसना, शरीर का काँपना आदि अनुभावों के अन्तर्गत हैं।

स्थायीभाव

वे मुख्य भाव हैं जो रसत्व को प्राप्त हो सकते हैं। रसरूप में जिनकी परिणति हो सकती है वे स्थायी हैं। अन्य भाव क्षणस्थायी हैं, जो 33 संचारी माने गये हैं उनकी स्थिति अधिक देर तक नहीं रहती, परन्तु स्थायीभावों की स्थिति काफी देर तक स्थायी रहती है। शंका यह हो सकती है कि नाटक के भीतर परिगणित 41 भावों में आठ ही क्यों रसत्व को प्राप्त हो सकते हैं? इस शंका का समाधान करने के लिए भरतमुनि ने कहा है कि जैसे नाक, कान, मुँह आदि सब मनुष्यों में समान रूप से होते हुए भी उनमें से एक ही राजा होता है, इसी प्रकार इन सब में आठ ही रसत्व की स्थिति को प्राप्त हो सकते हैं। मेरे विचार से जनतन्त्र के युग में भरतमुनि की यह दलील क्या मान्य होगी? स्थायी और संचारी में अन्तर यही है कि स्थायी अधिक प्रबल और देर तक रहनेवाले मनोविकार हैं और संचारी क्षणस्थायी मनोविकार। जो भी भाव प्रबल और देर तक रहनेवाले हैं, वे सभी रसत्व की स्थिति प्राप्त कर सकते हैं। रस की पूर्ण निष्पत्ति में उपर्युक्त सभी रसांगों की स्थिति का होना आवश्यक है। भरत के नाट्यशास्त्र में विस्तारपूर्वक प्रत्येक रस के स्थायी, संचारी, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों का विवरण है। इसके साथ ही अभिनय के प्रसंग में किस रस के लिए किस प्रकार की दृष्टि होनी चाहिए एवं कैसे अंग-प्रत्यंग से उसके पोषक भावों को प्रकट करना चाहिए, इसका विस्तारपूर्वक उल्लेख है, जिसका सम्बन्ध नाटक के अभिनय के व्यावहारिक पक्ष से अधिक है, सैद्धान्तिक पक्ष से कम। अत: उसका उल्लेख यहाँ अनावश्यक है।

4. अभिनय

अभिनय—नाटक, रूपक या दृश्यकाव्य का प्रधान तत्त्व है। समस्त कथा-वस्तु, चरित्र, अर्थों और भावों का प्रकाशन अभिनय द्वारा ही किया जाता है। देश, काल और परिस्थिति के अनुसार अभिनय के साधनों और रूपों में परिवर्तन और विकास होता रहता है। आजकल वैज्ञानिक साधनों के उपलब्ध हो जाने से अनेक अर्थों और स्थितियों का दिग्दर्शन इनके द्वारा कराया जा सकता है और उनके संकेतात्मक साधनों की अब आवश्यकता नहीं। उसी प्रकार अभिनय के रूपों और संकेतों में भी बहुत परिवर्तन हो गया है। उदाहरण के लिए स्वगतभाषण, जनान्तिक, अपवारित, आकाशभाषित आदि के अभिनय अब व्यर्थ हो गये हैं, क्योंकि इनको रंगमंच की व्यवस्था या अन्य वैज्ञानिक साधनों के द्वारा प्रकट किया जा सकता है।

अभिनय चार प्रकार का माना गया है—आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक।

आंगिक

शरीर की चेष्टाओं और अंग-संचालन द्वारा जो भाव या अर्थ व्यक्त करने की विधि है, वह आंगिक अभिनय कहा जाता है। इसके तीन प्रकार माने गये हैं—शारीर, मुखज और चेष्टाकृत। शरीर के अंगों, जैसे—सिर, हाथ, पैर, कटि तथा उपांगों, जैसे उँगली, भ्रू, चिबुक आदि के द्वारा जो अर्थ और भाव-प्रदर्शन का ढंग है, उसे शारीर अभिनय कहते हैं। मुख की विभिन्न आकृतियों और गतियों से जो अभिनय होता है, उसे मुखज अभिनय तथा विभिन्न कार्यों—जैसे दौड़ना, टटोलना, तैरना आदि—में चेष्टाकृत अभिनय है।

वाचिक

वाचिक अभिनय के अन्तर्गत स्वरशास्त्र, छन्द, भाषा-प्रयोग, काकु (कण्ठध्वनि) आदि द्वारा भाव और अर्थ का प्रकाशन होता है। कहाँ शुद्ध भाषा का और कहाँ विकृत भाषा का प्रयोग किया जाता है, तथा किस व्यक्ति को क्या कहकर सम्बोधित करना चाहिए, यह सब वाचिक अभिनय के अन्तर्गत है। इसका सम्बन्ध कथोपकथन से है। कथोपकथन नाटक में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसके तीन भेद हैं—सर्वश्राव्य, अश्राव्य और नियतश्राव्य।

सर्वश्राव्य

वे कथोपकथन हैं, जो सबके सुनने के लिए हों, इसे प्रकाश-कथन भी कहते हैं।

अश्राव्य

वह कथन है जो सबके सुनने के लिए नहीं होता। वह स्वगत या आत्मगत कथन कहलाता है।[1] यह अन्तस् में उठनेवाली विचारधारा का प्रकाशन होता है जिसे वक्ता स्वयं ही जनता है, अन्य नहीं। सामाजिक यह समझ सकें कि अमुक पात्र के मन में कौन-कौन विचार उठ रहे हैं इसलिए स्वगत कथन का प्रयोग किया जाता है। स्वगत कथन को कुछ लोग स्वाभाविक मानते हैं, परन्तु इसका बहुत अधिक प्रयोग अस्वाभाविक है। हम बिना किसी पर प्रकट किये हुए अनेक विचार मन में लाते हैं और यह जीवन की एक स्वाभाविक स्थिति है अतः स्वगतकथन का प्रयोग नाटक में हो सकता है; इसका अत्यधिक प्रयोग रोचकता में बाधा पहुँचाता है और अस्वाभाविक लगता है।

नियतश्राव्य

नाटक का वह कथोपकथन है जो कुछ पात्रों के सुनने के लिए होता है और कुछ के लिए नहीं। इस कथोपकथन के दो रूप नाट्यशास्त्र में कहे गये हैं—1. अपवारित, 2. जनान्तिक।

---

1. हृदयस्थं वचो यत्तत्तदात्मगतमिष्यते ।
हृदयस्थं सवितर्कं भावस्तं चात्मगतमेव ॥—*नाट्यशास्त्र*, 26, 82, 83

अपवारित में जिस पात्र से बात न कहनी हो उसकी ओर से मुँह फेरकर बात कही जाती है। यह कोई गूढ़ बात होती है। गुह्यार्थयुक्त बात को कान के पास जाकर कहने का नियम है जिससे और कोई नहीं सुनता, यह भाव प्रकट होता है।

जनान्तिक में जिससे बात न कहनी हो उसके सामने त्रिपताका (अर्थात् बीच की तीन अँगुलियों को उठाकर) हाथ करके अन्य पात्रों से बात कही जाती है।

इसके अतिरिक्त कथोपकथन का एक और प्रकार आकाशभाषित है। नाट्यशास्त्र में इसका लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

दूरस्थभाषणं यत् स्यादशरीरनिवेदनम् ।
परोक्षान्तरितं वाक्यमाकाशवचनं तु तत् ॥ 80 ॥

(*छब्बीसवाँ अध्याय*)

इसमें आकाश की ओर मुँह उठाकर किसी दूरस्थित व्यक्ति से, जिसका शरीर दिखाई नहीं देता, परोक्ष में बात की जाती है। इसे आकाशभाषित या आकाशवचन कहा जाता है।

आहार्य

वेशभूषा, अलंकरण, आभूषण, रंगों के प्रयोगादि से जो भाव और अर्थों के संकेत किये जाते हैं, वे आहार्य अभिनय के अन्तर्गत हैं। इसमें विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों का उनके अनुरूप वेशभूषा और अलंकार धारण करने का विधान है। नाट्यशास्त्र में विभिन्न वर्गों और देशों के व्यक्तियों की वेशभूषा का बड़ा ही विवरणपूर्ण वर्णन किया गया है। वृद्ध को काठ का डण्डा देना, संन्यासियों को भस्म और गेरुए वस्त्र या वल्कल वस्त्र धारण कराना, विदूषक को गंजे सिरवाला, भृत्यों के तीन चोटियाँ रखना, विभिन्न प्रदेशों की स्त्रियों के अलग-अलग केश, सज्जा, वस्त्र, अलंकार आदि यह सब आहार्य अभिनय के अन्तर्गत आता है।

सात्त्विक

सात्त्विक अभिनय में सात्त्विक भावों, हावों आदि का अभिनय आता है। भाव और रसों का अभिनय सात्त्विक के अन्तर्गत माना गया है, जबकि कायिक अभिनय में चेष्टा, गति तथा अन्य लौकिक क्रिया-कलापों का अभिनय आता है। सात्त्विक अभिनय सूक्ष्म अन्तस्थ भावों का प्रकाशन है जबकि कायिक अभिनय, बाह्य चेष्टाओं और लोक-व्यापारों की अभिव्यक्ति का साधन है। इस प्रकार दोनों में भेद है।

नाटक के अंगों पर विचार करने के उपरान्त हम नाटक से सम्बन्धित दो-एक और प्रसंगों पर यहाँ विचार करेंगे।

नाट्य-वृत्तियाँ

नाटक में भाव और अर्थ की अभिव्यक्ति-शैलियों को वृत्तियाँ कहते हैं। ये चार हैं—कैशिकी, सात्त्वती, आरभटी, भारती।

कैशिकी

यह मनोहर वृत्ति है। शृंगार और हास्य के अभिनय में इसका प्रयोग होता है। गीत, नृत्य का इस वृत्ति में प्रचुरता के साथ प्रयोग होता है। यह लालित्य और विलास को प्रगट करनेवाली वृत्ति है और सामवेद से इसकी उत्पत्ति मानी गई है। इसके चार भेद माने गये हैं।

आरभटी

इसकी उत्पत्ति अथर्ववेद से मानी जाती है। इसमें दम्भ, झूठ, माया, इन्द्रजाल, विचित्रता आदि का प्रदर्शन होता है। इसका सम्बन्ध भयानक, वीभत्स और रौद्र रस से होता है। इसमें संघर्ष, लाभ, हानि, आघात, प्रतिघात, भय आदि की अभिव्यक्ति होती है।

सात्त्वती

सात्त्वती वृत्ति का सम्बन्ध वीर, रौद्र और अद्भुत रसों से है और इसकी उत्पत्ति यजुर्वेद से मानी गई है। इसमें उदात्त पुरुषों के कार्यों का वर्णन होता है। इसमें वीरता, हर्ष, संघात आदि सत्त्व से सम्बन्धित कार्यों का वर्णन होता है।

भारती

इसकी उत्पत्ति ऋग्वेद से मानी जाती है। इसमें वाणी का कौशल प्रधान होता है और इसे पुरुष ही अधिक प्रयुक्त करते हैं। स्त्रियों के लिए यह वृत्ति वर्जित है। इसका भरतों (नटों) के द्वारा प्रयोग होने से भारती नाम पड़ा। इसके चार भेद माने गये हैं। यह सभी रसों में काम करती है, परन्तु प्रमुखतया इसका सम्बन्ध करुण और अद्भुत रसों से है। इसमें वाग्वैचित्र्य प्रधान होता है। भारती का प्रमुखतया उपयोग नाटक के आरंभ में आनेवाले दृश्यों में होता है।

संकलनत्रय (Three Unities)

पाश्चात्य दृष्टि से नाटक के छः अंग माने गये हैं। अरिस्टॉटिल ने विषादान्त नाटक (Tragedy) के कथावस्तु (Plot), पात्र (Characters), भाषा (Diction), अभिनय (Spectacle), विचार (Thought) और संगीत (Melody) नामक छः अंग माने हैं। कुछ लोगों ने कथावस्तु, पात्र, शैली, कथोपकथन, देशकाल और उद्देश्य के रूप में नाटक और उपन्यास के एक ही प्रकार के अंग माने हैं जो उचित नहीं है। भारतीय दृष्टि से विवेचित चार अंगों—कथावस्तु, पात्र, रस और अभिनय—में सभी का अंशतः समावेश हो जाता है। प्रथम दो तो सभी में हैं ही। अभिनय के भीतर, कथोपकथन, भाषा और प्रदर्शन (Spectacle) सभी आ जाते हैं। इतना ही नहीं; वेशभूषा तक आहार्य अभिनय में सम्मिलित हैं। शैली का विवेचन वृत्त के अन्तर्गत किया गया है। उद्देश्य और विचार भारतीय दृष्टि से रस के अन्तर्गत आ जाते हैं जिसके अनुसार रस ही नाटक या रूपक का मुख्य प्रतिपाद्य है। ऐसी दशा में कोई अलग तत्त्व मूलतः बच नहीं

पाता। फिर भी यूनानी नाटकों में देशकाल का ध्यान रखकर अपने सीमित साधनों के कारण संकलनत्रय (Three Unities) का ध्यान रखा गया है, जिन पर हम यहाँ विचार प्रकट कर रहे हैं। संकलनत्रय में स्थान-संकलन, काल-संकलन और कार्य या वस्तु-संकलन समन्वित रहते हैं।

स्थान-संकलन

यूनानी नाटकों में इस बात का पालन होता था कि रंगशाला के आदि से अन्त तक वही दृश्य रहे, जिसके अनुसार नाटक में उन्हीं घटनाओं का प्रदर्शन होता था जो कि एक स्थान पर घटित हुई हों। इस स्थल-संकलन के पालन में नाटक की वस्तु सीमित हो जाती है और कल्पना के पूरे उन्मेष और वस्तु-विविधता का भी अवकाश नहीं रहता। भारतीय नाटकों में विभिन्न जवनिकाओं तथा चित्रों द्वारा विभिन्न स्थानों के दृश्यों और घटनाओं के प्रदर्शन का विधान था। अत: यूनानी दृष्टिकोण का स्थल-संकलन अत्यन्त प्रारम्भिक माना जाना चाहिए। स्थान के विषय में अनौचित्य और अस्वाभाविकता का समावेश न हो, यह आवश्यक है। अत: चतुराई से उसकी सूचना भारतीय नाटकों में या तो विष्कम्भक और प्रवेशक आदि के द्वारा दी जाती है अथवा दृश्यों, चित्रों और परदों आदि में स्थान स्पष्ट हो जाता है। अत: यूनानी स्थल-संकलन की धारणा से भारतीय विधान अधिक कलापूर्ण और स्वाभाविक है और इसमें कथावस्तु की घटनाओं के एक ही स्थान पर घटित होने की सीमा और संकीर्णता भी नहीं रहती। इसलिए अब नाटकों में जहाँ पर अनेक वैज्ञानिक साधनों द्वारा स्थान का स्वाभाविकता के साथ प्रदर्शन किया जा सकता है, यूनानी धारणा के स्थल-संकलन का कोई मूल्य नहीं है।

काल-संकलन

काल-संकलन की धारणा भी यूनानी नाटकों में यही थी कि रंगमंच पर उन्हीं घटनाओं को दिखाया जाय जो उतनी देर में घटित हो सकती हों जितनी देर नाटक का अभिनय वास्तव में चलता है। इसी का ध्यान रखकर प्राचीन यूनानी नाटक दिनरात चला करते थे। उतनी देर आधुनिक दर्शकों का बैठना असम्भव है। उनके द्वारा अभिनीत घटना भी इस प्रकार थोड़े ही समय की हो सकती थी। जीवन का व्यापक और पूर्ण स्वरूप, अनेक वर्षों के बीच होनेवाली घटनाओं का प्रदर्शन इस प्रकार से नहीं हो सकता था। भारतीय नाटकों में दृश्य और अंक-परिवर्तन करके यह काम निकाल लिया जाता था। जितना समय बीच में बीत जाता था, उसका संकेत आगामी दृश्य या अंक से मिल जाता था। इस प्रकार अंक-परिवर्तन और रंगमंच की सजावट में विविधता के द्वारा काल और स्थल का संकेत करने से नाटक में व्यापक जीवन की घटनाओं का प्रदर्शन किया जा सकता था। अत: काल-संकलन की भी धारणा यूनानी नाटक की प्रारम्भिक अवस्था का ही द्योतक है। भारतीय रंगमंच और अभिनय-पद्धति का बहुविध विवरणपूर्ण विधान काल और स्थल-संकलन की विकसित धारणा का द्योतक है। आज भी काल और स्थल का ध्यान रखा जाता है, अन्यथा नाटक अस्वाभाविक और घटनाएँ अविश्वसनीय लगने लगें, पर उसमें आनेवाली बाधाओं को अनेक उपायों और साधनों द्वारा दूर कर दिया जाता है।

कार्य अथवा वस्तु-संकलन

वस्तु-संकलन के अन्तर्गत प्रासंगिक और प्रधान कथाओं के समुचित संगठन तथा स्वाभाविक अभिनय का ध्यान रखा जाता है। प्रासंगिक कथावस्तु का न तो इतना विस्तार होना चाहिए कि आधिकारिक कथावस्तु क्षीण लगने लगे और न आधिकारिक कथावस्तु से वह नितान्त अलग ही जान पड़नी चाहिए। अनेक नाटकों में यह देखा जाता है कि मूल कथा से असम्बद्ध कोई हास्यप्रधान कथा जोड़ देते हैं, जो अलग चलती है और आधिकारिक कथा से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। यह वस्तु-संकलन की दृष्टि से अनुचित है। इसको भारतीय नाटकों की कथावस्तु के संगठन में खूब निभाया गया है। कार्यावस्थाओं, अर्थ-प्रकृतियों और पंच-सन्धियों के विधान से कथावस्तु पूर्ण सुसंगठित हो जाती है। कार्य-संकलन में अभिनय की स्वाभाविकता आती है। इसका भी भरत के नाट्यशास्त्र में अत्यन्त विशद और विवरणपूर्ण उल्लेख किया गया है। अतः भारतीय नाट्यशास्त्र में तीनों संकलनों का ध्यान रखते हुए भी विकासशील दृष्टि से काम लिया गया है, जबकि यूनानी नाटकों की संकलनत्रय की धारणा रूढ़, संकीर्ण और सीमित है। आगे चलकर पाश्चात्य नाटककारों ने स्वयं भी इनका पालन नहीं किया है।

रंगमंच

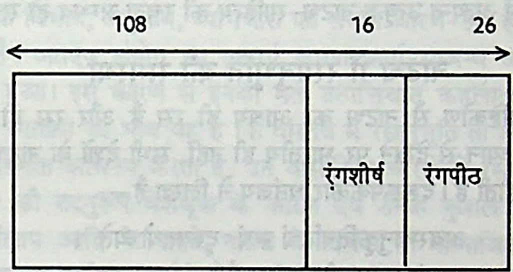
प्रेक्षागृह और रंगमंच-सम्बन्धी विस्तीर्ण विधि और विशद विवरण भरतमुनिकथित नाट्यशास्त्र में मिलते हैं जिनके मत से नाट्य एक वेद है और प्रेक्षागृह की स्थापना एक यज्ञ है। इसी दृष्टि से नाट्यशास्त्र में रंग-यजन का विवरण दिया हुआ है। प्रेक्षागृह का स्वरूप और उसकी स्थापना-विधि भरत के नाट्यशास्त्र के अनुसार संक्षेप में इस प्रकार है—

प्रेक्षागृह-निर्माण

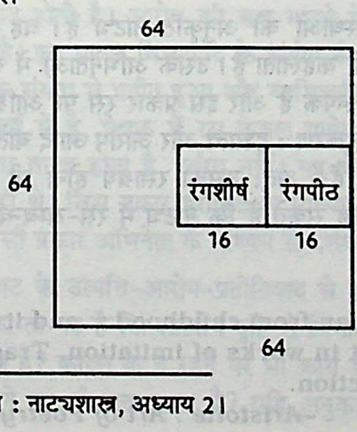
देवताओं की मानसी अवतारणा भवनों और उपवनों में यत्न और विधिपूर्वक मनुष्यों के द्वारा की जानी चाहिए। शास्त्र के अनुसार विश्वकर्मा ने प्रेक्षागृह की तीन प्रकार की स्थितियाँ निश्चित की हैं—विकृष्ट, चतुरस्त्र और त्र्यस्त्र। विभिन्न तीन परिमाणों के विस्तार के अनुसार ये ज्येष्ठ, मध्यम और अवर कहे जाते हैं। प्रथम की लम्बाई 108 हाथ, दूसरे की 64 हाथ और तीसरे की 32 हाथ मानी गई है। देवालयों में प्रथम प्रकार के, राजगृहों में द्वितीय प्रकार के और साधारण घरों में तृतीय प्रकार के प्रेक्षागृहों का विधान किया गया है। इन प्रेक्षागृहों में मध्यम प्रकार को उत्तम माना गया है जिससे कि वाद्य और गीत सहज रूप से सुने जा सकें। प्रेक्षागृह के निर्माण का विधान इस प्रकार है। कुशल व्यक्तियों द्वारा पहले भूमिशोधन (भूभाग की परीक्षा) करना चाहिए। समान, स्थिर और कठिन तथा काली और गौर वर्ण की भूमि पर नाट्य-मंडप का निर्माण करना चाहिए। उत्तम हल से जोतकर हड्डी, कील, घास, भूसे आदि साफ कर डालना चाहिए। उत्तम समय और नक्षत्रों में भूमि को नापना चाहिए। 64 हाथ का आधा कर फिर उसका आधा कर नेपथ्यगृह और रंग-शीर्ष की रचना करनी चाहिए। उसके भीतर से अनिष्ट, पाखण्डी, तपस्वी, काषायवस्त्रधारी संन्यासी, पागल व्यक्तियों को अलग कर देना चाहिए। रात्रि में दसों दिशाओं को पुष्पादि से सुगन्धिमय करके भोजन कराना चाहिए। शुभ मुहूर्त में भित्ति-निर्माण एवं स्तम्भ-रचना करनी चाहिए। स्तम्भ के द्वारा, भित्ति की विधिवत् स्थापना के

बाद रंग-पीठ के पीछे मत्तवारणी की स्थापना करनी चाहिए। यह चार खम्भोंवाली रंगपीठ के आकार की परन्तु आध हाथ ऊँची बनानी चाहिए। फिर रंगपीठ और शीर्ष की विधिपूर्वक रचना करनी चाहिए। काली मिट्टी के बने नेपथ्यगृह में दो द्वार होने चाहिए। रंग-शीर्ष को न तो कूर्मपृष्ठ (अर्थात् मध्य में ऊँचा) और न मत्स्यपृष्ठ (अर्थात् मध्य में नीचा) होना चाहिए। आदर्श (दर्पण) के समान समतल रंग-शीर्ष उत्तम होता है। रंगशीर्ष रत्नजटित होना चाहिए। पूर्व की ओर हीरा (वज्र), दक्षिण की ओर नीलम (वैदूर्य), पश्चिम में स्फटिक और उत्तर में प्रवाल (मूँगा) लगाना चाहिए। मध्य में सुवर्ण होना चाहिए। इसके उपरान्त काष्ठकार्य (काठ का काम) होना चाहिए जिसमें अनेक प्रकार की कारीगरी, व्याल, पुत्तलियाँ, पक्षी, यन्त्रजालीयुक्त गवाक्ष (झरोखे) आदि की रचना होनी चाहिए। भित्तिकार्य के साथ स्तंभ (खंभे), नागदंत (छज्जे), वातायन आदि होने चाहिए। एक पर्वत, कंदरा आदि का निर्माण होना चाहिए, जहाँ से गंभीर गूँजती ध्वनि निकल सके। भित्ति पर सुधा (कलई) से लेप करना चाहिए। फिर अनेक प्रकार के चित्र बनवाने चाहिए और उन पर बेलें चढ़ानी चाहिए। इसी प्रकार विधिवत् अन्य प्रकार के प्रेक्षागृहों का निर्माण करना चाहिए। रंग-पीठ में प्रवेश का एक द्वार और रंग-पीठ के सामने जन-प्रवेश का दूसरा मुख्य द्वार होना चाहिए। रंगपीठ विकृष्ट में अधिक ऊँचा होना चाहिए, चतुरस्र में समान हो। त्र्यस्र त्रिकोणाकार होना चाहिए और मध्य में रंग-पीठ होना चाहिए।[1] तीनों प्रेक्षागृहों के चित्र नीचे दिये जाते हैं।

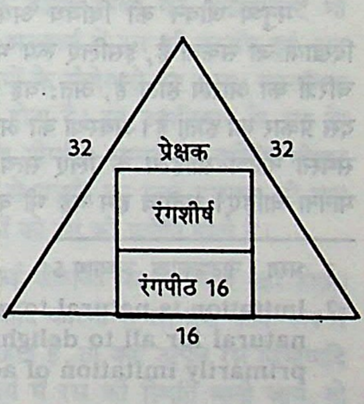
1. पूर्वरंग



2. चतुरस्र



3. त्र्यस्र



1. भरत : नाट्यशास्त्र, अध्याय 2।

पूर्वरंग

प्रेक्षागृह की रचना के बाद रंगदेवता के पूजन का विधान है। इसके उपरान्त नाट्याभिनय के प्रारम्भ से पहले पूर्वरंग की व्यवस्था का नियम वर्णित है। पूर्वरंग वास्तविक अभिनय के पहले आता है इसलिए इसका यह नाम है। इसमें गायकों का प्रवेश, गीतारंभ, नान्दीपाठ, वन्दना आदि का विधान सर्वप्रथम है। सबसे पहले रंगपीठ के मध्य में स्थित ब्रह्मा का अभिवादन किया जाता है और तब सूत्रधार वन्दना करनेवालों के साथ प्रवेश करता है। पहले प्राची दिशा की वन्दना होती है जिसके स्वामी इन्द्र हैं, फिर दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाओं की वन्दना होती है। पुनः शंकर, ब्रह्मा और विष्णु की वन्दना की जाती है। तब सूत्रधार सस्वर नान्दीपाठ करता है और विभिन्न गीतों में स्तुति की जाती है। फिर विदूषक और सूत्रधार का कथोपकथन होता है और रंगसिद्धि के लिए काव्यवस्तु का निरूपण संक्षेप में किया जाता है। काव्य की प्रख्यापना के साथ कवि के नाम का भी अनुकीर्तन होता है। इस प्रकार पूर्वरंग का विधिवत् पालन करने से अमंगल या अनिष्ट नहीं होता। इसका यहाँ अत्यन्त संक्षेप में उल्लेख किया गया है।[1] रंगमंच की ऊपर कही हुई व्यवस्था के साथ-साथ अभिनय के विविध अंगों, रूपों और विधाओं का अत्यन्त विशद और विस्तृत विवरण नाट्यशास्त्र में है जो इस बात का द्योतक है कि रंगमंच और नाट्यकला का कितना उत्कृष्ट विकास उस प्राचीन काल में हो गया था। इसी समृद्ध रंगमंच और उन्नत नाट्यकला का आधार प्राप्तकर संस्कृत में अत्यन्त उत्कृष्ट नाट्य-साहित्य की रचना सम्भव हो सकी थी।

नाट्य में रसानुभूति की समस्या

भारतीय दृष्टिकोण से नाट्य का आश्रय ही रस है और रस ही उसका मुख्य प्रतिपाद्य है तथा ध्यान से देखने पर भारतीय ही नहीं, सभी देशों के नाट्य के साथ यह बात सत्य सिद्ध होती है। दशरूपककार धनंजय ने लिखा है—

अवस्थानुकृतिर्नाट्यं रूपं दृश्यतयोच्यते ।
रूपकं तत्समारोपात् दशधैव रसाश्रयम् ॥

मनुष्य-जीवन की विविध अवस्थाओं की अनुकृति नाट्य है। वह देखा या दिखाया जा सकता है, इसलिए रूप भी कहलाता है। उसके अभिनेताओं में वास्तविक चरित्रों का आरोप होता है, अतः वह रूपक है और इस प्रकार रस पर आश्रित नाट्य दस प्रकार का होता है। अवस्था का अनुकरण : दृश्यत्व और आरोप आदि बातें विश्व के समस्त नाट्य-साहित्य के लिए सत्य हैं;[2] अतः उसका रसाश्रय होना भी निर्विवाद मानना चाहिए। अतएव हम यह भी कह सकते हैं कि नाट्य में रस-सम्बन्धी समस्या

1. भरत : नाट्यशास्त्र, अध्याय 5।
2. Imitation is natural to man from childhood···· and it is also natural for all to delight in works of imitation, Tragedy is primarily imitation of action.

—*Aristotle : Art of Poetry*, पृष्ठ 28

केवल भारतीय नाट्य के लिए ही सत्य नहीं, वरन् समस्त नाट्य-साहित्य के लिए एक ही है। इसी दृष्टिकोण से यहाँ पर विचार किया जायगा।

नाट्यरसानुभूति-सम्बन्धी कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न हमारे मन में उठते हैं जिनके उत्तर विद्वानों ने अपने विचारानुसार दिये हैं। नाट्यदर्शन से हमें आनन्द प्राप्त होता है, यह एक तथ्य है। प्रश्न यह है कि वह आनन्द क्यों प्राप्त होता है? किसको प्राप्त होता है? और किस प्रकार प्राप्त होता है? भारतीय नाट्य-शास्त्र के अन्तर्गत यह नाट्यदर्शन-जन्य आनन्द रस कहलाता है, जिसके सम्बन्ध में नाट्य-शास्त्र के प्रणेता भरतमुनि का सूत्र है—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति:' अर्थात् विभाव, अनुभाव और संचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इस सूत्र से सम्बन्धित कई प्रश्न उठते हैं कि संयोग है क्या और किसके साथ संयोग का यहाँ संकेत है? रस की निष्पत्ति से क्या तात्पर्य है? यह रस की निष्पत्ति किसमें होती है? सूत्र से सम्बन्धित इन प्रश्नों के उत्तर के साथ पूर्ववर्ती प्रश्नों के उत्तर भी अधिकांशत: प्राप्त हो जाते हैं। अत: हम ऐतिहासिक दृष्टि से इन प्रश्नों के शास्त्रीय उत्तरों का विवेचन करने के उपरान्त अपनी पूर्ववर्ती शंकाओं का समाधान करेंगे। संस्कृत-साहित्य में अपने विभिन्न दर्शनों की पृष्ठभूमि में विभिन्न आचार्यों ने इन प्रश्नों के उत्तर विभिन्न ढंगों से दिये हैं जिनमें इन शंकाओं का शास्त्रीय एवं यथार्थवादी ढंग से समाधान करने का प्रयत्न देखने को मिलता है।

प्राप्त सामग्री के अनुसार इस सूत्र पर प्रथम व्याख्या आचार्य भट्टलोल्लट की है। इनका मत है कि विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी का संयोग कारण-रूप है जिससे रस की उत्पत्ति होती है। अतएव संयोग का तात्पर्य कारण-कार्य-सम्बन्ध और निष्पत्ति का तात्पर्य उत्पत्ति हुआ। इस कारण से इनका मत **उत्पत्तिवाद** कहलाता है। लोल्लट के अनुसार इसकी व्याख्या का भाव यह है कि वास्तव में रसानुभूति तो अनुकार्यों में होती है। जिनका अभिनेता अभिनय करता है, उन वास्तविक चरित्रों में रस की स्थिति थी। परन्तु अभिनेता की तदनुरूप वेशभूषा के कारण एवं उनके कुशल अंग-संचालन, अभिनय, वार्त्तालाप आदि के सहारे नाट्य के दर्शक या सामाजिक, अभिनेता में वास्तविक चरित्र का आरोप कर लेते हैं। आरोप करने के कारण सामाजिक में भी रस की अनुभूति होती है। आरोप की बात मानने के कारण इनका मत **आरोपवाद** भी कहलाता है। इस प्रकार विभावादि के संयोग से अनुकार्य में रस की उत्पत्ति हुई, वह अनुभाव के संयोग से प्रतीत हुआ और व्यभिचारियों के संयोग से पुष्ट हुआ। वास्तविक रस अनुकार्य में है, प्रेक्षक में रस केवल प्रतीत होता है। इन उत्पत्तिवाद के मत के अनुसार रस वाच्य होता है, व्यंग्य नहीं। यह मत मीमांसा-सम्मत है, क्योंकि लोल्लट मीमांसावादी थे। जिस प्रकार पुरोहित के माध्यम से यज्ञादि का फल यजमान को प्राप्त होता है, उसी प्रकार अभिनेता के माध्यम से दर्शकों को रस की प्रतीति होती है।

लोल्लट के उत्पत्ति-आरोप-प्रतीतिवाद से कई शंकाओं का समाधान नहीं होता। पहली शंका तो यह है कि शास्त्रीय दृष्टि से विभावादि कारणों से रस क्या कार्य-रूप में उत्पन्न होता है? कारण के न रहने पर भी कार्य रहता है, तो क्या उत्पन्न रस विभावादि के हट जाने पर भी बना रहता है? यदि अनुकार्य में रस की स्थिति मानी जाय, तो

उसके अनुभाव तो लौकिक सुख-दुःखों के रूप में होते हैं। उन्हें रस कहाँ तक कहा जा सकता है और उनसे प्रेक्षकों में रस की प्रतीति कैसे हो जाती है? स्थायीभाव तो अनुकार्य में हैं, तब अभिनेता में आरोप करने से प्रेक्षकों को रसानुभूति किस प्रकार हो सकती है? आरोप की बात भी गड़बड़ में डालती है। हम आरोप उसी का करते हैं जिसका हमें पहले से परिचय है। हमने अनुकार्यों को कभी देखा नहीं, तब फिर हम अनुकर्त्ता में अनुकार्य का आरोप कैसे कर लेते हैं? यदि हम प्रेक्षक या दर्शक में केवल रस की प्रतीति मानते हैं, तो क्या रसानुभूति केवल प्रतीति ही है, हार्दिक अनुभूति नहीं? इन शंकाओं का समाधान इस उत्पत्ति या आरोपवाद में नहीं हो पाता।

सूत्र के दूसरे व्याख्याता शंकुक हैं जिन्होंने न्यायसम्मत अपना **अनुमितिवाद** का मत प्रस्तुत किया है। शंकुक के मतानुसार स्थायीभाव तो वास्तव में नायक आदि अनुकार्यों में रहता है, पर वही अनुकृतरूप होने पर रस की संज्ञा धारण करता है। अभिनेता के द्वारा अनुकृत नायकादि का स्थायीभाव, अनुमान के द्वारा सामाजिकों को जो आनन्द प्रदान करता है, वह रस कहलाता है। लोल्लट के समान यहाँ अभिनेताओं में नायकादि पात्रों के आरोप के कारण रस की प्रतीति नहीं है, वरन् वह प्रेक्षकों या सामाजिकों का एक प्रकार का आनन्द है जिसका आधार है अनुमान। शंकुक ने चार प्रकार के स्वीकृत ज्ञान के अतिरिक्त अनुमान ज्ञान की कल्पना की। चार प्रकार का प्रसिद्ध ज्ञान है—निश्चय ज्ञान, मिथ्या ज्ञान, संशय ज्ञान एवं सादृश्य ज्ञान। इनके अतिरिक्त किसी वस्तु को देखकर हम अनुमान लगा लेते हैं, जैसे कहीं दूर उठते हुए धुएँ को देखकर हम यह अनुमान कर लेते हैं कि वहाँ पर अग्नि होगी। इसी प्रकार हम अनुकर्त्ता के अभिनय से अनुकार्य के भावों का अनुमान लगा लेते हैं।

नैयायिक शंकुक ने इस प्रक्रिया की पुष्टि 'चित्रतुरगन्याय' से की है। चित्र में लिखे घोड़े को देखकर अनुमान के द्वारा हम उसे घोड़े के रूप में ही देखते हैं और उससे सम्बन्धित ज्ञान जाग्रत होता है। उसी प्रकार सामाजिक, अभिनेताओं को रामादि न मानते हुए भी चित्र-तुरग-न्याय के आधार पर रामादि अनुकार्यों की बातों का अनुभव करने लगते हैं। सामाजिक, अभिनेताओं के कुशल अभिनय के द्वारा, अनुभाव, संचारीभाव आदि के वास्तविक रूप में प्रदर्शन के सहारे, स्थायीभाव का अनुमान कर लेता है और यही अनुमान उसके रसबोध का कारण है।

अनुमितिवाद आरोपवाद से एक कदम आगे बढ़कर रसानुभूति की प्रक्रिया को उद्घाटित करने का प्रयत्न करता है। परन्तु अनुमान से रसानुभूति कैसे हो सकती है? मान लीजिए की हम धुएँ को दूर से देखकर अग्नि का अनुमान कर लें तो क्या हम अग्नि की गर्मी का अनुभव कर सकते हैं? तो फिर अनुमान से वास्तविक गुत्थी नहीं सुलझती। अनुमान वास्तव में बुद्धि का विषय है, अनुभूति का विषय नहीं है। रस तो प्रत्यक्ष अनुभाव का विषय है अतः केवल अनुमान से वह कैसे प्राप्त हो सकता है।

इस प्रकार की शंकाओं के प्रकाश में एक प्रधान शंका यह उठती है कि अनुकायु या अनुकर्त्ता में जो भाव हैं वे व्यक्तियों के भाव हैं, उनके प्रति प्रायः हमारा पूज्य भाव रहता है, ऐसी दशा में उनके प्रेम, लज्जा आदि के भावों को हम अपना मानकर कैसे

आनन्द ले सकते हैं। साथ-ही-साथ ये प्रश्न भी उठते हैं कि ये भाव सदैव मधुर या कोमल ही नहीं होते, कर्कश और भयानक भी होते हैं, उनमें भी हमें आनन्द क्यों आता है? यदि आनन्द नहीं आता, तो हम बार-बार क्यों देखना चाहते हैं? आदि आदि।

इन शंकाओं के समाधान में भट्टनायक का महत्त्वपूर्ण कार्य है। उन्होंने अपने मौलिक विचार प्रस्तुत किये हैं और साधारणीकरण की कल्पना करके रसानुभूति की प्रक्रिया के रहस्य का उद्घाटन किया है। भट्टनायक सांख्यमतानुयायी थे और उनकी व्याख्या सांख्य-सम्मत है। भट्टनायक रस को अनुमेय या प्रतीत नहीं मानते, वरन् भोज्य मानते हैं। संयोग का तात्पर्य भोज्य-भोजक भाव है और निष्पत्ति का तात्पर्य भुक्ति है। उन्होंने रसानुभूति की प्रक्रिया की तीन अवस्थाएँ मानी हैं—अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व। अभिधा व्यापार के द्वारा प्रेक्षक या सहृदय शब्दों का अर्थ समझता है और समस्त प्रसंगों की विशिष्ट स्थिति का ज्ञान कर लेता है। फिर भावकत्व व्यापार द्वारा विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है और भावों की पात्र-विशिष्टता समाप्त हो जाती है तथा सामाजिक की मनोवृत्ति विभावादिकों के विशिष्ट रूप में प्रस्तुत किये जाने से निर्वैयक्तिक हो जाती है। आलम्बन और उद्दीपन सर्वसाधारण की अनुभूति को स्पर्श करनेवाली विशेषता धारण कर लेते हैं और जो रसास्वाद में व्यक्तिगत भावना का प्रतिबन्ध या विरोध पड़ता था, वह समाप्त हो जाता है। इसी के साथ तीसरी अवस्था या व्यापार है भोजकत्व का। विभावादि साधारणीकृत हो जाते हैं, तब सहृदय या सामाजिक में तमस् एवं रजस् की शान्ति हो जाती है और सत्त्वोद्रेक होता है। सत्त्वस्थ हो जाने से सामाजिक के वैयक्तिक ईर्ष्या, द्वेष, चिन्ता आदि हो जाते हैं और वह अखण्ड स्वप्रकाशानन्द का अनुभव करता है जो कि भोजकत्व की अवस्था है। भट्टनायक के मतानुसार यह रसानन्द निर्वैयक्तिक, सत्त्वोद्रेकयुक्त, चिन्मय, वेद्यान्तरस्पर्शशून्य, संविद्विश्रान्तियुक्त होने के कारण 'परब्रह्मास्वादसहोदर' कहा जाता है।[1] यह मत भुक्तिवाद है।

भट्टनायक ने साधारणीकरण के द्वारा रसानुभूति के रहस्य को स्पष्ट करने में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। भट्टनायक ध्वनि-विरोधी आचार्य थे, अतः उन्होंने भावकत्व और भोजकत्व व्यापारों की कल्पना की, जिसकी आवश्यकता ध्वनिवादी समालोचक अभिनवगुप्त ने स्वीकार नहीं की। भट्टनायक का मत तथ्यपूर्ण होते हुए भी दार्शनिक है, इसी से इन्होंने प्रेक्षक में सत्त्वोद्रेक द्वारा रसानुभूति की व्याख्या की है जो सांख्य-दर्शन से सम्बन्धित है। परन्तु वास्तव में रसानुभूति एक यथार्थ शारीरिक मानस-व्यापार है, अतः मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसके विश्लेषण की आवश्यकता बनी रही। भट्टनायक ने साधारणीकरण के प्रतिपादन द्वारा एक बहुत बड़े अवरोध को भंग कर दिया, को नाट्य-रसानुभूति की प्रक्रिया को समझने में बाधक था। अतएव भट्टनायक का इस दिशा में महत्त्वपूर्ण एवं मौलिक कार्य है।

---

1. अभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसोऽनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोनुवेध वैचित्र्यबलाद्धृदिविस्तारविकासलक्षणेन सत्त्वाद्रेकः स्वप्रकाशानन्दमय-निजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्येत इति।

—*भट्टनायक : हृदयदर्पण*

भट्टनायक मत के शास्त्रीय दृष्टि से विरोधी होते हुए भी रसानुभूति के विश्लेषण में इनके मत को परिष्कृत एवं पूर्ण करनेवाले प्रसिद्ध विद्वान् अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के मत का खण्डन करते हुए भी इनके साधारणीकरण सिद्धान्त का विकास किया है। अभिनव का मत **अभिव्यक्तिवाद** है। वे रस की उत्पत्ति, अनुमिति और भुक्ति को स्वीकार न कर भरत-सूत्र के निष्पत्ति शब्द का अर्थ अभिव्यक्ति के रूप में सिद्ध करते हैं। आचार्य भरत ने स्वयं भी अभिव्यक्ति का संकेत देते हुए लिखा है—

एवमेते काव्यरसाभिव्यक्तिहेतवः एकोनपंचाशद्भावाः प्रत्यवगन्तव्याः एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसाः निष्पद्यन्ते (नाट्यशास्त्र)। इस प्रकार अभिनवगुप्त का मत भरत के सूत्र की सबसे अधिक संगत व्याख्या प्रस्तुत करता है, एवं मनोवैज्ञानिक और यथार्थवादी दृष्टिकोण को भी सन्तुष्ट करता है।

अभिनवगुप्त भावकत्व और भोजकत्व व्यापारों को अशास्त्रीय मानते हैं। भोजकत्व तो रस का स्वभाव ही है[1] तथा भावकत्व[2] भावों की विशेषता है, अतः इनकी कल्पना संगत नहीं। वे शब्द के अर्थ-प्रकाशन एवं साधारणीकरण का कारण व्यंजना के विभावन-व्यापार को मानते हैं। रस उनकी दृष्टि से व्यंग्य है। इस कारण व्यंजना के द्वारा वह सहृदय को प्रभावित करता है। रसास्वाद के अधिकारी सहृदय हैं। स्थायीभाव व्यंग्य होते हैं तथा विभावादि व्यंजक रूप। अतः व्यंजक-व्यंग्य-सम्बन्ध ही संयोग का अर्थ हुआ। व्यंजना के विभावन-व्यापार से विभावों और स्थायीभावों का साधारणीकरण होता है। अर्थात् नायक आदि अनुकार्यों के भाव वैशिष्ट्य-हीन हो जाते हैं तथा सहृदय के हृदयस्थ वासनारूप भावों को जगाते हैं। अभिनवगुप्त का मत है कि 'न ह्येतच्चित्तवृत्ति-वासनाशून्यः कश्चित् प्राणी भवति' अर्थात् कोई भी मनुष्य वासनाशून्य नहीं होता। यह वासना गुप्तावस्था में पड़ी रहती है और जब अभिनय से काव्यार्थ प्रकाशित होते हैं तो यह वासना जाग उठती है; उसी प्रकार जैसे मिट्टी में गन्ध छिपी रहती है और पानी पड़ने पर उससे फूट पड़ती है; परन्तु वैसे विदित नहीं होती।

साधारणीकरण के साथ सहृदय का वासना-संवाद होता है और सुषुप्त स्थायीभाव निर्वैयक्तिक रूप से अभिव्यक्त होकर आनन्द का आस्वाद कराते हैं, यही रसास्वाद है। रस की स्थिति इसी आस्वाद में है। यह संविद्विश्रान्तिजन्य आनन्द है। इसमें चेतना विश्रान्ति की स्थिति में होती है। इस प्रकार यह तुष्टिकारक अनुभव होता है। यह रसानुभूति अलौकिक इसलिए कही जाती है कि जीवन की अन्य सामान्य अनुभूतियों से यह अपनी निर्वैयक्तिकता, उदात्तता एवं सामाजिकता के कारण भिन्न होती है। इसमें सम्बन्ध-विशेष का परिहार हो जाता है। यह रस सहृदय-संवेद्य है। इस प्रकार विभावादि और सहृदय दोनों ही के व्यक्ति-सम्बन्ध का परिहार हो जाने से अखण्ड रस का आनन्द प्राप्त होता है। यह मत शैवाद्वैतवाद या आनन्दवाद के आधार पर है जिसमें चेतना की पूर्ण विश्रान्ति की स्थिति मानी जाती है।

---

1. आस्वाद्यत्वाद्रसः—*अभिनवगुप्त*
2. काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः। —*भरत*

अपने दार्शनिक मत के आग्रह की दृढ़ता होने पर भी अभिनवगुप्त का यह मत मनोवैज्ञानिक आधार लिए हुए है और रसानुभूति की प्रक्रिया का यथार्थवादी विश्लेषण प्रस्तुत करता है। आगे के अधिकांश विद्वानों ने इसका आधार ग्रहण किया है। यह मत **अभिव्यक्तिवाद** कहलाता है।

मम्मट ने रसानुभूति से सम्बन्धित भरत-सूत्र की व्याख्या के ये चारों मत दिये हैं। इसके बाद जो व्याख्याएँ हुईं वे नाटक को ही ध्यान में रखकर नहीं की गईं, वरन् काव्य को भी सम्मिलित करके की गईं। रस-निष्पत्ति की इन व्याख्याओं में आचार्य विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ और पण्डित रामचन्द्र शुक्ल के विचार प्रमुख महत्त्व रखते हैं।

आचार्य विश्वनाथ विभाव, अनुभाव एवं संचारीभाव के द्वारा व्यक्त सहृदयों के स्थायी भावों को रसत्व की स्थिति मानते हैं। इनका मत भट्टनायक और अभिनव दोनों के समन्वित रूप में व्यक्त हुआ है। वे करुणा आदि रसों को आनन्दमय मानते हुए उसमें सुख का कारण अलौकिक विभावत्व मानते हैं। लौकिक विभाव हमारी वैयक्तिक परिस्थितियाँ होती हैं जिनके अनुभव में हम निर्वैयक्तिक नहीं हो सकते। अतएव नाटक या काव्य में प्रस्तुत विभाव ही हमें आनन्द का अनुभव करा सकते हैं। विश्वनाथ के इस मत से रस की स्थिति केवल प्रेक्षक या सहृदय में ही सिद्ध होती है, नायकादि में नहीं, क्योंकि वे लौकिक और व्यक्तिगत स्थिति से निरपेक्ष नहीं हो पाते। साधारणीकृत अवस्था में 'यह उसका है, यह मेरा है' आदि का ध्यान नहीं रहता, अतः उसका सामान्य रूप से सभी को आस्वाद प्राप्त होता है। विभावानुभावसंचारी से मिलकर प्राप्त आनन्द अनेक स्वादों के सम्मिश्रित आनन्दवाले प्रपानक के समान होता है। रस की स्थिति केवल संवेदनकाल में ही रहती है, इसके बाद या पहले नहीं। यह आनन्द स्वप्रकाश, अखण्ड और अलौकिक है। विश्वनाथ रसानुभूति की स्थिति में आश्रय के साथ सहृदय के तादात्म्य की दशा मानते हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ ने वेदान्त के आधार पर रसानुभूति की व्याख्या की है। अभिनवगुप्त के व्यक्ति-सिद्धान्त को वे कुछ दूसरे प्रकार से प्रस्तुत करते हैं। उनका विचार है कि वासनारूप स्थायीभाव स्वतः प्रकाशमान आत्मानन्द के साथ जब अनुभव किये जाते हैं, तब रस कहलाते हैं। अज्ञानादि के आवरण से विभावादि की अनुपस्थिति में चेतन या आत्मा आच्छादित रहता है, अतः अभिव्यक्ति का तात्पर्य इसी अज्ञानावरण का भग्न हो जाना है। अतः रस 'भग्नावरणचिद्विशिष्ट' ही है। अज्ञानावरण अभिनय के दर्शन या काव्यश्रवण से भग्न हो जाता है और अखण्ड एवं नित्यशुद्ध आत्मचैतन्य प्रकट हो जाता है, जिसके द्वारा हम स्थायीभाव का अनुभव करते हैं, यही रसानुभूति की दशा होती है। अन्तःकरण की अन्य वृत्तियाँ इस स्थिति में शान्त रहती हैं और इसमें शुद्ध चैतन्य-रूप की ही अभिव्यक्ति होती है। पण्डितराज प्रतीति को मानते हैं। उनका मत है कि दिखलाई देनेवाले विभावादि नहीं, वरन् कल्पना में आये विभावादि आत्मचैतन्य के द्वारा प्रकाश प्राप्त करते हैं। इस प्रकार विभावादि का अनुभव आत्मचैतन्य के साथ जब होता है, तब रस की दशा होती है।

स्पष्ट है कि इस मत में भी दार्शनिक आग्रह अधिक है, यथार्थवादी मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं। अतः अभिनवगुप्त का मत ही अब तक सर्वाधिक मान्य सिद्ध होता है।

पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने रसानुभूति की स्थिति को अधिक सामाजिक धरातल पर देखने का प्रयत्न किया है। आचार्य विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ ने केवल प्रेक्षक या पाठक में ही रसानुभूति को स्वीकार किया है, विभावादि के प्रत्यक्ष रूप में वे रस की स्थिति नहीं मानते। परन्तु शुक्ल जी तीनों स्थितियों में रस की अनुभूति मानते हैं (1) प्रत्यक्ष रूप-विधान में भी रस की अनुभूति किन्हीं अवस्थाओं में हो सकती है तथा (2) स्मृत और (3) काल्पनिक रूप-विधानों में भी रसात्मक बोध हो सकता है। प्रश्न यही है कि उनका स्वरूप इस प्रकार का हो कि वैयक्तिक परिधि का तिरोभाव हो सके और सामाजिक स्तर पर वे देखे जा सकें। यदि एक साथ बहुतों को एक ही भाव में मग्न करने की क्षमता उस रूप-विधान में है, तो निश्चय ही उसमें रसानुभूति हो सकती है।

यहाँ पर शुक्ल जी ने सम्भावना की बात की है, जो कि आदर्शवादी दृष्टिकोण है। वास्तविकता यह है कि प्रत्यक्ष रूप-विधान में अनेक अवरोध रहते हैं अत: रसानुभूति की तन्मयता नहीं आ पाती। उसे हम भावानुभूति तो कह सकते हैं, पर रसानुभूति नहीं, क्योंकि पूर्ण रसानुभूति के लिए विभावादि की विविधता और पूर्णता, अनुभावों से प्रतीति तथा संचारियों से पुष्टि होना आवश्यक है, प्रत्यक्ष जीवन में अनेक बाधक उपक्रम होते रहने से रसानुभूति सम्भव नहीं हो पाती। अत: रसानुभूति की पूर्ण स्थिति नाट्य या काव्य में ही मिल सकती है।

दूसरी बात, शुक्ल जी साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का ही मानते हैं। परन्तु साधारणीकरण समस्त व्यापार का होता है जैसा कि अभिनवगुप्त को मान्य है, क्योंकि विभावादि भी निर्वैयक्तिक हो जाते हैं जिनमें आलम्बन और आश्रय दोनों ही हैं, तथा उद्दीपन भी सम्मिलित है। इसके साथ संचारी और अनुभाव भी अपना वैयक्तिक सम्बन्ध खोकर साधारणीकृत स्थायीभाव को प्रतीतियोग्य एवं पुष्ट बनाते हैं जिससे वासनागत हमारा स्थायीभाव उद्बुद्ध होकर साधारणीकृत स्थायीभाव के साथ संवादित हो सके। रसानुभूति की पूर्ण स्थिति के सम्पादन के लिए इस कारण से विषय को इस रूप में प्रस्तुत करना आवश्यक है कि उसका साधारणीकरण हो सके, साथ ही प्रेक्षक या श्रोता के वासनागत स्थायीभाव भी जाग्रत हो सकें। प्रेक्षक या श्रोता की सहृदयता तो आवश्यक है ही।

इस प्रकार अब तक के समस्त विवेचन के आधार पर रसानुभूति की प्रक्रिया या रस-निष्पत्ति को हम इस प्रकार प्रकट कर सकते हैं—

1. रसानुभूति एक शारीर-मानसात्मिक व्यापार है। इस अनुभूति की स्थिति में हमारी समस्त वृत्तियाँ तन्मय हो जाती हैं और हम अपनी लौकिक सत्ता को भूल जाते हैं।
2. इस स्थिति का सम्पादन नाट्य द्वारा पूर्णतया हो सकता है और रसानुभूति प्रेक्षक, दर्शक या सामाजिक को होती है।
3. रंगमंच पर प्रस्तुत दृश्यादि तथा उनके बीच नाट्य करनेवाले विभिन्न पात्रों के अंग-संचालन, वार्त्तालाप, क्रिया-कलाप, अभिनय आदि से अनुकार्यों की मन:स्थिति एवं भावों की व्यंजना होती है। अनुकरण की स्वाभाविकता एवं

शब्दों के प्रभाव से उनका पात्रों के साथ का व्यक्ति-सम्बन्ध छूटकर साधारणीकरण हो जाता है और वे सबके आस्वाद्य हो जाते हैं।

4. साधारणीकरण के साथ ही प्रेक्षक के भीतर संस्कार एवं वासनागत भाव जाग्रत होते हैं और साधारणीकृत भावों के साथ समन्वित एवं संवादित होकर प्रेक्षक को आनन्द प्रदान करते हैं।

5. इस प्रकार जाग्रत भाव भी व्यक्ति-सम्बन्ध से मुक्त होते हैं, अतः सुख-दुःखात्मक आधार पर होते हुए भी तटस्थता के कारण आनन्दात्मक अनुभव प्रदान करते हैं।

पाश्चात्य दृष्टिकोण

रसानुभूति की प्रक्रिया के सम्बन्ध में कुछ पाश्चात्य विद्वानों का दृष्टिकोण भी भारतीय विचारकों से कुछ मिलता-जुलता है। 'डाउने' (Downe) अपने ग्रन्थ 'क्रियेटिव इमैजिनेशन' (Creative Imagination) में रसानुभूति के भावतादात्म्य को समानुभूति के रूप में मानते हैं, जो दो रूपों में देखा जाता है—

1. बहिर्जगत् की अन्तर्मुखी स्थिति[1],
2. अन्तर्जगत् का बहिर्मुखी विकास[2] ।

उनके विचार से कला का परिणाम यही भावतादात्म्य (Identification) है। वास्तविक आनन्दानुभूति उद्‌बुद्ध अनुभूतियों के समीकरण की स्थिति है। यह अनुभूति तीन प्रकार की है—

1. अपनी सत्ता के तिरोभाव के रूप में।
2. दूसरों का अपने ऊपर आरोप करके अनुभव करने की दशा।
3. तटस्थ रहकर अनुभव करने की स्थिति।

ध्यानपूर्वक देखने से इस मत के भीतर आरोपवाद और साधारणीकरण का रूप मिल जाता है। अपनी सत्ता का तिरोभाव और दूसरे का अपने ऊपर आरोप, वासनागत भावों के उद्‌बुद्ध होने और विभाव के साधारणीकरण बहुत कुछ साम्य रखते हैं। तटस्थ रहकर अनुभव करने की स्थिति पूर्ण रसानुभूति में तभी परिणत होगी, जबकि निर्वैयक्तिकता के रूप में साधारणीकृत भावों से हमारे भावों का संवादन हो। अन्यथा वह केवल भावानुभूति ही रहेगी, रसानुभूति नहीं।

ऐश्ले ड्यूक्स[3] और वुडवर्ड क्रमशः नाटक और उपन्यास में नायक-नायिका के

---

1. Introjective phase.
2. Projective phase.
3. The Spectator of a play is always absorbed in the Drama. First of all he ignores the frame of picture that is presented to him and he regards the action as a personal experience in which he is himself taking part.

—*Ashley Duckes : Drama*, पृष्ठ 168.

साथ एकात्मत्व की बात कहते हैं। उनका विचार है कि सहृदय स्वभावतया अपने को नायक की परिस्थिति में समझने लगते हैं। पर इस प्रक्रिया का सकारण विश्लेषण उन्होंने नहीं किया। यह साधारणीकरण और अभिव्यक्तिवाद से भिन्न नहीं है। वास्तव में यह एकात्मता भाव-संवाद के विविध रूपों में से एक है जो कि साधारणीकरण और अभिव्यक्ति के परिणामस्वरूप प्राप्त होती है।

पात्र के साथ तादात्म्य की बात मेंडर (A. H. Mender) को भी मान्य है। उनका विचार है कि प्रेक्षक अपनी व्यक्तिगत चेतना को खोकर कथानक के किसी पात्र के साथ तादात्म्य का अनुभव करता है। अतः यह एकात्मता या तादात्म्य का सिद्धान्त, जो साधारणीकरण का एक रूप है, पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों को भी मान्य सिद्ध होता है।

रूस के सुविख्यात लेखक टाल्स्टाय स्पष्टतया सहृदय का कलाकार या लेखक के साथ तादात्म्य मानते हैं और साधारणीकरण को इस रूप में स्वीकार करते हैं कि उस दशा में सभी सहृदयों की मनःस्थिति एक ही रहती है जिसमें कि वैयक्तिक चेतना नष्ट हो जाती है।[1]

इस प्रकार हम यह अनुभव करते हैं कि अभिनवगुप्त द्वारा स्वीकृत साधारणीकरण का सिद्धान्त और उनके द्वारा प्रतिपादित अभिव्यक्तिवाद, रसानुभूति की प्रक्रिया के विश्लेषण में एक सर्वमान्य सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

■ ■

---

1. The chief peculiarity of this feeling is that the recipient of a truly artistic impression is so united to the artist that he feels as if the work were his own and not some one else's—as if it has expressed what he had long been wishing to express. A real work of art destroys in the recipient the consciousness of the separation between himself and all those whose minds receive this work of art.

—*Tolstoy : What is Art and Other Essays*, पृष्ठ 228.

5

आलोचना का स्वरूप
और
उसकी पद्धतियाँ

अध्याय 5

आलोचना का स्वरूप और उसकी पद्धतियाँ

Neither praise nor blame is the object of true criticism. Justly to discriminate, firmly to establish, wisely to prescribe and honestly to award—these are the true aim and duties of a true Critic.

गुणादानपरः कश्चिद् दोषादानपरो परः ।
गुणदोषाहतित्यागपरः कश्चन भावकः ॥

आलोचना और आलोचक अपने आज के प्रचलित अर्थ में आधुनिक शब्द हैं। आलोचक ही पहले भावक था जो मूल्यांकन कर सकता था, सहृदयतापूर्वक काव्य के गुण-दोषों का विवेचन कर सकता था, परन्तु उसका उद्देश्य दोष निकालना मात्र न था। दोनों को प्रकट करके उनको दूर करने की प्रेरणा देना, गुणों का विकास करना भावक का प्रमुख ध्येय था। भावक या आलोचक का उत्तरदायित्व तिहरा है— एक कवि या लेखक के प्रति, दूसरे कृति के प्रति और तीसरे समाज के प्रति। कवि और लेखक का वह प्रेरक और मार्ग-प्रदर्शक है, कृति के गुणों का विज्ञापन और दोषों का विवेचन और दिग्दर्शन करा के उसका महत्त्व प्रकट करना उसका प्रमुख कार्य है और समाज को कृति और कवि के सम्बन्ध में वास्तविक ज्ञान कराना, सत्कृतियों के पठन की प्रेरणा जाग्रत करना और उनके लेखकों के प्रति सम्मान-भाव जगाना उसका सर्वप्रधान उत्तरदायित्व है। इन तीनों ही प्रकार के उत्तरदायित्वों को निभाने के लिए आलोचक में कुछ गुणों का होना अत्यन्त आवश्यक है।

आलोचक के गुण

सबसे पहले आलोचक के लिए आवश्यक गुण है— **सहृदयता**। सहृदयता निषेधात्मक और योगात्मक दोनों ही रूप में आवश्यक है। आलोचक में कृति और उसकी कृति के प्रति पूर्वग्रह का अभाव होना चाहिए। द्वेष, ईर्ष्या आदि से उसे रहित होना चाहिए। इन निषेधात्मक विशेषताओं के साथ-साथ उसे कृति में व्याप्त गुणों पर रीझने की शक्ति होनी चाहिए । कवि की अन्तरात्मा के साथ तादात्म्य स्थापित करने की संवेदना सहृदयता का मुख्य अंग है। मुक्त हृदय से काव्य-कृति में तन्मय होकर, गुणों पर

रीझता हुआ जो आलोचक अपनी आलोचना प्रस्तुत कर सके, वह सहृदय आलोचक है।

आलोचक का दूसरा गुण है—**विस्तृत ज्ञान**। यदि आलोचक को आलोच्य विषय तथा लोक और शास्त्र का व्यापक एवं सूक्ष्म ज्ञान न होगा, तो वह वर्ण्यविषय की बारीकियों को समझ ही न पायेगा, उसमें गुण-दोष निकालना तो दूर की बात है। उसका इतिहास, दर्शन, काव्य-शास्त्र, समाज-शास्त्र आदि का विस्तृत ज्ञान ही उसे आलोचना की विविध भूमियाँ प्रदान कर सकता है और कृति की विशेषताओं का विवेचन करने में सहायक हो सकता है। विस्तृत, सूक्ष्म एवं गम्भीर ज्ञान से हीन पल्लवग्राही आलोचना न तो कवि और न उसकी कृति के लिए ही महत्त्व की है और न ही कोई हित कर सकती है।

आलोचक का तीसरा गुण है—**निष्पक्षता**। सहृदयता के साथ निष्पक्षता के मेल के बिना आलोचक किसी कृति की आलोचना में न्याय नहीं कर सकता। परिचितों और आत्मीयों की कृतियों में उसे गुण-ही-गुण दिखलाई देंगे और अन्यों की कृतियों में दोष अधिक और गुण कम। इस प्रकार पक्षपात आलोचक का बहुत बड़ा दोष है। आलोचक को न्यायाधीश के समान क्षीर-नीर-विवेकी होना चाहिए। आलोचक का यह गुण उसकी सूक्ष्म बुद्धि और चरित्र दोनों से ही सम्बन्ध रखता है।

इसके अतिरिक्त आलोचक को, व्यक्तिगत कृतियों की आलोचना के साथ, समय-समय पर सामूहिक रूप से साहित्य को प्रेरित करनेवाले विचार प्रकट करने चाहिए। यह आलोचक के लिए आवश्यक, उदात्त, सामाजिक और कलात्मक दृष्टि से भी संवेदना रखनेवाला गुण है। इस दृष्टि के साथ युग की बदलती चेतना की भी संवेदना होनी चाहिए, जिससे वह प्राचीन अथवा नवीन कला-कृतियों की युगानुकूल व्याख्या कर सके। उपर्युक्त सभी गुणों से सम्पन्न होकर ही आलोचक अपने त्रिमुखी उत्तरदायित्व को निभा सकता है।

1. आलोचना का स्वरूप

आलोचना के सम्बन्ध में भ्रान्तिपूर्ण धारणाएँ प्रचलित हैं और कुछ लोग रचनात्मक साहित्य के अतिरिक्त अन्य समस्त काव्य से सम्बन्धित साहित्य, आलोचना की परिधि में सम्मिलित कर देते हैं। परन्तु वह सब वास्तव में आलोचना नहीं है। इस प्रकार के साहित्य में साहित्यानुसन्धान, काव्य का इतिहास और काव्यशास्त्र या काव्य-सिद्धान्त भी सम्मिलित हैं। आलोचना का स्वरूप इन तीनों से भिन्न है।

अनुसन्धान और आलोचना

अनुसन्धान का प्रमुख कार्य अज्ञात तथ्यों की खोज अथवा ज्ञात तथ्यों की नवीन व्याख्या है। जब तक तथ्यों या दृष्टिकोण-सम्बन्धी नवीनता न हो, तब तक उसे अनुसन्धान की कोटि में नहीं रखा जा सकता। परन्तु आलोचना का कार्य किन्हीं मानदंडों के आधार पर विशेषताएँ बताना, व्याख्या करना अथवा मूल्यांकन है। अतः समस्त अनुसंधान की कृतियाँ आलोचना नहीं हो सकतीं और न समस्त आलोचना की कृतियाँ अनुसन्धान ही। आलोचना अनुसंधान तभी हो सकती है, जबकि उसमें आद्यन्त नवीन

और अब तक अज्ञात दृष्टिकोण की खोज से सम्बन्धित व्याख्या विद्यमान हो। प्रश्न यह उठता है कि क्या आलोचना में नवीन बातें नहीं कही जा सकतीं? कही जा सकती हैं, पर उन बातों में प्रारम्भ से अन्त तक एक निश्चित दृष्टिकोण या सिद्धान्त वर्तमान नहीं रहता जिसे नष्ट करना अनुसन्धान का मुख्य उद्देश्य होता है। अतः अनुसंधान एक निश्चित धारणा को लेकर चलता है। आलोचना जहाँ भी नवीन, सुन्दर मौलिक विशेषताएँ मिलीं उन्हीं का स्पष्टीकरण, किसी मानदण्ड के आधार पर या उसके बिना ही करती है। इस प्रकार दोनों की नवीनता और मौलिकता में भेद हो जाता है।[1]

साहित्यिक इतिहास और आलोचना

इसी प्रकार इतिहास और आलोचना की प्रक्रियाओं में भिन्नता है। इतिहास का प्रमुख ध्येय कालक्रम में लेखक और कृति की व्यवस्था और उसका स्थूल परिचय है। आलोचना ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का ध्यान रखती हुई लेखक के महत्त्व का प्रकाशन, कृति की मूल्यांकन-सम्बन्धी विवेचना, कृति की व्याख्या और उसकी विशेषताओं का स्पष्टीकरण करती है। ऐतिहासिक आलोचना इतिहास की पृष्ठभूमि ग्रहण करती है, पर वह इतिहास नहीं है। इतिहास, तथ्यों के अनुसन्धान के अनुसार अपनी व्यवस्था और मान्यताओं में परिवर्तन और संशोधन करता रहता है; यों आलोचना से अधिक सम्बन्ध उसका अनुसंधान से है।

काव्यशास्त्र और आलोचना

काव्यशास्त्र और काव्यसिद्धान्त को कुछ लोगों ने आलोचना का एक रूप माना है। परन्तु दोनों में अन्तर है । काव्यशास्त्र या सिद्धान्त समस्त काव्य में व्याप्त उसके स्वभाव, सौन्दर्य, प्रक्रिया, प्रभाव आदि से सम्बन्धित नियमों और सिद्धान्तों का विश्लेषण और विवेचन करता है; आलोचना उन सिद्धान्तों और नियमों को मानदण्ड या कसौटी के रूप में स्वीकार करती है। आलोचना निराकार नियमों और सिद्धान्तों की खोज नहीं करती, वरन् कवि की कृति की व्याख्या का मूल्यांकन करती है । हाँ, आलोचना के किन्हीं रूपों

---

1. Another alternative term for the work of the literary scholar is "research". But is seems particularly unfortunate, for it stresses the merely preliminary search for materials which have to be "searched for" and those which are easily available. For example, it is "research" when one visits the British Museum to read a rare book while it apparently involves a different mental process to sit at home and appreciate a book. At most the term research suggests certain preliminary operations, the extent and nature of which will very greatly concern with the nature of the problem. But it will suggest those subtle concerns with interpretation, characterisation and evaluation which are primarily characteristic of literary studies.

—*Theory of Literature, Chapter* IV, P. 30.

में काव्य-सिद्धान्त और अनुसंधान-सम्बन्धी बातों की प्रारंभिक स्थिति पायी जाती है, जिसमें काव्य के नियमों, सिद्धान्तों, वर्गीकरण, भेद-प्रभेद, मानदंड, प्रयोजन आदि पर व्यापक रूप से विचार किया जाता है, वह काव्यशास्त्र है, परन्तु जिसमें किसी कवि की कृति की व्याख्या और मूल्यांकन प्रस्तुत किया जाता है, वह आलोचना है। हाँ, उसका एक रूप अपने इस प्रमुख कार्य के बीच सैद्धान्तिक विशेषता का संकेत करता है। काव्यशास्त्र इस प्रकार आलोचना के सिद्धान्तों को भी अपने अन्तर्गत समेट लेता है ।[1] इस प्रकार आलोचना का अपना निजी कार्यक्षेत्र, उपर्युक्त अन्य अध्ययनों से भिन्न और विशिष्ट रूप एवं महत्त्व रखता है ।

2. आलोचना का कार्य

आलोचना का कार्य कवि और उसकी कृति का यथार्थ मूल्य प्रकट करना है। इसके लिए कृति में व्याप्त गुणों का उद्‌घाटन और दोषों का विवेचन तो उसका कार्य है ही, साथ ही उसका समाज में और अन्य कलाकृतियों के बीच क्या स्थान और महत्त्व है, यह स्पष्ट करना भी आलोचना का ही कार्य है। कलात्मक उत्कृष्टता का पूर्ण प्रकाशन आलोचना का श्रेय कार्य है। इसके अतिरिक्त कविप्रतिभा की विशेषताओं का पूर्ण उद्‌घाटन भी उसी का कार्य है। कलाकृति के द्वारा कवि की मन:स्थिति पर प्रकाश डालना और वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक और युग की परिस्थितियों के प्रभाव को स्पष्ट करना भी आलोचना के क्षेत्र के भीतर ही समझा जाता है। अत: आलोचना के कार्य के दो प्रधान पक्ष हैं— एक तो कवि या कलाकार की कृति की पूर्ण व्याख्या का और

---

1. Within our "proper study", the distinctions between literary theory, criticism and history are clearly the most important. There is, first, the distinction between a view of literature as a simultaneous order and a view of literature which sees it primarily as a series of works arranged in a chronological order and as integral parts of the historical process. There is, then, the further distinction between the study of the principles and criteria of literature and the study of concrete literary works of art, whether we study them in isolation or in a chronological series. It seems best to draw attention to these distinctions by describing as "literary theory" the study of the principles of literature, its categories, criteria and the like and by differentiating studies of concrete works of art as either "literary criticism" (primarily static in approach) or "literary history"... The term "theory of literature" might well include, as this book does, the necessary "theory of literary criticism" and theory of "literary history."

—*Theory of Literature, Chapter* IV, P. 30.

दूसरा उसके महत्त्व एवं मूल्यनिरूपण का। यह कहना कि आलोचना के भीतर केवल तटस्थ रूप से व्याख्या होनी चाहिए और मूल्य अथवा महत्त्व का निरूपण आलोचक के वैयक्तिक विचारों का प्रभाव पाठक पर डाल देता है, अत: वह इसके बाहर है, वास्तव में आलोचक और आलोचना के कार्य पर ही अविश्वास प्रकट करना है। यदि आलोचक अपने उत्तरदायित्व के प्रति जागरूक है, तो वह दोनों ही पक्षों के कार्यों का निर्वाह कर सकता है। आलोचना का क्षेत्र तो यहाँ तक व्यापक माना जाता है कि व्यक्तिगत प्रभावों से लेकर तटस्थ रूप से सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण भी इसी की सीमा में आ जाता है।[1] इस प्रकार आलोचना के व्यापक कार्य को समेटने के लिए विभिन्न पद्धतियाँ प्रयुक्त हुईं। यहाँ पर हम उसके प्रमुख रूपों का विश्लेषण करेंगे।

3. आलोचना के रूप और पद्धतियाँ

(अ) आत्मप्रधान या प्रभावात्मक आलोचना

यह आलोचना का बड़ा ही स्वच्छन्द रूप है। इसमें आलोचक किन्हीं भी नियमों या सिद्धान्तों में बँधकर चलना नहीं चाहता। वह कृति के अध्ययन के उपरान्त अपने ऊपर पड़े हुए प्रभाव का मौजपूर्वक विश्लेषण करता है। उसकी भावपूर्ण शैली होती है। आलोचना का यह रूप वैयक्तित होता है। अत: कृति के मूल्यनिर्धारण और पाठक के मार्गनिर्देशन एवं ज्ञानसंवर्धन में इसका अधिक योग नहीं रहता। इसमें आलोचना से अधिक रचनात्मक विशेषताएँ रहती हैं। उसमें कल्पना और भाव-तत्त्व प्रधानतया कार्य करता है, विचार-तत्त्व कम। इसे हम एक प्रकार का भावात्मक साहित्यिक निबन्ध कह सकते हैं। हिन्दी साहित्य के भारतेन्दु और द्विवेदी-युगों में इस शैली का विशेष अवलम्बन ग्रहण किया गया था। पद्मसिंह शर्मा की बिहारी की आलोचना इस कोटि में आती है। यह आलोचना स्वच्छन्द होने से रुचिकर अधिक होती है। कभी-कभी इसमें वागाडम्बर मात्र होता है। उदाहरण नीचे दिया जाता है—

''वाह रे अन्धे कवि सूरदास, तुमने क्या कमाल किया है! तुमने वह रूप और भाव-सौन्दर्य अपनी बन्द आँखों से देख लिया जो लोग अपनी खुली आँखों से भी नहीं देख पाते। राधा और गोपियों का रंग-विलास ह्रदय में एक गुदगुदी पैदा करता है और नटखटराज कृष्ण, तुम धन्य हो! तुम्हारी लीला का पार कौन पा सकता है? यह सब सूर का कमाल है! सूर के काव्य के आगे तो अमृत भी फीका लगता है!''

(आ) सैद्धान्तिक आलोचना

अंग्रेजी में यह स्पेकुलेटिव क्रिटिसिज्म (Speculative Criticism) कहलाती है। इसके अन्तर्गत आलोचक व्यक्तिगत श्रेष्ठ कृतियों का अध्ययन करते हुए व्यापक

1. Literary criticism, in the most elastic meaning of the term, is literature discussing itself. It extends from the formal treatise to the floating criticism of everyday conversation of literary topics.–*Moulton*.

सिद्धान्तों की खोज करता रहता है।[1] अतः कृतियों के अध्ययन और व्याख्या द्वारा इस प्रकार के सिद्धान्तों को खोजना या उनका संकेत करना सैद्धान्तिक आलोचना है। इस आलोचना के अन्तर्गत सिद्धान्त और काव्यशास्त्र के ग्रन्थ रखे जाते हैं। इसका सम्बन्ध काव्यशास्त्र से माना जाता है। मम्मट का 'काव्यप्रकाश', आनन्दवर्द्धन का 'ध्वन्यालोक', अरिस्टॉटिल की 'पोइटिक्स', क्रोचे का 'ईस्थिटिक्स' आदि ग्रन्थ इसके भीतर रखे जाते हैं। परन्तु यदि सिद्धान्तनिरूपण ही किसी पुस्तक में हुआ है तो उसे काव्य-सिद्धान्त या काव्यशास्त्र के भीतर स्थान मिलना चाहिए, आलोचना के भीतर नहीं। आलोचना के भीतर तो किसी कृति के अध्ययन करते समय सामान्य और व्यापक काव्य-सिद्धान्त की नवीन खोज या पूर्ववर्ती सिद्धान्त का विवेचन या विकास हो सकता है, पर पूरा काव्य-सिद्धान्त-निरूपण नहीं, जो कि विवेचना का आधार बनता है, जिसका सम्बन्ध शास्त्र या दर्शन से अधिक है—आलोचना से नहीं। अतः दोनों में अन्तर है। इस आलोचना के द्वारा व्यापक सैद्धान्तिक विकास सम्भव होता है। हिन्दी में पण्डित रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना में हमें इसके उदाहरणं मिलते हैं। जैसे—"साधारणीकरण के प्रतिपादन में पुराने आचार्यों ने श्रोता (या पाठक) और आश्रय के तादात्म्य की अवस्था का ही विचार किया है। पर रस की एक नीची अवस्था और है जिसका हमारे यहाँ साहित्य-ग्रन्थों में विवेचन नहीं हुआ है। जैसे कोई क्रूर प्रकृति का पात्र यदि किसी निरपराध या दीन पर क्रोध की प्रबल व्यंजना कर रहा है, तो श्रोता या दर्शक के मन में क्रोध का रसात्मक संचार न होगा, बल्कि क्रोध प्रदर्शित करनेवाले उस पात्र के प्रति अश्रद्धा, घृणा आदि का भाव जगेगा। ऐसी दशा में आश्रय के साथ तादात्म्य या सहानुभूति न होगी, बल्कि श्रोता या पाठक उक्त पात्र के शील-द्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करेगा और यह प्रभाव भी रसात्मक होगा। पर इसकी रसात्मकता को हम मध्यम कोटि की ही मानेंगे।"

(इ) शास्त्रीय या निर्णयात्मक आलोचना

अंग्रेजी में इसे जुडीशल क्रिटिसिज्म (Judicial Criticism) कहा जाता है। इसके अन्तर्गत काव्य, कला अथवा अन्य शास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर किसी कृति अथवा रचना की आलोचना की जाती है। सैद्धान्तिक आलोचना का यह विलोम है। यह सिद्धान्तों को व्यवहार में लाता है। सिद्धान्तों की कसौटी पर कठोरता से रचना को कसना इसका उद्देश्य है। प्रचलित सिद्धान्तों—जैसे अलंकार, रस, रीति, ध्वनि, अभिव्यंजनावाद अथवा समाज-शास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर हमें इस प्रकार की आलोचना पूर्ववर्ती युगों में खूब मिलती है। एक उदाहरण नीचे दिया जाता है —

जानति सौति अनीति है, जानति सखी सुनीति ।
गुरुजन जानत लाज है, प्रीतम जानत प्रीति ॥

1. Speculative criticism works towards a theory and philosophy of literature ...... In speculative criticism, formal literary theory relaxes into tentative advance towards an undertime philosophy of literature.—*Moulton*.

उपर्युक्त छन्दविशेष 'दोहा' के नाम से भाषाकाव्य में प्रसिद्ध है। यह वर्णन स्वकीया नायिका का है। नायक और नायिका के आलम्बन से इसमें शृंगार रस है। सखी की सुनीति से रस की उद्दीप्ति होती है। गुरुजन की लाज से लज्जा संचारी का काम पूरा पड़ता है। प्रियतम की प्रीति से अनुभाव की ओर अंगुलिनिर्देश है। नायिका नागर है, यह बात स्पष्ट ही है।

प्रसाद गुण, मधुरा वृत्ति एवं वैदर्भी रीति से दोहा विलसित होता है।

नायिका की सौति, सखी, गुरुजन, प्रियतम आदि अनेक जन अनेक प्रकार से जानते हैं, इस कारण यह उल्लेख अलंकार का प्रथम भेद हुआ।

सखी-सुनीति, प्रीतम-प्रीति में छेकानुप्रास है। नायिका को प्रियजन प्रेमभाव से और अप्रियजन अप्रियभाव से देखते हैं अर्थात् वह अपने व्यवहार से अनेक लोगों को अनेक गुणों से प्रभावित करती है, वह नागर नायिका है— यह व्यंग्यार्थ हुआ। अतः व्यंजना शक्ति और यह अर्थ चमत्कारिक होने से ध्वनि (उत्तम) काव्य हुआ।

(ई) व्याख्यात्मक आलोचना (Inductive Criticism)

इसमें न तो व्यापक सिद्धान्तों की कठोरता को ही स्वीकार करते हैं और न किसी युग की चेतना को ही महत्त्व देते हैं। इसका प्रमुख ध्येय कृतियों की कवि के दृष्टिकोण में व्याख्या करना है। इस प्रकार की आलोचना में आलोचक सिद्धान्तों और आदर्शों की ओर अधिक ध्यान न देकर कवि की अन्तरात्मा में प्रवेश करके उसके आदर्श और दृष्टिकोण तथा प्रवृत्तियों को समझाता है। कवि की प्रवृत्तियों का अध्ययन आधुनिक युग में अधिक महत्त्व का माना जाता है। आचार्य शुक्ल की सूर, तुलसी तथा जायसी सम्बन्धी आलोचनाएँ अधिकांश इसी प्रकार की हैं।

व्याख्यात्मक आलोचना यह स्वीकार करती है कि सभी कवि या साहित्यकार एक श्रेणी या प्रकृति के नहीं होते। अतएव किसी एक सिद्धान्त या नियम से उनको नापना असंगत है और इस बात में वह निर्णयात्मक आलोचना से सर्वथा भिन्न है। इसके अन्तर्गत आलोचक साहित्य को प्रकृति के अन्य पदार्थों की भाँति विकासशील मानकर नूतन विकास तथा उसके कारणों को खोजने का प्रयास करता है। साहित्य को निर्जीव मानकर पूर्वप्रतिष्ठित निर्जीव सिद्धान्तों द्वारा ही उसकी परीक्षा नहीं की जाती। साथ-ही-साथ इसमें व्यक्तिगत या आत्मप्रधान आलोचना का भी रूप नहीं रहता; क्योंकि इसमें आलोचक यह नहीं कहता कि रचना मुझे कैसी लगी, वरन् वह व्यक्तिगत अभिरुचि का परित्याग करके तटस्थ रूप से यह स्पष्ट करता रहता है कि कवि या साहित्यकार ने इसमें क्या अभिव्यक्त किया है। वह उस कृति के परीक्षण में सदैव एक वैज्ञानिक अन्वेषक की भाँति नवीन सिद्धान्त, नियम या विशेषताएँ खोजने में सजग रहता है। इस प्रकार व्याख्यात्मक आलोचना में साहित्यकार के साथ पूर्ण न्याय होने के साथ-साथ सजीवता और रोचकता भी बनी रहती है और नवीन नियमों एवं सिद्धान्तों को विकास प्रदान करनेवाले तथ्यों की भी खोज होती रहती है, इसीलिए इस आलोचना-पद्धति को अधिक

महत्त्व दिया जाता है। यह आलोचना सैद्धान्तिक आलोचना का आधार बनती है। इसका उदाहरण यह है—''जनक के परिताप-वचन पर उग्रता और परशुराम की बातों के उत्तर में भी जो चपलता हम देखते हैं, उसे हम बार-बार अवसर-अवसर पर देखते चले जाते हैं। इसी प्रकार श्रीराम की जो धीरता और गम्भीरता हम परशुराम के साथ बातचीत करने में देखते हैं, वह बराबर आगे आनेवाले प्रसंगों में हम देखते जाते हैं। इतना देखकर हम कहते हैं कि श्रीराम का स्वभाव धीर और गम्भीर था और लक्ष्मण का उग्र और चपल।

अत: इस संचारमात्र के लिए किसी मनोविकार की एक अवसर पर पूर्ण व्यंजना ही काफी है। पर किसी पात्र में उसे शील रूप में प्रतिष्ठित करने के लिये कई अवसरों पर उसकी अभिव्यक्ति दिखाई पड़ती है। रामचरितमानस के भीतर कई ऐसे पात्र हैं जिनके स्वभाव की विशेषता गोस्वामी जी ने कई अवसरों पर प्रदर्शित भावों और आचरणों की एकरूपता दिखाकर प्रत्यक्ष की है।''

(उ) तुलनात्मक आलोचना (Comparative Criticism)

इसके अन्तर्गत दो या अधिक विभिन्न कवियों की समान विषयवाली रचनाओं की तुलना की जाती है। आलोचक अपने विषय के प्रतिपादनार्थ दोनों की रचनाओं का अध्ययन कर उनके विविध अंगों पर प्रकाश डालता है। इस कोटि की आलोचना में मूल्य-निर्धारण की भावना विद्यमान रहती है। इसके अन्तर्गत अपनी रुचि के अनुसार किसी कवि के प्रति अन्याय भी किया जा सकता है। यह पद्धति उन स्थलों पर उपयोगी होती है जहाँ हमें तुलनात्मक दृष्टि से किसी को छोटा या बड़ा सिद्ध नहीं करना होता, वरन् एक ही प्रकार की विशेषताओं, नियमों और सिद्धान्तों के प्रभाव को स्पष्ट करना होता है। इस तथ्य का ध्यान न रखने पर प्राय: इस आलोचना का परिणाम कटु विवाद होता है। हिन्दी में बिहारी और देव की आलोचना और उस सम्बन्ध में उत्पन्न विवादास्पद स्थिति इसका ज्वलन्त उदाहरण है। शान्तिप्रिय द्विवेदी और शचीरानी गुर्टू के कुछ लेख इस आलोचना के भीतर आते हैं।

(ऊ) मनोवैज्ञानिक आलोचना (Psychological Criticism)

यह भी बहुत कुछ व्याख्यात्मक है। इसके अन्तर्गत कवि और कलाकार के अन्तस् का अध्ययन किया जाता है और काव्य के मूलस्थित भावों और प्रेरणाओं का विश्लेषण इसका प्रमुख उद्देश्य है। इसमें बाह्य परिस्थितियों से आन्तरिक भावनाओं पर होनेवाली प्रतिक्रिया का विशेष रूप से अध्ययन होता है। कवि की रचनाओं को वैयक्तिक स्वभाव, उसकी आर्थिक, पारिवारिक, सामाजिक परिस्थितियों से उत्पन्न उसकी प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप मन:स्थिति आदि के प्रकाश में देखना और निष्कर्ष निकालना भी इस कोटि की आलोचना का उद्देश्य रहता है। आजकल हिन्दी में कुछ आलोचकों की आलोचनाओं में मनोवैज्ञानिक तथा मनोविश्लेषणात्मक (Psycho-analytical) पुट भी देखने में आने लगा है। व्याख्यात्मक में प्रधानतया कृतित्व का विश्लेषण रहता है और इसमें कवि की रुचि, परिस्थिति और अन्तर्वृत्तियों का।

(ए) ऐतिहासिक आलोचना (Historical Criticism)

इसमें कर्त्ता और कृति की सामयिक परिस्थितियों का अध्ययन और उनके सहारे रचना का मूल्यांकन किया जाता है। तत्कालीन युग में सामाजिक स्थिति क्या थी, साहित्यिक विचारधारा किस ओर जा रही थी, साथ-ही-साथ युग-विशेष की राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक स्थिति कहाँ तक सामूहिक रीति से साहित्य पर और उस व्यक्ति पर प्रभाव डाल सकी, आदि बातों का विवेचन भी ऐतिहासिक आलोचना में रहता है।

सच तो यह है कि जितने भी हमारे प्राचीन कवि या कलाकार हैं, उनको जब तक हम उनके निजी युग की परिस्थितियों के प्रकाश में नहीं देखते तब तक हम उनका वास्तविक गौरव नहीं समझ सकते। किसी प्राचीन कवि को आज की कसौटी पर कसना और उसके सम्बन्ध में उसी आधार पर कोई निर्णय दे देना और उसे सर्वमान्य समझना, कवि या कलाकार के साथ अन्याय करना होता है। ऐतिहासिक आलोचना में इस प्रकार की सम्भावना नहीं। अत: उसका अपना स्थान है और वह महत्त्वपूर्ण है।

ऐतिहासिक आलोचना का किसी भी कवि या कृति के मूल्यांकन में बहुत बड़ा महत्त्व होता है।

यहाँ पर प्रमुख पाश्चात्य आलोचना-पद्धति पर विचार किया गया है। आगे हम भारतीय आलोचना पद्धति पर विचार प्रकट करेंगे।

भारतीय आलोचना पद्धति

भारतीय आलोचना पद्धति की प्रमुख विशेषता, वस्तु (तथ्य, सिद्धान्त और जीवन) को पूर्णता प्रदान करने का प्रयास है और इस प्रयास में आलोचक अपने निजी व्यक्तित्व को प्रकट नहीं करना चाहता। उसकी शैली या विचार पद्धति से चाहे वह भले ही प्रकट हो जाय अथवा अन्य मनीषियों के विचारों से भेद करने के लिए उसे प्रकट करना पड़े[1] और इस दिशा में भी पूर्ववर्ती विचारों और आलोचकों की देन और प्रगति को स्वीकार और प्रकट करते हुये ही वह आगे बढ़ना चाहता है। इस बात को प्रमाणित करने के लिए केवल दो संस्कृताचार्यों की ओर संकेत कर देना ही पर्याप्त होगा। पहली कृति भरतमुनिकृत 'नाट्यशास्त्र' है जिसे हम नाटक पर लिखा गया सर्वप्रथम सिद्धान्त ग्रन्थ मानते हैं। ये यदि चाहते तो बड़ी सरलता से अपने ग्रन्थ में अपने सर्वप्रथम इस विषय के लेखक होने का आभास दे सकते थे, परन्तु उन्होंने ऐसा न करके अपने पूर्ववर्ती नट-सूत्रों के प्रणेताओं कृशाश्व और शिलालिन् का उल्लेख कर दिया है। दूसरी

---

1. जैसे काव्यमीमांसा में भावक (आलोचक) और कवि के भेदों पर विभिन्न मतों को देखते हुए राजशेखर ने लिखा है— क: पुनरनयोर्भेदो यावत्कविर्भावयति, भावकंश्च कवि: इत्याचार्या:। ते च द्विधा। अरोचकिन: सतृणाभ्यवहारिणश्च, इति मंगल: कवयोऽपि भवन्ति इति वामनीया:। चतुर्द्धा इति यायावरीया: (चतुर्थ अध्याय:)। इसी प्रकार की पद्धति कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा अन्य शास्त्रों में भी मिलती है।

कृति मम्मटकृत 'काव्य-प्रकाश' है। उन्होंने भी रसानुभूति की प्रक्रिया के वर्णन में जो सूचना दी है, वह अन्यत्र उपलब्ध नहीं है और आज भी हम इस प्रक्रिया का अध्ययन करते समय भट्टलोल्लट के 'आरोपवाद', शंकुक के 'अनुमानवाद', आदि के लिए मम्मट का काव्य-प्रकाश ही देखते हैं और उसी सूचना को महत्त्वपूर्ण समझते हैं। इसके साथ-ही-साथ सूचनाएँ, सूक्तियाँ और रचनाएँ ऐसी भी हैं जिनके नाम आज तक अज्ञात हैं। इस आत्मगोपन की प्रकृति के दुष्परिणाम और सुपरिणाम दोनों ही हुए हैं। दुष्परिणाम तो यह हुआ कि हमें ऐतिहासिक तथ्य को जानने में कठिनाई होती है। इतना ही नहीं अत्यधिक आत्मगोपन के भाव ने बहुत-से तथ्यों की जानकारी असम्भव कर दी है और आज भी किसी शास्त्र या वस्तु का क्रमबद्ध भारतीय इतिहास लिखना दुष्कर कार्य हो गया है। परन्तु एक सुन्दर परिणाम यह हुआ है कि आलोचना-पद्धति या विचार-पद्धति अपने व्यक्तिगत विज्ञापन की प्रवृत्ति के अभाव में पूर्ण सैद्धान्तिक बन गयी है। इस प्रकार निष्पक्ष तथ्य-निरूपण और सैद्धान्तिकता भारतीय आलोचना-पद्धति की पहली विशेषता है। इसका प्रमाण हमें केवल साहित्य के ही क्षेत्र में नहीं मिलता, जिसमें कि नाट्यशास्त्र, काव्यालंकार, काव्यमीमांसा, ध्वन्यालोक, काव्य-प्रकाश, साहित्य-दर्पण आदि अनेक सैद्धान्तिक ग्रन्थ मिलते हैं, वरन् अध्यात्म, दर्शन, समाजशास्त्र, नीति, वैद्यक, ज्योतिष, वास्तुस्थापत्य-कला आदि पर लिखे गये विभिन्न आचार्यों के ग्रन्थों में भी यही विशेषता देखने को मिलती है।

भारतीय आलोचना-पद्धति की दूसरी विशेषता यह है कि वह व्यक्तिप्रधान न होकर विषयप्रधान है; अर्थात् उसके द्वारा जिस दृष्टिकोण की अभिव्यंजना की गयी है वह वर्ण्यविषय के सूक्ष्म और सप्रमाण विश्लेषण होने के कारण, उस व्यक्ति तक ही सीमित रहनेवाले विशेष भाव के रूप में नहीं, वरन् वास्तव में अन्य बहुतों का दृष्टिकोण बन जाती है। विषय-प्रधान होने के कारण जैसा अनुभव एक पूर्ववर्ती आलोचक का है वैसा ही परवर्ती दूसरे आलोचक का भी हो सकता है। इस पद्धति का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि परवर्ती आलोचकों के द्वारा पूर्ववर्ती आचार्यों के मत की अपूर्णता दूर करके उस विशिष्ट सिद्धान्त का सर्वांगीण रूप सामने रखने का प्रयत्न निर्बाध चलता रहा।

इस बात को प्रकट करने में भारतीय आलोचना-पद्धति की एक तीसरी विशेषता भी स्पष्ट होती है। वह यह कि भारतीय आलोचक पूर्ववर्ती आचार्यों के विचारों का ध्यानपूर्वक तटस्थ भाव से अध्ययन कर, फिर अपने विशिष्ट शिक्षा या संस्कार-वश पड़े प्रभावों के आधार पर किसी सिद्धान्त को बढ़ाने का प्रयत्न करता है और इस प्रकार चिन्तन-शृंखला में बराबर आगे अपनी कड़ियाँ जोड़ता चलता है। वास्तव में हमारी आज की वैज्ञानिक विकास-पद्धति का भी यही क्रम है। तर्क द्वारा सिद्धान्त या तथ्य के असत्य पक्ष का खण्डन कर जिसे हम ठीक समझते हैं, उस अंश को आगे बढ़ाना हमारा कर्त्तव्य है। आलोचना[1] और विशेष रूप से अलंकारशास्त्र के क्षेत्र में भारतीय आलोचकों ने यही

1. प्राचीन अलंकारशास्त्र ने बहुत-कुछ आज की आलोचना का काम भी पूरा किया, यह बात 'अलंकार शेखर' की प्रस्तावना में लिखे हुए इस वाक्य से स्पष्ट हो जायगी—यत्खलु काव्यस्वरूपं निरूप्य दोषगुणरीतिरसालंकाराणामवधारणे शक्तिमुन्मेषयति तत्तावदलंकारशास्त्रं निगद्यते। —पृ० 2।

किया है। यहाँ पर एक प्रश्न उठता है कि यदि ऐसा है तो भारतीय काव्यालोचना के क्षेत्र में विभिन्न काव्य-सिद्धान्त क्यों उठ खड़े हुए? वास्तव में बात यह है कि विश्व में परिव्याप्त अखण्ड सत्य के असंख्य पक्ष और रूप हैं और मेरा अपना व्यक्तिगत विचार है कि एक चिन्तनशील व्यक्ति जब तटस्थ रूप से तर्क पर आधारित सत्य का उद्घाटन करता है, तो वह पूर्व-प्रकाशित सत्य का पूरक ही अधिक होता है। उससे नितांत भिन्न या विरोधी कोई तथ्य नहीं निकलता। वे एक व्यापक सिद्धान्त के अंग बनते जाते हैं और सभी तथ्य मिलकर एक व्यापक सत्य के उद्घाटन में सफल होते हैं।

भारतीय आलोचना-पद्धति की चौथी विशेषता यह है कि वह अपने समस्त तथ्यान्वेषण को एक स्वतःसिद्ध, पूर्ण और व्यापक सत्य के साथ एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न करती है। अपने इस प्रयत्न में यह पद्धति सदैव तथ्यवादी नहीं रहती, वरन् काल्पनिक हो जाती है। यह भी हमें मानना पड़ेगा और यहीं पाश्चात्य पद्धति से उसका प्रमुख भेद भी स्पष्ट हो जाता है[1] जो हमारी राष्ट्रीय और सांस्कृतिक भिन्नता के कारण है।

पाश्चात्य आलोचना-पद्धति काव्य को जीवन की अनुकृति, आलोचना आदि के रूप में मानती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि यह विवेचना काव्य-कर्त्ता की दृष्टि से की गयी है जबकि भारतीय आलोचना सामाजिक श्रोता या रसभोक्ता की दृष्टि से विशेष है। काव्यकार की दृष्टि से कर्त्ता की व्यक्तिगत और परिस्थितिगत कठिनाइयों को ध्यान में रखकर जो आलोचना आती है उसमें उसके प्रति सहानुभूति का भाव होने से वह अधिक यथार्थ और तथ्यवादी होती है पर सामाजिक दृष्टि वास्तविक आलोचक की दृष्टि है, जो कृतिविशेष की प्रशंसा उसके भीतर व्याप्त सौन्दर्य या आनन्द के तथ्यों के आधार पर करती है जिनका आदर्श उसके सामने होता है। इस प्रकार भारतीय आलोचना-पद्धति आदर्शात्मक है। पाश्चात्य आलोचना-पद्धति जहाँ पर ऐतिहासिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक आधारों को प्रमुख महत्त्व प्रदान करती है, वहाँ भारतीय आलोचना-पद्धति प्रत्येक स्थिति में व्याप्त तथ्यों और सिद्धान्तों को। उसका आधार दार्शनिक अधिक है। इन तथ्यों और सिद्धान्तों के प्रकाश में व्यक्ति का अपना प्रयत्न केवल पूर्णता की ओर प्रयास है। परन्तु यहाँ पर हमें यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि ये दोनों पद्धतियाँ एक-दूसरे की विरोधिनी नहीं, वरन् पूरक हैं और आधुनिक युग में हमें पाश्चात्य पद्धतियों को सहर्ष अपनाते हुए भी भारतीय पद्धति को मूलाधार के रूप में ग्रहण करके चलना ही अधिक आवश्यक है।

---

1. Oriental consciousness is, for example, in general more poetic than the western mind, if we exclude Greece. In the East the principle predominant is always that of coherence, unity.....For the Oriental nothing persists as really substantive, but everything appears as contingent discovering its supreme focus, stability and final justification in the one the absolute to which it is referred.

—*Hegel : The Philosophy of Fine Arts*, Part IV, पृष्ठ 28.

ऐसी बात नहीं कि भारतीय समालोचना के भीतर कभी भी पाश्चात्य और पाश्चात्य समालोचना के भीतर कभी भी भारतीय दृष्टिकोण आया ही न हो। परन्तु प्रधानतया दोनों की निजी विशेषताएँ इसी प्रकार की हैं। भारतीय आलोचना-पद्धति के भीतर खण्डन और मण्डन पद्धति पर पूर्ववर्ती सिद्धान्त को आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया गया है, उसमें कहीं-कहीं अपने मत का हठ भी है, पर सदा नहीं। अधिकांश में अपने मत का आग्रह न होकर उसमें तर्क और युक्तिपूर्वक प्रतिपादन ही देखने को मिलता है जो विषयप्रधान आलोचना के लिए नितान्त आवश्यक है।

उपर्युक्त विशेषताओं से युक्त भारतीय आलोचना-पद्धति विभिन्न रूपों में हमें देखने को मिलती है। सबसे महत्त्वपूर्ण रूप सूत्रमयी सैद्धान्तिक आलोचना का है। सैद्धान्तिक सूत्र दो प्रकार के प्रयत्नों के फलस्वरूप लिखे गये। प्रथम काव्य की आत्मा को खोजने के और द्वितीय कवि-शिक्षा की बातें लिखने के। बड़े-बड़े महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में दोनों ही प्रकार के सूत्र एक साथ भी मिलते हैं। काव्यात्मा की खोज करनेवाले साहित्यालोचन के सैद्धान्तिक सूत्रग्रन्थों में प्रमुख नाट्यशास्त्र (भरत), काव्यालंकार (भामह), काव्यादर्श (दण्डी), वक्रोक्तिजीवितम् (कुन्तक), काव्यालंकारसूत्र (वामन), ध्वन्यालोक (आनन्दवर्धन), काव्यप्रकाश (मम्मट), साहित्यदर्पण (विश्वनाथ) आदि हैं। इनके भीतर काव्य-सौन्दर्य को स्पष्ट करते-करते यह भी आचार्यों द्वारा खोज निकाला गया है कि काव्य की आत्मा अलंकार, वक्रोक्ति, रीति, ध्वनि अथवा रस है। इनके सिद्धान्त-ग्रन्थों में सूत्र रूप में आये इन्हीं कथनों को पूर्णतः स्पष्ट करने का प्रयत्न है और जैसा पहले कहा जा चुका है कि इन विचारकों ने पूर्ववर्ती सिद्धान्तों का खण्डन कर या तो अपना निजी सिद्धान्त खड़ा किया अथवा उसका ही अधिक स्पष्टीकरण किया है। काव्यात्मा से सम्बन्धित विभिन्न सम्प्रदायों के सिद्धान्तसूत्र इस प्रकार देखे जा सकते हैं—

अलंकार सम्प्रदाय—(1) काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। सौन्दर्यमलंकारः (वामन)।
(2) काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते (दंडी)।

रीति सम्प्रदाय—रीतिरात्मा काव्यस्य (वामन)।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय—वक्रोक्तिः काव्यजीवितम् (कुंतक)।

ध्वनि सम्प्रदाय—काव्यस्यात्मा ध्वनिः (आनन्दवर्धन)।

रस सम्प्रदाय—वाक्यं रसात्मकं काव्यम् (विश्वनाथ)।

इस प्रकार की सैद्धान्तिक सूत्रमय आलोचना, जो काव्यात्मा को खोजने के लिए की गयी, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और ये सिद्धान्त पूर्ण रूप से प्रस्फुटित हुए हैं उस विशिष्ट भारतीय आलोचना-पद्धति के द्वारा जिसमें पूर्ववर्ती सत्य-तथ्य को आगे बढ़ाने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है।

सूत्रमयी सैद्धान्तिक आलोचना का दूसरा रूप हमें काव्यरूपों और कवि-शिक्षा के ग्रन्थों में मिलता है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, ये ग्रन्थ एकदम पूर्ववर्ती ग्रन्थों से अलग नहीं हैं; परन्तु इनमें जिस वृत्ति की अपेक्षा है, वह पहली से भिन्न है। इन ग्रन्थों में काव्य के विविध रूपों को देखकर उनके लक्षण निकालना, प्रयुक्त भाषा आदि के विषय

में नियम निरूपित करना, वर्ण्य-विषयों और वर्णन-परम्परा को समझाना तथा काव्यदोषादि का निर्देश करना रहता है। इसमें सिद्धान्त निकालने का प्रयत्न उतना नहीं है, जितना निरूपण करने या लक्षण और रीति बताने का। इन दो प्रकार के प्रयत्नों में हम भेद करना चाहें तो कह सकते हैं कि प्रथम प्रकार का प्रयत्न काव्य-सैद्धान्तिक है और द्वितीय प्रकार का प्रयत्न काव्यशास्त्रीय। काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में काव्य की रीति-नीति-सम्बन्धी बातें और सूचना ही रहती है, सिद्धान्त-निर्णय नहीं। काव्यादर्श, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, काव्य-कल्पलता-वृत्ति (अमर सिंह), अलंकारशेखर (केशव मिश्र) आदि ग्रन्थों में काव्यशास्त्रीय प्रयत्न ही प्रधान है। इस प्रकार भारतीय आलोचना-पद्धति का यह रूप कितना महत्त्वपूर्ण है, यह अधिक कहने की आवश्यकता नहीं।

इसके उपरान्त आलोचना-पद्धति के अन्य भेदों को स्पष्ट करते हुए, यह कहा जा सकता है कि ये भेद अपना अलग-अलग स्वतन्त्र रूप नहीं रखते, वरन् उपर्युक्त आलोचना के रूप से ही इनका सम्बन्ध है, फिर भी चिरकाल से चलती आयी भारतीय परम्परा के भीतर इन रूपों का स्थान है। ये भेद प्रथम प्रकार की आलोचना-पद्धति की व्याख्या के रूप में हैं, अतः इन्हें हम व्याख्यात्मक आलोचना-पद्धति के विभिन्न रूप कह सकते हैं। इस व्याख्यात्मक आलोचना-पद्धति के प्रसंग में हम विभिन्न नाम सुनते हैं जिनमें से कुछ अधिक प्रसिद्ध हैं— सूत्र, कारिका, फक्किका, वृत्ति, टिप्पणी, भाष्य, वार्तिक, वचनिका, टीका, व्याख्यान आदि। ये शब्द सामान्यतया एक-दूसरे के पर्याय रूप में भी प्रयुक्त किये जाते हैं, परन्तु इनके अर्थों और उद्देश्यों में परस्पर भेद है। उनकी व्याख्या इस प्रकार है—

सूत्र

किसी सिद्धान्त या नियम का अति संक्षेप में असन्दिग्ध कथन 'सूत्र' कहा जाता है। कहा भी गया है—

स्वल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विशतोमुखम् ।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥

इस प्रसंग में प्रसिद्ध ब्रह्मसूत्र, वेदान्तसूत्र, न्यायसूत्र, वैशेषिक-मीमांसा-सूत्रादि दर्शन के क्षेत्र में हैं और काव्यालंकारसूत्र (वामन), नाट्यसूत्र (भरत), काव्यकल्पलता-सूत्र (अमरसिंहकृत), काव्य-प्रकाशसूत्र (मम्मट) आदि काव्य-क्षेत्र के। कारिका भी सूत्र के समान ही सिद्धान्त-कथन करती है, व्याख्या नहीं। परन्तु सूत्र जहाँ पर केवल कथनमात्र है, कारिका पद्यमयी सूक्ति होती है और सुस्मरणीय भी, जैसे सांख्यकारिका[1], ध्वनिकारिका आदि। कारिका के समान ही दूसरा शब्द फक्किका है जो सिद्धान्तनिरूपण से सम्बन्ध रखता है। किसी तथ्य के तर्कसंगत प्रतिपादन या स्पष्टीकरण की विशेष स्थिति फक्किका है।

---

1. कारिका– A memorial verse of collection of such verses on grammatical, philosophical or scientific subjects.–*Apte*.

वृत्ति

किसी सूत्र आदि को स्पष्ट करनेवाली संक्षिप्त व्याख्या वृत्ति कहलाती है। सूत्रों को स्पष्ट करने के लिए स्वयं सूत्रकार के द्वारा अथवा अन्य किसी विद्वान् के द्वारा वृत्तियाँ लिखी गयी हैं। कुछ प्रसिद्ध वृत्तियाँ हैं— आनन्दवर्धन की ध्वनिकारिका पर वृत्ति, मम्मट की काव्य-प्रकाश पर वृत्ति, विश्वनाथ की न्यायसूत्रों पर वृत्ति, अमरचन्द्र यति की काव्य-कल्पलता-वृत्ति आदि।

टिप्पणी

किसी कथन या व्याख्या के उपरान्त किसी अस्पष्ट अंश को स्पष्ट करने या उसे शुद्ध अथवा पुष्ट करने के लिए कोई सूचना या वक्तव्य, बाद में जोड़ने का कार्य टिप्पणी कहलाता है। आजकल पृष्ठ के अन्त में टिप्पणी देने की प्रथा है।

भाष्य

सूत्रार्थों की सूत्र में आये शब्दों और पदों की क्रमशः ऐसी व्याख्या जिसमें साथ-साथ अपने द्वारा प्रयुक्त पदों का भी, स्पष्टीकरण होता रहे, भाष्य कहलाता है। कहा है—

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः ।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः ॥

इस प्रकार ऊपर वर्णित व्याख्यात्मक आलोचना के प्रकारों में भाष्य सबसे महत्त्वपूर्ण है। कुछ भाष्य तो अति प्रसिद्ध भी हैं— जैसे पतञ्जलि का महाभाष्य, शंकर का वेदान्तसूत्र पर भाष्य, सायणाचार्य का ऋग्वेद-संहिता पर भाष्य, वात्स्यायन का न्यायसूत्र पर भाष्य आदि।

वार्त्तिक

व्याख्यात्मक आलोचना के विविध प्रकारों में सर्वाधिक पूर्ण रूप वार्त्तिक है। इसके अन्तर्गत किसी भी सूत्र, सिद्धान्त, तथ्य या नियम की इस प्रकार से पूर्ण व्याख्या की जाती है कि जो कहा गया है वह स्पष्ट हो जाय, जो नहीं कहा गया वह भी कह दिया जाय और जो ठीक ढंग से नहीं कहा गया, उसे सुधारकर स्पष्ट कर दिया जाय।[1] भाष्य और वार्त्तिक में भेद यह है कि भाष्य में केवल मूल ग्रन्थ का आशय प्रकट किया जाता है जबकि वार्त्तिक में उससे सम्बन्धित और भी बातें मिलायी जा सकती हैं। वास्तव में वार्त्तिक ही व्याख्यात्मक आलोचना है। यह वृत्ति द्वारा स्पष्ट व्याख्या को और भी पूर्ण बनाता है। वार्त्तिकों में प्रसिद्ध कात्यायन का पाणिनि-सूत्रों पर वार्त्तिक, कुमारिलभट्ट का मीमांसा पर श्लोक और तन्त्रवार्त्तिक आदि हैं।

वचनिका, वार्त्ता, चर्चा

हिन्दी काव्यशास्त्र के अन्तर्गत इस वार्त्तिक के कुछ और भी नाम मिलते हैं— जैसे

1. उक्तानुक्तदुरुक्तार्थव्यक्तिकारितुं वार्त्तिकम्।

वार्त्ता, वचनिका, चर्चा। हिन्दी रीति-शास्त्र के भीतर हम कह सकते हैं कि पद्य में दिये मूल लक्षणों के साथ-साथ अर्थ-स्पष्टीकरण के लिए जो गद्य में व्याख्या लिखी गयी है उसी को किसी ने वचनिका, किसी ने चर्चा और किसी ने वार्त्ता कहा है। उदाहरणार्थ, कुलपति मिश्र ने अपने ग्रन्थ रस-रहस्य के भीतर पद्य में लक्षण देकर उनका स्पष्टीकरण जो अपने गद्य वार्त्तिकी में किया है उसका नाम वचनिका रखा है। वे लिखते हैं—

''वाचक विंजक लच्छकी, सब्द तीन बिधि होय ।
वाच्य लक्ष्य अरु व्यंग्य पुनि, अर्थ तीन बिधि होय ॥

अरु इन तीनौनि के व्यवहार ते न्यारी ही प्रतीति करे सोऊ एक तातपरज का व्रति कहत है याको शब्द नाहीं।'' आचार्य सोमनाथ ने अपने ग्रन्थ 'रसपीयूषनिधि' में भी इसी प्रकार की वचनिका लिखी है। इसी प्रकार की वार्त्ता और चर्चा भी है। यहाँ पर प्रसिद्ध आचार्य चिन्तामणि त्रिपाठी की शृंगार मञ्जरी में आयी चर्चा की चर्चा कर देना आवश्यक है, क्योंकि वह वास्तव में वार्त्तिक का ही रूप है। यह बात निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट हो जायगी जो 1700 ई० के आस-पास व्रजभाषा के पण्डिताऊ गद्य का भी सुन्दर उदाहरण है—

''रस मंजरी, आमोद परिमल शृंगार तिलक रसिकप्रिया रसार्णव प्रतापरुद्री व सुन्दर शृंगार सरसकाव्य दश रूपक विलास रत्नाकर काव्यपरीक्षा काव्यप्रकाश प्रमुख ग्रन्थ विचारि प्राचीन ग्रन्थनि में जो लक्षण जुक्तिजुक्त तिनको संग्रह करि और प्राचीनोदाहरणानुसार नाइका भेद कल्पित करि तिनिके लक्षण, लक्षि, कल्पि, अरु, जिनके उदाहरन नाहीं तिनिके उदाहरन बनाइ जिनिके नाम नाहीं जिनिके नाम राखि अजुक्त नाम स्थल विषे जुक्त नाम राखि विस्तार करन स्थल विषे विस्तार करि संक्षेप करन स्थल विषै संक्षेप करि सर्व स्थल साधारन लक्षन के साधारन उदाहरन करि प्राचीन प्राचीन लक्षननि में जे उपयुक्त उदाहरन हैं ते ते तत्तत् नाइका-भेद में लिषि चरचा ग्रन्थ गद्यरूप लक्षन उदाहरन ग्रन्थ पद्यरूप लक्षन उदाहरन नाइका-भेद शृंगार, हास्य, करुना, रौद्र, वीर, भयानक, अद्‌भुत, शान्त नव रसनि में शृंगार प्रधान है ताते शृंगार रसालम्बन विभाव नायिका नायक तिनिके सहाय सख्यादिक अंगरसानुकूल सात्त्विक भाव पूर्वोक्त ग्रन्थ वर्नित पद्‌मिन्यादि जाति संकर भेद ऐसे प्रकार सरस आरोपि विशेष निरूपियतु है।''

(शृंगार मंजरी, चिन्तामणि)

इसके भीतर वार्त्तिक लिखने का उद्देश्य लक्षित होता है, परन्तु यह उससे कुछ भिन्न इस बात में है कि यह किसी दूसरे विशेष ग्रन्थ में आये लक्षणों की व्याख्या और पूर्णता का प्रयत्न न होकर अपने ही लक्षणों की व्याख्या कर उन्हें पूर्ण बनाने का प्रयत्न है।

हिन्दी के भीतर व्याख्यात्मक आलोचना के ये वार्त्तिक-रूप प्रायः अपनी ही पद्यमयी लक्षण कृतियों की व्याख्या-स्वरूप आये हैं। परन्तु टीका या तिलक आदि किसी दूसरे की लिखी पुस्तक की व्याख्या है और यह भी वार्त्तिक रूप में देखने को मिलती है। हिन्दी के 18वीं शताब्दी के प्रसिद्ध आचार्य सूरति मिश्र द्वारा रचित केशव की

रसिक-प्रिया की जोरावर प्रकाश नामक, जोरावर सिंह के आश्रय में लिखी गयी टीका इसका उदाहरण है।

"जैसे रसिक प्रिया बिन, देखिय दिन दिन दीन। त्योंही भाषा कवि सबै रसिक प्रिया करि हीन ॥ 15॥ टीका— या रसिक प्रिया के पढ़े रति मति अति बढ़ै अरु सब रस कहा नव रस तिनकी रीति जानै और स्वारथ कहा चातुर्यता लहै सब राज पूजा को बल्लभ होई वा भाँति तो स्वारथ लहै अरु श्री राधाकृष्ण को बर्ननु है यामै तिनके ध्यान ते परमार्थ लहै वा रसिक प्रिया की प्रीति तें दोउ बात सिद्ध होयँ" ॥ 15॥

इस प्रकार टीका के अन्तर्गत प्रायः भाष्य, वृत्ति, वार्त्तिक आदि सभी रूप समाविष्ट हो गये हैं। व्याख्यान, जिसे हम आजकल भाषण के रूप में प्रयुक्त करते हैं, वह वास्तव में किसी सिद्धान्त या भाव को किसी आख्यान से स्पष्ट करनेवाली व्याख्या है, परन्तु अब इस शब्द ने अपना वह अर्थ छोड़ दिया है और भाषण के अर्थ में ही रूढ़ हो गया है। इसी प्रकार एक और शब्द **अवतरणिका** का भी प्रयोग मिलता है, जिसके भीतर किसी बड़े कथानक या प्रबन्ध का सार लेकर व्याख्या करते हैं।

ये समस्त रूप भारतीय व्याख्यात्मक आलोचना के भेद हैं। ये भेद जिस प्रकार साहित्य के सिद्धान्त या सूत्र-ग्रन्थों के लिए आते हैं उसी प्रकार काव्य-कृतियों के लिए भी। काव्यकृतियों के प्रसंग में अधिक प्रचलित प्रकार टीका, तिलक, वचनिका या व्याख्या ही हैं जिन्हें भी हम भारतीय व्याख्यात्मक आलोचना के प्रकार मान सकते हैं।

आधुनिक ऐतिहासिक आलोचना का विकास भारतीय आलोचना-पद्धति के भीतर देखने को नहीं मिलता। उसका उद्‌भव और विस्तार आधुनिक युग की देन है और इसका श्रेय पाश्चात्य आलोचना-पद्धति के सम्पर्क को ही दिया जा सकता है। हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि अनेक संग्रह-ग्रन्थ, जिनके साथ कवियों या साहित्यकारों का कुछ परिचय भी रहता था, इस आलोचना का रूप प्रकट करते हैं। संस्कृत में ऐसे उदाहरण श्रीधरदास कृत 'सूक्ति-कर्णामृत' (1205 ई०), भगदत्तजल्हण कृत, 'सूक्तिमुक्तावली' (1258 ई०) आदि और हिन्दी में प्राचीन ग्रन्थों में 'कालिदासहजारा', 'हाफिजुल्ला का हजारा' आदि ग्रन्थ हैं। परन्तु वास्तविक ऐतिहासिक आलोचना का बीसवीं शताब्दी में ही विकास हुआ है। संस्कृत-ग्रन्थों में प्रायः इस आलोचना के रूप अब भी प्रस्तावना, भूमिका, उपोद्‌घात आदि के रूप में तथा हिन्दी में साहित्य के इतिहास और व्यक्तिगत कवियों के अध्ययनों में मिलते हैं।

तुलनात्मक आलोचना का जो विस्तृत आधुनिक रूप है, वह भारतीय आलोचना-पद्धति के भीतर देखने को नहीं मिलता। हाँ, पूर्ववर्ती युगों में कवियों की प्रशंसा में कही हुई कुछ सूक्तियाँ अवश्य मिल सकती हैं। इन सूक्तियों में तो कुछ ऐसी हैं जो सामान्य रूप से कवियों की प्रशंसा करती हैं, जैसे—

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः ।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम् ॥

इसी प्रकार साहित्य-रसिक और आलोचकों की प्रशंसा है—

जयन्तु ते सहृदया: काव्यामृतनिषेविण: ।
येषा आह्लादनान्नान्यत् कवीनां स्वकृते: फलम् ॥

काव्य की प्रशंसा भी इसी प्रकार की गयी है जो साहित्यकार की कृति को विशेष आकर्षण प्रदान करती है, जैसे—

कं पृच्छाम: सुरा: स्वर्गे निवसामो वयं भुवि ।
किं वा काव्यरस: स्वादु: किं वा स्वादीयसी सुधा ॥

(*सूक्तिमुक्तावली*, पृष्ठ 37)

इस प्रकार की काव्य और कवियों की प्रशंसा में लिखी गयी उक्तियाँ बहुत हैं। इसी प्रकार कविविशेष की प्रशंसा में भी कही गयी सूक्तिबद्ध आलोचना देखने को मिलती है जो भारतीय आलोचना-पद्धति का एक रूप स्पष्ट करती है। प्राय: सभी बड़े-बड़े संस्कृत के आचार्यों और कवियों की प्रशंसा में लिखे इस प्रकार के वाक्य मिलते हैं। जैसे—

ध्वनिनातिगभीरेण काव्यतत्त्वनिवेशिना ।
आनन्दवर्धन: कस्य नासीदानन्दवर्धन: ॥ (*राजशेखर*)

❑ ❑ ❑

नीलोत्पलदलश्यामां विज्जकां मामजानता ।
वृथैव दण्डिनाऽप्युक्तं सर्वशुक्ला सरस्वती ॥
कविरमर: कविरचल: कविरभिनन्दश्चकालिदासश्च ।
अन्ये कवय: कपयश्चापलमात्रं पदं दधति ॥ (*श्री शंकर वर्मा*)

तुलनात्मक पद्धति पर एक साथ कई कवियों के मूल्यांकन का प्रयत्न भी किया गया है जो कि विशेष रूप से आलंकारिक पद्धति पर ही है। इस पद्धति के दो-एक उदाहरण बड़े रोचक हैं—

यस्याश्चौरश्चिकुरनिकर: कर्णपूरो मयूरो
हासो भास: कविकुलगुरु: कालिदासो विलास: ।
हर्षो हर्ष: हृदयवसति: पंचबाणस्तु बाण:
केषां नैषा कथय कविताकामिनी कौतुकाय ॥ (*जयदेव*)

इसी प्रकार विशिष्ट गुणों का संकेत करनेवाली भी सूक्तियाँ हैं, जैसे—

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम् ।
दण्डिन: पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणा: ॥

आदि।

इस प्रकार भारतीय आलोचना का आदर्श प्रकट हुआ है। व्यावहारिक आलोचना का क्रियात्मक रूप भी कहीं-कहीं ढूँढ़ने पर मिलता है। एक स्थल पर आलोचक जिस

प्रकार से आलोचना करता है, उसके कार्य का पूरा सजीव चित्रण, चित्रण ही नहीं, उसका अभिनय-सा स्पष्ट करता हुआ कथन है—

उक्तं च वक्ष्यमाणं च भर्त्सनं तिर्यगीक्षणम् ।
क्वचिद्य थार्थकथनं व्याख्या तंत्रस्य षड्विधा:॥ 10॥

(*सूक्तिमुक्तावली*, पृष्ठ 51)

इसमें आलोचना-पद्धति (व्याख्यातन्त्र) की छः विधियाँ स्पष्ट की गई हैं जो ये हैं— किसी कृति का नाम ले देना, उसके सम्बन्ध में कुछ अधिक बात कहना, निन्दा करना, तिरछे देखकर प्रशंसा का भाव प्रकट करना, कुछ वास्तविक बात कहना और उसकी व्याख्या करना। इन कथनों से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ये सूक्तियाँ केवल ऊलजलूल कथनमात्र नहीं, वरन् वास्तविक आलोचना की दृष्टि अपने मूल में छिपाये हुए हैं। इस सूक्ति-पद्धति का अवलम्बन हिन्दी साहित्य में भी बराबर मिलता है जिसमें बड़े-बड़े कवियों, तुलसी, सूर, कबीर, केशव, बिहारी आदि की विशेषताएँ और तुलनात्मक मूल्यों पर प्रकाश डाला गया है।

भारतीय आलोचना-पद्धति के उपर्युक्त संक्षिप्त परिचय से हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि आधुनिक आलोचना-विधियों में से बहुतों के तो उसके भीतर बीजांकुर भी नहीं मिलता है, कुछ के अंकुर आधुनिक युग में आकर पल्लवित हो रहे हैं और कुछ के रूप अर्द्धविकसित एवं कुछ अत्यन्त पूर्ण विकसित और उत्कर्ष की सीमा पर पहुँचती हुई हैं। परन्तु यह मानना पड़ेगा कि भारतीय आलोचना-पद्धति के भीतर सबसे अधिक सम्मान सैद्धान्तिक आलोचना को ही मिला है। व्याध्यात्मक और व्यक्तिप्रधान आलोचना तो स्फुट रूप में इधर-उधर ही मिलती है, किन्तु सैद्धान्तिक आलोचना का धारा-प्रवाह रूप बड़ा ही गम्भीर और विस्तृत है।

इस आलोचना-पद्धति की हमारे आज के युग में बड़ी उपयोगिता है। आज हमारे सामने जो आलोचना के प्रमुख विकसित रूप हैं, वे शास्त्रीय, ऐतिहासिक, तुलनात्मक, व्याख्यात्मक, भावात्मक, प्रभावात्मक, मनोवैज्ञानिक आदि हैं। शास्त्रीय आलोचना के भीतर केवल काव्यशास्त्र का ही आधार नहीं, वरन् राजनीति और समाजशास्त्रों का भी आधार लिया जा रहा है और उसके आधार पर समाजशास्त्रीय आलोचना का भी रूप विकसित हो रहा है, परन्तु वह वर्ण्यविषय की ओर लक्ष्य कर सकती है, शुद्ध साहित्यिक उत्कृष्टता को लाने में उतनी सहायक नहीं हो सकती। हम कह सकते हैं कि आज सैद्धान्तिक आलोचना का अभाव है। आधुनिक आलोचना पद्धति के इस रूप का विकास करने के लिए आलोचनात्मक लेख पढ़ना उतना आवश्यक नहीं जितना कि कलाकृतियाँ। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि एक कलाकृति पढ़कर ही कुछ विचार या धारणा बना लेना भी सैद्धान्तिक आलोचना के लिए ठीक नहीं। कलाकृतियों के अनवरत सेवन और अध्ययन के पश्चात् सामान्य विशेषताओं के आधार पर जो निष्कर्ष निकलते हैं वे ही सैद्धान्तिक आलोचना के आधार बनते हैं।

हिन्दी का अपना समीक्षा-शास्त्र

हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में आज हमारे सामने कई प्रश्न हैं और समीक्षा के विकास के पथ पर आगे बढ़ने के पूर्व, हमें इनके उत्तर प्राप्त करने हैं; अन्यथा, न तो काव्य-शास्त्र या समीक्षा-शास्त्र का ही कोई निश्चित रूप बन पायेगा, जिसमें हमारी कोई विशिष्ट देन हो सके और न उसके विकास के मार्गों में ही कोई सामंजस्य सम्भव हो सकेगा। प्रश्न ये हैं— (1) हमें आधुनिक समीक्षा के क्षेत्र में प्राचीन भारतीय काव्य-समीक्षा के सिद्धान्तों का क्या और कैसे उपयोग करना चाहिए? (2) हम पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तों से क्या और कैसे ग्रहण कर सकते हैं? (3) क्या हिन्दी का कोई अपना निजी समीक्षा-शास्त्र हो सकता है? यदि हाँ, तो उसका विकास किस प्रकार किया जा सकता है? ये तीन प्रमुख प्रश्न हैं, जिन पर हमें विचार करना है। इन्हीं से सम्बन्धित और भी छोटे-मोटे प्रश्न हो सकते हैं, जिनमें से अधिकांश का समाधान इन्हीं के समाधान के साथ हो सकता है।

पहले प्रश्न का पूरा विस्तार इस प्रकार होगा। क्या आज की समीक्षा के लिए प्राचीन भारतीय समीक्षा-पद्धतियाँ आवश्यक हैं? यदि आवश्यक हैं तो किस अंश तक हम उनका उपयोग कर सकते हैं? उनका उपयोग समीक्षा के आधुनिक रूपों को कहाँ तक प्रगति और विकास देने में समर्थ होगा और उसके द्वारा कहाँ तक नवीन रचनाओं की प्रेरणा मिल सकेगी, साथ ही उनका यथार्थ मूल्यांकन हो पायेगा? मैं समझता हूँ कि ये प्रश्न अधिकांश आलोचकों और लेखकों के मन में उठते होंगे और इनके भिन्न-भिन्न उत्तर भी हमारे सामने आते हैं। कुछ लोग इन प्राचीन पद्धतियों को आज के लिए बिलकुल निकम्मी समझते हैं और उनको, किसी रूप में भी, आधुनिक आलोचना-पद्धति के लिए उपयोगी नहीं मानते। कुछ लोग, दूसरी ओर इन्हीं को कसौटी मानकर आधुनिक रचनाओं को कसते हैं और उसके आधार पर खरी न उतरनेवाली कृतियों को देखकर निराश होते हैं। मेरी समझ में ये दोनों ही दृष्टियाँ एकांगी हैं। जिस समय ये सिद्धान्त बने थे, तब से हमारे दृष्टिकोण और संस्कारों में बहुत कुछ विकास और परिवर्तन हुआ है, अत: सिद्धान्तों को यथावत् आधार मानकर हम अपना काम नहीं चला सकते। प्रमुख प्राचीन काव्य-सिद्धान्त, अलंकार, रस, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, अनुमिति और औचित्य हैं। इन सबकी कसौटी पर कसकर भी, हम ऐसा अनुभव करते हैं जैसे हमने किसी रचना का पूर्ण महत्त्व और प्रभाव स्पष्ट नहीं कर पाया। इन सिद्धान्तों पर कसने से आचार्य-वाक्य प्रमाण ठहरते हैं, पर कवि की अपनी मौलिकता को हम प्रकट नहीं कर पाते। संस्कृत-साहित्य में प्राप्त काव्य में समस्त लक्षणों और तत्त्वों को सामने रखकर भी काव्य की व्यापक गम्भीर महत्ता हृदयंगम नहीं कर पाते जो कि उस साहित्य की ही कवि और काव्य-प्रशस्तियों में प्रकट है। अत: निश्चित है कि हमें आज की दृष्टि से नये सिद्धान्त स्थिर करने चाहिए, जो काव्य और साहित्य के समय का महत्त्व प्रकट कर सकें।

परन्तु एक बात का ध्यान हमें रखना है। संस्कृत साहित्य के अनेक काव्य-सिद्धान्त सार्वकालिक और सार्वदेशिक महत्त्व रखते हैं, अत: हम उनका पूर्णतया त्याग नहीं कर सकते। उनका उपयोग हमें नवीन, विकसित रूप में करना चाहिए। इस दृष्टि से अलंकार,

रस और ध्वनि सिद्धान्त आज भी हमारे लिए उपादेय हैं। आज के कवियों ने अपने प्रयोगों में अलंकारों का विकास किया है। अलंकारों के नवीन प्रयोगों और उनके भेद-प्रभेदों के विकास को आज की कविता में अध्ययन करके यह निश्चित किया जा सकता है कि अलंकार कविता में अनिवार्य हैं या नहीं। पूर्ववर्ती अलंकारों का आज किस प्रकार विकास हुआ है, यह अध्ययन की वस्तु है। अलंकार के आधार पर जो काव्य-सौन्दर्य स्पष्ट होगा वह, अन्य आधारों पर नहीं। रस की दृष्टि से भी आज की रचनाओं में नवीन भावों की अभिव्यक्ति और पूर्वनिर्दिष्ट भावों की विकृति हुई है; देशप्रेम, मानव-प्रेम धीरे-धीरे स्थायीभाव-से बनते जा रहे हैं, नये भाव भी अभिव्यक्त हुए हैं, जिन्हें पुराने लक्षण-बद्ध भावों के क्षेत्र में बन्द नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त रस भावानुभूति की प्रक्रिया पर भी आधुनिक मनोविज्ञान प्रबुद्ध दृष्टि से विचार करने की आवश्यकता है। इसी प्रकार शब्द-शक्तियों और ध्वनिसिद्धान्त के क्षेत्र में भी सुन्दर प्रयोगों का अध्ययन महत्त्वपूर्ण होगा। ये सिद्धान्त इतने व्यापक हैं कि इन पर किसी भाषा के काव्य को परखा जा सकता है।

बहुत-कुछ इसी प्रकार की बातें हम दूसरे प्रश्न के उत्तर में भी कह सकते हैं। जिस प्रकार प्राचीन भारतीय आलोचना-पद्धति के कुछ रूपों को आज भी हम उपादेय ठहराते हैं, उसी प्रकार पाश्चात्य आलोचना के भी कुछ रूप हमारे लिए नवीन और आवश्यक हैं। ऐतिहासिक आलोचना और व्याख्यात्मक आलोचना इनमें प्रमुख हैं। ऐतिहासिक आलोचना के आधार पर हम किसी कृति का युग की पृष्ठभूमि में मूल्यांकन कर सकते हैं। जो कृति आज महत्त्वपूर्ण है, सौ वर्ष बाद आवश्यक नहीं कि उसका महत्त्व उतना ही बना रहे। अतः कवि और उसकी कृति के साथ न्याय करने के लिए ऐतिहासिक आलोचना-पद्धति आवश्यक है। व्याख्यात्मक आलोचना और भी अधिक उपादेय है। हम व्याख्यात्मक आलोचना के आधार पर, किसी भी कवि के निजी विशिष्ट काव्यादर्श को स्पष्ट कर सकते हैं। ऐसे ही किसी युग-विशेष की प्रवृत्तियों के विश्लेषण से युग की विशिष्ट काव्य-चेतना को समझकर उस युग के काव्यादर्शों को ढूँढ़ा जा सकता है।

प्रश्न यह उठता है कि वैयक्तिक काव्यादर्शों और युग-विशेष के काव्यादर्शों की क्या आवश्यकता है? उसकी आवश्यकता अनेक दृष्टियों से है। जिस प्रकार हमारी सभ्यता और संस्कृति के प्रतीक और उपकरण युगानुकूल बदलते रहते हैं, कुछ मूलभूत बातें और तत्त्व आते-जाते हैं और कुछ बातें बीच में कुछ समय तक उपेक्षित रहकर फिर नवोदित होती हैं, उसी प्रकार काव्य के क्षेत्र में भी नवीन तत्त्वों का समावेश और प्राचीन तत्त्वों का तिरोभाव और नवोदय होता रहता है और इस प्रकार काव्यादर्श का विकास भी देखा जा सकता है, साथ ही इसके आधार पर नये सिद्धान्तों को भी खोजा जा सकता है। यदि इस प्रकार कवि के वैयक्तिक तथा युग के विशिष्ट प्रयोगों को प्रत्यक्ष न किया जाय, तो काव्य और उनके शास्त्र दोनों का ही विकास रुक जाता है। अतः व्याख्यात्मक समीक्षा-पद्धति हमारे बड़े काम की है।

काव्य और साहित्य व्यक्ति की सृष्टि और समाज की वस्तु है। अतएव व्यक्ति और समाज का ज्ञान प्रस्तुत करनेवाले और अनेक शास्त्र काव्य में लागू होते हैं। वरन्, हम कह

सकते हैं कि समाज और व्यक्ति के यथार्थ जीवन को सँजोये रखनेवाली वस्तु काव्य ही है। ऐसी दशा में अनेक शास्त्रों के आधार पर भी काव्य की समीक्षा और उसका अध्ययन किया जा सकता है, जैसे मनोविज्ञान और समाज-शास्त्र की दृष्टि से तथा समाजवादी कसौटी पर काव्य का मूल्यांकन किया जा सकता है। परन्तु यह आलोचना की कोई नयी प्रणाली नहीं, वरन् शास्त्रीय समीक्षा-पद्धति के ही ये विविध रूप हैं। काव्य को जैसे हम काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों की कसौटी पर कस सकते हैं, वैसे ही समाज-शास्त्रीय या मन:शास्त्रीय कसौटी पर भी। यह शास्त्रीय या निर्णयात्मक आलोचना का विस्तार है।

वैयक्तिक काव्यादर्शों का विकास पाश्चात्य समीक्षा के क्षेत्र में खूब देखने को मिलता है, परन्तु उनका उपयोग व्यापक काव्य-सिद्धान्तों के निर्माण में उतना नहीं किया गया। वैयक्तिक काव्यादर्शों के अध्ययन का प्रयत्न हिन्दी-समीक्षा-क्षेत्र के भीतर बहुत कम हुआ है। जब तक समस्त हिन्दी-काव्य के क्षेत्र से वैयक्तिक और युग के काव्यादर्शों का वास्तविक अध्ययन न किया जाय, तब तक हिन्दी-काव्य के आधार पर किसी नवीन सिद्धान्त का विकास हो सकता है या नहीं, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। हिन्दी-समीक्षा के अन्तर्गत जो प्रयत्न रीति-काल या मध्य-युग में हुआ है, उसमें हिन्दीकाव्य के वास्तविक स्वरूप और निजी प्रतिभा का विश्लेषण बिलकुल नहीं हुआ। इतना ही नहीं, संस्कृत-काव्यशास्त्र का आधार ग्रहण करके काव्य-रचना की प्रवृत्ति ने बड़े-बड़े प्रतिभाशाली कवियों की प्रतिभा को भी स्वतंत्र मार्ग में पूर्ण प्रकाश करने का अवसर नहीं दिया, फिर भी हम चन्दबरदायी, कबीर, विद्यापति, तुलसी, सूर, सेनापति, बिहारी, देव, घनानन्द, ठाकुर, पद्माकर, हरिश्चन्द्र आदि की रचनाओं में इनके निजी काव्यादर्शों को ढूँढ़ सकते हैं और उनके आधार पर ही हम उनकी विशेषताओं को स्पष्ट कर सकते हैं।

हिन्दी-कवियों की धारणा द्वारा काव्य का जो स्वरूप स्पष्ट होता है उसे संस्कृत आचार्यों की परिभाषाओं द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** या **'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'** अथवा **'शब्दार्थौ सहितं काव्यम्'** आदि में काव्य का महत्त्वपूर्ण व्यापक स्वरूप प्रकट नहीं हो पाता। तभी कबीर कहते हैं **'कबि कबीने कबिता मूये'** और गोस्वामी तुलसीदास जी कविता-विवेक का दावा नहीं करते और यही कहते हैं कि **'सत्य कहौं लिखि कागद कोरे'**। इसी परम्परा में आकर हमारे आधुनिक कवि भी **'जो अपूर्ण है, कला उसी की पूर्ति है'**, कहते हैं। ये सभी धारणाएँ हमें काव्य के स्वरूप की फिर से परीक्षा करने के लिए प्रेरित करती हैं। जयशंकर प्रसाद तो **'सत्य को अपने मूलचारुत्व'** में ग्रहण करना ही काव्य मानते हैं। काव्य के इस स्वरूप को लेकर आगे बढ़ने की आवश्यकता है। यदि हम यह समझ लें कि भौतिक तथ्यों का अनुसन्धान और उद्घाटन जिस प्रकार वैज्ञानिक करता है, कवि भी उसी प्रकार हमारे मानसिक और आध्यात्मिक तथ्यों का उद्घाटन करता है, तो हम काव्य का यथार्थ मूल्य समझ सकते हैं। एक के लिए आँसू हाइड्रोजन और ऑक्सीजन का सम्मिश्रण है, तो दूसरे के लिए **'मस्तक में स्मृतिरूप में छाई घनीभूत पीड़ा का, दुर्दिन में आँखों के द्वारा प्रकट रूप है'**। दोनों ही सत्य के रूप हैं।

मेरा अपना विश्वास तो कुछ ऐसा ही है कि साहित्य की समीक्षा का शास्त्र, काव्य और साहित्य के इस प्रकार के स्वरूप को स्पष्ट करे और काव्य और साहित्य के माध्यम से सत्य के उस पक्ष का विकास करने में सहायता प्रदान करे, जो वैज्ञानिक के क्षेत्र के बाहर की वस्तु है, जो सुरुचि और सौन्दर्य को भी महत्त्व देता है और उसका एक अंग मानता है और जिसके आधार पर कवि के उद्‌गार हैं **'सौन्दर्य सत्य है और सत्य सौन्दर्य है'** (Beauty is truth, truth is beauty.) जिसमें **'सत्यं शिवं सुन्दरं'** में भेद नहीं; वे एक ही वस्तु के विभिन्न पक्ष हैं।

मेरा आग्रह यह कदापि नहीं कि हिन्दी-समीक्षा-शास्त्र, अन्य समीक्षा-शास्त्रों से कोई नितान्त भिन्न हो सकता है और हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी के अलग-अलग समीक्षा-शास्त्र होने चाहिए। समीक्षा के व्यापक सिद्धान्त तो सभी साहित्यों पर लागू होंगे, परन्तु हिन्दी-कवियों और उनकी रचनाओं के द्वारा अभिव्यक्त स्वरूप को लेकर साहित्य-समीक्षा की एक नयी और अब तक प्राप्त ज्ञान के आधार पर अधिक सम्पन्न कसौटी तैयार की जा सकती है। ध्वनि-सिद्धान्त के समान, काव्य का कोई और व्यापक तथा आज की चेतना और धारणा को अपनाकर विकसित होनेवाला काव्य-सिद्धान्त ढूँढ़ा जा सकता है। इसका यह भी अर्थ नहीं कि इसके ढूँढ़े जाने पर हमारे प्राचीन या आधुनिक पाश्चात्य सिद्धान्त व्यर्थ हो जायेंगे या उनका महत्त्व कम हो जायेगा। मेरा उद्देश्य यही है कि हमें काव्य के सिद्धान्तों का विकास करना चाहिए, जैसा कि बराबर होता आया है। आज उसका फिर अवसर हम अनुभव करते हैं, क्योंकि कवि और पाठक काव्य के समुचित मूल्यांकन के लिए अब तक प्राप्त और प्रचलित किसी एक परिपाटी से सन्तुष्ट नहीं हैं।

■■

6

साहित्यालोचन के मानदण्ड

(1) भारतीय

अध्याय 6

साहित्यालोचन के मानदण्ड : (1) भारतीय

यों तो आलोचना के अनेक स्वरूप आजकल प्रचलित हैं और जिनमें अपने अनुभव और अध्ययन के आधार पर किसी भी कृति की आलोचना की जाती है, परन्तु चाहे वह अनुभव हो और चाहे अध्ययन, चेतन या अचेतन रूप में कोई-न-कोई मानदंड हमारे मानस में अवश्य रहता है। किसी अवस्था तक हम आलोच्य कृति की विशेषताओं को स्पष्ट नहीं देख पाते। केवल इतना ही कह देते हैं कि यह कृति अच्छी है या नहीं। परन्तु, साहित्य-सेवन की परम्परा के साथ यह विवेक जाग्रत होता है और हम स्पष्टतया विशेषताओं का निर्देशन कर सकते हैं। काव्य और विशेष रूप से कविता की रचनाओं के लिए तो ऐसा भी होता है कि अनेक मानदण्डों का विवेक रखते हुए भी तथा उनके आधार पर विशेषताओं के संकेत करने में प्रबुद्ध होते हुए भी हम अनुभव करते हैं कि इसके अतिरिक्त इस कविता में कोई ऐसी विशेषता है जो इन मानदण्डों की पकड़ में नहीं आती। ऐसी स्थिति में कवि का अपना कोई निजी आदर्श होता है अथवा वह कोई नवीन प्रयोग करना चाहता है जिसके आधार पर ही उसकी रचना के सौन्दर्य का विश्लेषण किया जा सकता है। ऐसी स्थिति के आते रहने पर काव्यादर्श या काव्यसिद्धान्त के विकास की आवश्यकता पड़ती है और विचारशील समीक्षक उन विशेषताओं को समेटनेवाले नूतन काव्यसिद्धान्तों को खोज निकालते हैं। इस प्रकार सृजनात्मक प्रतिभा आलोचनात्मक प्रतिभा की प्रगति के लिए बाध्य भी करती है और आलोचनात्मक प्रतिभा सृजनात्मक प्रतिभा को प्रेरित भी करती है।

उपर्युक्त प्रक्रिया के परिणाम-स्वरूप हम देखते हैं कि काव्य के सौन्दर्य और विशेषताओं को प्रकट करने के लिए अनेक मानदण्ड तैयार किये गये। ये मानदण्ड काव्यसिद्धान्त ही हैं। भारतीय साहित्य में अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, रस आदि सिद्धान्तों के द्वारा काव्यालोचन का मानदण्ड प्रस्तुत किया गया है और पाश्चात्य साहित्य में अभिव्यंजनावाद का। इन मानदण्डों को, भारतीय अथवा पाश्चात्य मनीषियों ने काव्य का सौन्दर्य स्पष्ट करने के लिए ढूँढ़ निकाला है। यों, काव्य के किन्हीं रूपों को समाजशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक या दार्शनिक सिद्धान्तों की कसौटी पर कसा जा सकता है। परन्तु इनका क्षेत्र काव्यशास्त्रीय परिधि के बाहर है। काव्यशास्त्र के भीतर तो हम उन्हीं मानदण्डों पर विचार करेंगे जो काव्य को अन्य शास्त्रों की कसौटी पर नहीं, वरन् काव्य की ही कसौटी पर कसते हैं।

इन मानदण्डों का एक-एक करके हम यह स्थूल एवं संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं।

(क) अलंकार

अलंकार का काव्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। चाहे वह गद्य हो, चाहे पद्यकाव्य— दोनों ही में अलंकारों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग होता है। अलंकारों का प्रयोग नितान्त स्वाभाविक है। किसी तथ्य, अनुभूति, घटना या चरित्र की प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए अलंकारों का उपयोग होता है। अलंकारों के प्रयोग की प्रधान परिस्थितियाँ निम्नांकित हैं—

(क) जहाँ पर हम किसी तथ्य, वस्तु या चरित्र के स्वरूप को प्रकट करना चाहते हैं, वहाँ अप्रस्तुत की योजना करने में अलंकार का प्रयोग होता है।

(ख) जहाँ किसी प्रभाव को स्पष्ट करना चाहते हैं, वहाँ पर हम बल, निषेध, अत्युक्ति, कार्य-कारण-सम्बन्ध, हेतु-कल्पना आदि के द्वारा अपना काम चलाते हैं और इस प्रकार अलंकार आ जाते हैं।

(ग) कहीं क्रम, असंगति तथा संज्ञा, विशेषण, क्रिया आदि के चमत्कारिक प्रयोग में अलंकार रहते हैं।

(घ) कहीं विरोध या वैपरीत्य की विशेषता द्वारा कथन को प्रवीण बनाना चाहते हैं और अलंकार का प्रयोग करते हैं।

(ङ) कहीं हम निन्दा या प्रशंसा में दूसरा भाव छिपाकर व्यंग्य से कुछ और कहना चाहते हैं और अलंकार का समावेश हो जाता है।

(च) कहीं शब्द के ध्वनि या अर्थ-सम्बन्धी चमत्कारिक प्रयोगों द्वारा अलंकार की सृष्टि होती है। आदि, आदि।

इस प्रकार अलंकार सुष्ठु अभिव्यञ्जना-प्रणाली है।

अलंकार वाणी के विभूषण हैं। सामान्य बात अलंकारों से विभूषित होकर एक विशेष मनोहरता से सम्पन्न हो जाती है। अतः अलंकार साधारण कथन न होकर चमत्कारपूर्ण उक्ति है। अलंकार कथन की ललित भंगिमा है। जिस उक्ति में कोई बाँकपन मिलता है, वही उक्ति अलंकार है। उक्तिवैचित्र्य के अनेक रूप हो सकते हैं, वे ही विभिन्न अलंकार हैं। सामान्यतया यह वैचित्र्य शब्द के विशेष प्रयोग या अर्थ की भंगिमा से सम्पादित होता है। अतः इसी आधार पर अलंकार के शब्द और अर्थ— ये दो भेद किये जाते हैं। परन्तु ये सर्वथा अलग-अलग ही आवें, ऐसी बात नहीं। अनेक शब्दालङ्कारों में अर्थालङ्कारों की आभा विद्यमान रहती है और अनेक अर्थालङ्कारों के साथ शब्द-चमत्कार का योग रहता है। आजकल तो कविता के भीतर विविध अलंकारों की इन्द्रधनुषी आभा रहती है जो रंगों की छाया के समान आभासित होती है। अतः यह कहा जा सकता है कि पूर्ववर्ती युगों की एकरंगी विशेषता न होकर आज का काव्य बहुरंगी है। इतना अवश्य है कि ये रंग अधिक चटकीले और स्पष्ट नहीं, वरन् हलके और धुँधले होते हैं। ध्यान देने पर जिस प्रकार रंगों की विशेषताएँ चित्रों में छाँटी जा सकती हैं, उसी प्रकार

अलंकारों की विशेषताएँ कविता में भी। यहाँ पर हम प्रधान अलङ्कारों के लक्षण और उदाहरण दे रहे हैं जो काव्य में अति प्रयुक्त हैं।

1. शब्दालंकार

जिस अलंकार में शब्दों के प्रयोग के कारण कोई चमत्कार उपस्थित हो जाता है और उन शब्दों के स्थान पर समानार्थी दूसरे शब्दों के रख देने से वह चमत्कार समाप्त हो जाता है, वहाँ पर शब्दालंकार माना जाता है। शब्दालंकार के प्रमुख रूप हैं— 1. अनुप्रास, 2. यमक, 3. वक्रोक्ति, 4. श्लेष, 5. चित्र।

अनुप्रास

जिस अलंकार में वर्णों या व्यञ्जनों की किसी प्रकार समानता होती है वह अनुप्रास है। इसके पाँच भेद हैं— 1. छेक, 2. वृत्ति, 3. श्रुति, 4. अन्त्य, 5. लाट।

छेकानुप्रास— जहाँ पर अनेक व्यञ्जनों या वर्णों की एक बार समता हो, वहाँ छेकानुप्रास होता है, यथा—

जन रंजन भञ्जन दनुज, मनुज रूप सुर भूप ।
विश्व बदर इव धृत उदर, जोवत सोवत सूप ॥

इसमें जन, नुज, दर, वत की एक बार समता है। इसी प्रकार का एक उदाहरण है—

बाँधे द्वार काकरी, चतुर चित्त काकरी,
सो उम्मिर बृथा करी न राम की कथा करी।
पाप को पिनाक री न जाने नाक नाकरी,
सु हारिल की नाकरी निरन्तर ही ना करी ।
ऐसी सूमता करी न कोऊ समता करी,
सु बेनी कविता करी प्रकास तासु का करी।
देव अरचा करी न ज्ञान चरचा करी,
न दीन पै दया करी न बाप की गया करी ॥

यहाँ पर काकरी, थाकरी, नाकरी, ताकरी, चाकरी, याकरी की एक बार की आवृत्तियों के कारण **छेकानुप्रास** है।

वृत्त्यनुप्रास— जहाँ पर एक ही वर्ण या अनेक वर्णों की क्रमानुसार अनेक बार आवृत्ति या समता हो वहाँ वृत्त्यनुप्रास होता है। इस अनुप्रास का नाम वृत्ति के आधार पर पड़ा है। वृत्तियाँ तीन हैं— उपनागरिका या मधुरा, कोमला और परुषा। उपनागरिका में मधुर वर्णों जैसे— सानुनासिक, न, म आदि तथा ट, ठ, ड, ढ को छोड़कर, अन्य वर्णों की आवृत्ति होती है। कोमला में य, र, ल, व, वर्णों की आवृत्ति तथा अल्प समास होते हैं तथा परुषा में ओजपूर्ण वर्णों जैसे, ट, ठ, ड, ढ तथा संयुक्ताक्षरों की आवृत्ति होती है।

यहाँ पर तीनों ही वृत्तियों के उदाहरण दिये जाते हैं—

उपनागरिका वृत्ति

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि॥

❑ ❑ ❑

तुलसी मनरंजन रंजित अंजन नैन सुखंजन जातक से।

❑ ❑ ❑

रंजन, भय भंजन, गरब गंजन, अंजन नैन ।
मानस भंजन करन जन, होत निरंजन ऐन ॥

कोमला वृत्ति

नवल कँवल हू ते कोंवल चरन हैं।

❑ ❑ ❑

सजनी ससि में समसील उभै नवनील सरोरुह से बिकसे।

❑ ❑ ❑

हिलते द्रुमदल कल किसलय देती गलबाँही डाली ।
फूलों का चुम्बन छिड़ती मधुपों की तान निराली ।।

अन्तिम उदाहरण में 'डाली' और 'छिड़ती' में ड और ड़ का प्रयोग इस वृत्ति के विरुद्ध है, पर स और ल का बाहुल्य कोमला का संकेत करता है। एक और उदाहरण—

गौने आई नवल तिय, बैसी तियन समाज ।
आस पास प्रफुलित कमल, बीच कली छबि साज ॥

परुषा वृत्ति

सब जाति फटी दुख की दुपटी, कपटी न रहैं जहँ एक घटी ।
निघटी रुचि मींचु घटी हू घटी, सब जीव जतीन की छूटी तटी ।
अघ ओघ की बेड़ी कटी विकटी, निकटी प्रकटी गुरुज्ञान-गटी ।
चहुँ ओरनि नाचति मुक्ति नटी, गुन धूरजटी बन पंचवटी ॥

वृत्त्यनुप्रास का एक सुन्दर उदाहरण है—

बिघन बिदारण बिरद बर, बारन बदन बिकास ।
बर दे बहु बाढ़े बिसद, बाणी बुद्धि बिलास ॥

यह कोमला का उदाहरण है—

श्रुत्यनुप्रास— जहाँ पर एक ही स्थान जैसे कण्ठ, तालु आदि से उच्चरित होने-वाले वर्णों की समानता हो, वह श्रुत्यनुप्रास होता है, यथा—

तुलसिदास सीदत निसिदिन देखत तुम्हारि निठुराई।

❑ ❑ ❑

निसिवासर सात रसातल लौं सरसात घने घन बन्धन नाख्यौ।

अन्त्यानुप्रास— छन्द के अन्तिम चरण में स्वर-व्यंजन की समता अन्त्यानुप्रास कहलाती है। इसके भेद सर्वान्त्य, समान्त्य-विषयान्त्य, समान्त्य-विषमान्त्य तथा सम-विषमान्त्य हैं, जिनमें क्रमशः सभी चरणों में अन्त के वर्णों में समानता, सम चरणों अर्थात् दूसरे, चौथे चरणों में अन्त के वर्णों में समानता, विषम अर्थात् प्रथम, तृतीय आदि चरणों में अन्त के वर्णों में समानता तथा समविषमों में अन्त्य की समानता पायी जाती है। उदाहरण—

कुन्द इन्दु सम देह, उमा-रमन करुना अयन ।
जाहि दीन पर नेह, करहु कृपा मर्दन मयन ॥

यह समान्त्य-विषमान्त्य का उदाहरण है। उसी प्रकार अन्य उदाहरण हैं। सवैया प्रायः सर्वान्त्य होता है, दोहा प्रायः समान्त्य, सोरठा विषमान्त्य, चौपाई सम-विषमान्त्य होती है।

लाटानुप्रास— लाट देश (दक्षिणी गुजरात) के लोगों को अधिक प्रिय होने से यह लाटानुप्रास कहलाता है। जहाँ पर शब्द और अर्थ एक ही रहते हैं, परन्तु अन्य पद के साथ अन्वय करते ही तात्पर्य या अभिप्राय भिन्न रूप से प्रकट होता है, वह लाटानुप्रास होता है । उदाहरण—

राम हृदय जाके नहीं, बिपति सुमंगल ताहि ।
राम हृदय जाके, नहीं बिपति सुमंगल ताहि ॥

यमक

जहाँ पर शब्द की अनेक बार भिन्न अर्थों में आवृत्ति होती है, वहाँ पर यमक अलंकार माना जाता है; जैसे—

तो पर वारौं उरबसी, सुनु राधिके सुजान ।
तू मोहन के उर बसी, ह्वै उरबसी समान ॥ (*बिहारी*)

यहाँ पर उरबसी की अनेक अर्थों में आवृत्ति है।

कहा भयो जौ तूँ भटू, गुनगनमय सब देह ।
जोबनवारी तौ सफल, जो बनवारी नेह ॥ (*मतिराम*)

यहाँ 'जोबनवारी' की भिन्न अर्थों में आवृत्ति है।

वक्रोक्ति

जहाँ पर श्लेषार्थी शब्द से अथवा काकु (कण्ठ की विशेष ध्वनि) के कारण

प्रत्यक्ष अर्थ के स्थान पर दूसरा अर्थ कल्पित किया जाय, वहाँ पर वक्रोक्ति होती है। यह दो प्रकार की है— एक श्लेष वक्रोक्ति, दूसरी काकु वक्रोक्ति।

श्लेष वक्रोक्ति— जहाँ पर एक से अधिक अर्थवाले शब्द से वक्ता जो कहना चाहता है उससे भिन्न अर्थ श्रोता ग्रहण करता है, वहाँ पर श्लेष वक्रोक्ति होती है, जैसे—

हैं री लाल तेरे? सखी ऐसी निधि पाई कहाँ?
हैं री खगयान? कह्यो हौं तो नहीं पाले हौं?
हैं री गिरिधारी? ह्वै हैं रामदल माँहि कहूँ?
हैं री घनश्याम? कहूँ सीत सरसाले हैं ।
हैं री सखी कृष्ण चन्द्र? चन्द्र कहूँ कृष्ण होत?
तब हँसि राधे कही मोर पच्छवारे हैं?
श्याम को दुराय चन्द्रावलि बहराय बोली,
मोरे कैसे आइहैं जो तेरे पच्छवारे हैं ॥

काकु वक्रोक्ति— जहाँ पर कंठध्वनि की विशेषता के कारण दूसरा अर्थ ध्वनित होता है वहाँ काकु वक्रोक्ति होती है।

मैं सुकुमारि नाथ जोगू। तुमहिं उचित तप मोकहँ भोगू।

❑ ❑ ❑

भरतभूप सिय राम लखन बन सुनि **सानन्द** सहौंगो ।
पुर परिजन अवलोकि मातु सब **सुख सन्तोष** लहौंगो ॥

यहाँ पर मोटे शब्दों के काकु युक्त उच्चारण से निषेधात्मक या विपरीत अर्थ निकलता है।

श्लेष

श्लेष शब्द और अर्थ दोनों ही प्रकार के अलंकारों में माना जाता है। **जहाँ पर ऐसे शब्दों का प्रयोग हो जिनसे एक से अधिक अर्थ निकलते हों, वहाँ पर श्लेष अलंकार होता है।** जहाँ पर दूसरे अर्थ भी वक्ता के द्वारा अभिप्रेत होते हैं, वहाँ पर यह अर्थालंकार ही है; परन्तु जहाँ पर वक्ता के द्वारा एक ही अर्थ अभिप्रेत होने पर दूसरे अर्थ श्रोता के मन पर प्रकट होते हैं वहाँ श्लेष शब्दालंकार होता है। यह कुछ विद्वान् मानते हैं, पर कुछ का विचार है कि यह शब्दालंकार न होकर अर्थालंकार है, क्योंकि शब्दालंकार में चमत्कार सुनने मात्र में प्रकट होता है और श्लेष का चमत्कार तो अर्थ के समझने और मनन करने में है। परन्तु, इस प्रकार तो यमक में भी थोड़ा-बहुत अर्थ का मनन रहता है। अतएव उचित यही है कि जहाँ पर शब्द-विशेष के प्रयोग में ही चमत्कार हो और उसका पर्यायवाची दूसरा शब्द रखने से वह चमत्कार समाप्त हो जाय, वहीं शब्दालंकार मानना चाहिए। इस दृष्टि से श्लेष शब्दालंकार है। उदाहरण—

कुजन पाल गुनबर्जित अकुल अनाथ ।
कहौं कृपानिधि राउर कस गुनगाथ ॥

यहाँ कुजन पाल के अर्थ हैं कु=पृथ्वी, जन=सेवक, अर्थात् पृथ्वी और भक्तों का पालन करनेवाला तथा दुर्जनों का पालन करनेवाला। इसी प्रकार गुनबर्जित=गुणहीन, गुणों से परे; अकुल=कुलहीन, कुल की सीमा से परे; अनाथ=जिसका कोई स्वामी नहीं, अर्थात् सबका स्वामी तथा जिसका कोई धनी धोरी न हो। इसी प्रकार—

चिरजीवौ जोरी जुरे, क्यों न सनेह गँभीर ।
को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के बीर ॥

चित्र

चित्रालंकार में वर्णों या शब्दों का इस प्रकार प्रयोग किया जाता है जिससे विशेष चित्र बन जाते हैं। इसे रचना की एक अलग कोटि मानना चाहिए। इसमें शब्द या वर्ण का ध्वन्यात्मक वैचित्र्य नहीं, वरन् वर्ण की व्यवस्था का वैचित्र्य है। इसको अलंकार न मानकर अलग काव्यकोटि भी माना जाता है। इसके अनेक रूप हैं। एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है—

धुव जो	गुरुता	तिनको	गुरु भूषन	दानि बड़ो	गिरिजा	पिव है
हुव जो	हरता	रिनको	तरु भूषन	दानि बड़ो	सिरजा	छिव है
भुव जो	भरता	दिनको	जरु भूषन	दानि बड़ो	सरजा	सिव है
तुव जो	करता	इनको	अरु भूषन	दानि बड़ो	बरजा	निव है

यह कामधेनु बंध है। इसे कहीं से पढ़िये पूरा सवैया बनता जायेगा।

इनके अतिरिक्त शब्दालंकार के पुनरुक्तिप्रकाश, पुनरुक्तिवदाभास और वीप्सा अलंकार भी भेद माने जाते हैं। **पुनरुक्तिप्रकाश** में जहाँ भाव को अधिक प्रभावपूर्ण और रुचिकर बनाने के लिए शब्द का अनेक बार प्रयोग किया जाता है, वहाँ **पुनरुक्तिवदाभास** में समानार्थी शब्दों के प्रयोग से पुनरुक्ति-सी जान पड़ती है, पर वास्तव में पुनरुक्ति होती नहीं है तथा **वीप्सा** में आदर, घृणा आदि का प्रकाशन शब्दों की पुनरुक्ति द्वारा होता है। इनके उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

पुनरुक्तिप्रकाश

मधुमास में दासजू बीस बिसे मनमोहन आइहैं आइहैं आइहैं ।
उजरे इन भौनन को सजनी सुख पुंजन छाइहैं छाइहैं छाइहैं ॥
अब तेरी सों ऐरी न संक एकंक बिथा सब जाइहैं जाइहैं जाइहैं ।
घनश्याम प्रभा लखिकै सखियाँ अँखियाँ सुख पाइहैं पाइहैं पाइहैं ॥

पुनरुक्तिवदाभास

अली भौंर गूँजन लगे, होन लगे दल पात ।
जहँ तहँ फूले रूख तरु, प्रिय प्रीतम किमि जात ॥

वीप्सा

शिव शिव शिव! कहते हो यह क्या, ऐसा फिर मत कहना ।
राम राम! यह बाट भूलकर मित्र कभी मत गहना ॥

2. अर्थालंकार

अर्थालंकार में किसी शब्द-विशेष के कारण चमत्कार नहीं रहता, वरन् उनके स्थान पर यदि समानार्थी दूसरा शब्द रख दिया जाय, तो भी अलंकार बना रहेगा, क्योंकि यह चमत्कार अर्थगत होता है। वास्तव में ये अलंकार भाव या अर्थ-प्रकाशन की भिन्न-भिन्न शैलियाँ हैं। ये अलंकार अनेक हैं, इनकी कोई निश्चित संख्या नहीं मानी जा सकती। विभिन्न विद्वानों ने अलग-अलग संख्याओं को स्वीकार किया है। अलंकार किसी प्रकार के चमत्कार पर आधारित रहते हैं। यह चमत्कार जिन आधारों पर आधारित रहता है, वे हैं— साम्य, विरोध, क्रम या शृङ्खला, न्याय, कारण-कार्य-सम्बन्ध, निषेध, गूढ़ार्थप्रतीति आदि। इन्हीं आधारों पर अलंकारों के विभिन्न वर्ग बनाये जा सकते हैं और इन वर्गों में विभिन्न अलंकार आते हैं।

साम्यमूलक अलंकार— साम्य रूप-गुण-साम्य से सम्बन्धित होते हैं, जैसे— उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, भ्रम, सन्देह, प्रतीप, अनन्वय, स्मरण, उपयोपमा आदि।

वैषम्य या विरोधमूलक— विषमता या विरोध का चमत्कारपूर्ण प्रकाशन इन अलंकारों में रहता है, जैसे— असंगति, विषम, विरोधाभास आदि।

क्रम या शृङ्खलामूलक— कारणमाला, एकावली, सार आदि।

न्यायमूलक— यथासंख्य, काव्यलिंग, तद्गुण, लोकोक्ति आदि।

कारण-कार्य-सम्बन्धमूलक— विभावना, हेतूत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि।

निषेधमूलक— अपह्नुति, विनोक्ति, व्यतिरेक आदि।

गूढ़ार्थ-प्रतीतिमूलक— पर्यायोक्ति, समासोक्ति, मुद्रा, व्याजनिन्दा, व्याजस्तुति, सूक्ष्म आदि।

यहाँ पर प्रमुख अलंकारों का परिचय दिया जाता है।

उपमा

अलंकारों में उपमा का प्रधान महत्त्व है[1]। यह बड़ा प्रचलित अलंकार भी है। उपमा अलंकार वहाँ होता है जहाँ पर किसी वस्तु की रूप-गुण-सम्बन्धी विशेषता स्पष्ट करने के लिए, दूसरी परिचित वस्तु से, जिसमें वे विशेषताएँ अधिक प्रत्यक्ष हैं, उसकी समता कही जाती है। उपमा के चार अंग हैं— उपमेय, उपमान, वाचक और धर्म।

---

1. भूषण सब भूषननि में, उपमहिं उत्तम चाहि।
याते उपमहिं आदि दै, बरनत सकल निबाहि॥

उपमेय— जिस वस्तु या पदार्थ की समता की जाती है या उपमा दी जाती है, वह उपमेय कहलाता है। इसी को विषय, वर्ण्य या प्रस्तुत भी कहते हैं।

उपमान— जिस वस्तु या पदार्थ की समता की जाती है या उपमा दी जाती है उसे उपमान कहते हैं। यह विषयी, अवर्ण्य या अप्रस्तुत भी कहलाता है।

वाचक— उपमेय और उपमान की समता प्रकट करनेवाले शब्द वाचक कहलाते हैं।

धर्म— उपमेय और उपमान में जो रूप-गुण-कर्म का साम्य दिखाया जाता है वह धर्म है।

उदाहरणार्थ— 'पीपर पात सरिस मन डोला' में मन उपमेय, पीपर पात उपमान, सरिस वाचक और डोलना धर्म है।

जिस उपमा के चारों अंग प्रत्यक्ष हैं उसे **पूर्णोपमा** कहते हैं। इन अंगों के लुप्त होने से विभिन्न प्रकार की **लुप्तोपमा** होती है, जैसे— वाचकलुप्तोपमा, धर्मलुप्तोपमा, वाचकधर्मलुप्तोपमा आदि। यहाँ लुप्तोपमाओं के उदाहरण दिये जाते हैं—

उपमेयलुप्ता— साँवरे गोरे घटा छटा से बिहरैं, मिथिलेस की बाग थली में।

उपमानलुप्ता— सुबरन बरन कमल कोमलता, सुचि सुगंध इक होय।
तब तुलनीय होय तव मुख हो, जग अस वस्तु न कोय॥

वाचकलुप्ता— नील सरोरुह स्याम, तरुन अरुन बारिज नयन।

धर्मलुप्ता— कुन्द इन्दु सम देह।

इनके अतिरिक्त भी उपमा के अनेक रूप माने गये हैं जिनमें कुछ प्रमुख रूपों पर यहाँ विचार किया जाता है।

मालोपमा— यह वहाँ होती है जहाँ पर एक ही उपमेय के बहुत से उपमान माला के समान आते जाते हैं; जैसे—

तरुवर के छायानुवाद सी,
उपमा-सी भावुकता-सी,
अविदित भावाकुल भाषा-सी,
कटी-छँटी नव कविता-सी;

छाया के ये विभिन्न उपमान हैं जो एक साथ गुंफित हैं। इसी प्रकार—

कुंद सी कविंद सी कुमुद सी कपूरिका सी,
कञ्जन की कलिका कलपतरु केली सी ।
चपला सी चक्र सी चमर सी औ चन्दन सी,
चन्द्रमा सी चाँदनी सी चाँदी सी चमेलीसी ।

रसनोपमा— जिस उपमा में उपमान या उपमेय उत्तरोत्तर उपमेय या उपमान होते

जाते हैं, वह रसनोपमा है, जैसे—

बच सी माधुरि मूरती, मूरति सी कलकीति ।
कीरति लौं सब जगत में, छाइ रही तव नीति ॥

अनन्वयोपमा— जहाँ उपयुक्त उपमान न मिल सकने के कारण स्वयं उपमेय को ही उपमान मान लिया जाता है, जैसे—

लही न कतहुँ हारि हिय मानी ।
इन सम ये उपमा उर आनी ॥

उपमेयोपमा— जहाँ उपमेय और उपमान एक दूसरे के उपमान और उपमेय हो जाते हैं, जैसे—

भूपर भाऊ भुवप्पति को कर सों मन औ मन सों कर ऊँचो।

❑ ❑ ❑

सब मन रंजन हैं खंजन से नैन आली,
बैनन से खंजन हू लागत चपल हैं ।
मीनन से महा मनमोहन हैं मोहिबे को,
मीन इन ही से नीके सोहत अमल हैं ।
मृगन के लोचन से लोचन हैं रोचन ये
मृगदृग इनहीं से सोहे पलापल हैं ।
'सूरति' निहारि देखी नीके ऐरी प्यारी जू के
कमल से नैन अरु नैन से कमल हैं ।

अनन्वय— उपमान के अभाव में जब उपमेय को ही उसका उपमान कहा जाता है तब अनन्वय अलंकार होता है; जैसे—

हियौ हरति औ करति अति, 'चिन्तामनि' चित चैन ।
वा सुन्दरि के मैं लखे, वाही के से नैन ॥

अनन्वय, वास्तव में अनन्वयोपमा ही है, उससे भिन्न नहीं।

स्मरण

किसी सदृश वस्तु को देखकर जहाँ पूर्वानुभूत वस्तु का स्मरण हो जाता है, वहाँ पर स्मरणालंकार हो जाता है, जैसे—

बीच बास करि जमुन नहाये। निरखि नीर लोचन जल छाये॥
ज्यों ज्यों इत देखियत मूरुख विमुख लोग,
त्यों त्यों व्रजबासी सुखरासी मन भावै हैं।
खारे जल छीलर दुखारे अन्धकूप देखि,
कालिन्दी के कूल काज मन ललचावै हैं।

जैसी अब बीतत सो कहतै ना बनै बैन,
'नागर' ना चैन परै प्राण अकुलावै हैं।
थूहर पलास देखि देखि कै बबूर बुरे,
हाय हरे हरे वे तमाल सुधि आवै हैं ।

❑ ❑ ❑

सघन कुंज छाया सुखद, सीतल मंद समीर ।
मन ह्वै जात अजौं वहै, वा जमुना के तीर ॥

भ्रम या भ्रान्तिमान

जहाँ पर प्रस्तुत को देखने से सादृश्य के कारण अप्रस्तुत का भ्रम हो जाय, वहाँ पर भ्रम अलंकार होता है; जैसे—

पायँ महावर देन को नाइन बैठी आय ।
फिर फिर जानि महावरी, एँड़ी मीड़त जाय ॥

❑ ❑ ❑

परत भ्रमर सुक तुंड पर, भ्रम धरि कुसुम पलास ।
धलि ताको पकरन चहत, जंबू फल की आस ॥

❑ ❑ ❑

कपि करि हृदय बिचार, दीन मुद्रिका डारि तब ।
जनु असोक अंगार, दीन्ह हरषि उठि कर गहेउ ॥

सन्देह

किसी वस्तु को देखकर जहाँ साम्य के कारण दूसरी वस्तु का संशय हो जाता है, पर निश्चय नहीं होता, वहाँ सन्देह अलंकार होता है। कि, क्या, धौं, किधौं, या, अथवा इसके वाचक शब्द हैं, जैसे—

बालधी बिसाल बिकराल ज्वाल जाल मानौ
लंक लीलिबे को काल रसना पसारी है ।
कैधौं ब्योम बीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु,
बीररस बीर तरवारि सी उधारी है ।
तुलसी सुरेस चाप कैधौं दामिनि कलाप
कैधौं चली मेरु ते कृसानु-सरि भारी है ।
देखे जातुधान जातुधानी अकुलानी कहैं,
कानन उजार्‌यो अब नगर प्रजारी है ॥

❑ ❑ ❑

बानी के बसन कैधौं बात के बिलास डोले,
कैधौं मुखचंद्र चारु चंद्रिका प्रकास है ।
कवि 'मतिराम' कैधौं काम को सुजस,
कै पराग पुंज प्रफुलित सुमन सुबास है ।
नाक नथुनी के गजमोतिन की आभा कैधौं,
देहवंत प्रगटित हिय को हुलास है ।
सीरे करिबे को पिय नैन घनसार कैधौं,
बाल के बदन बिलसत मृदु हास है ॥

विशेष— सन्देह अलंकार में वास्तविक वस्तु का अनिश्चय रहता है; परन्तु भ्रम में किसी दूसरी वस्तु में अन्य वस्तु होने का निश्चय हो जाता है— यह दोनों में भेद है। स्मरण में सदृश वस्तु को देखकर दूसरी वस्तु की याद आ जाती है; वहाँ न तो भ्रम ही रहता है और न सन्देह ही।

प्रतीप

प्रतीप का तात्पर्य होता है उलटा या विपरीत। यहाँ उपमा का उलटा रूप दिखाया जाता है। जहाँ पर प्रसिद्ध उपमान को उपमेय और उपमेय को उपमान सिद्ध करके चमत्कारपूर्वक उपमेय या उपमान की उत्कृष्टता दिखायी जाती है, वहाँ पर प्रतीप होता है। प्रतीप के पाँच भेद माने जाते हैं।

प्रथम प्रतीप— जहाँ पर प्रसिद्ध उपमान को उपमेय के रूप में वर्णित किया जाय, वहाँ पर प्रथम प्रतीप होता है—

पायन से गुललाला जपादल पुंज बँधूक प्रभा बिथरै है ।
हाथ से पल्लव गौल रसाल के लाल प्रभाव प्रकाश करै है ।
लोचन की महिमा सी त्रिबेनी लखे 'लछिराम' त्रिताप हरै है ।
मैथिली आनन से अरबिंद कलाधर आरसी जानि परै है ॥

द्वितीय प्रतीप— जहाँ पर प्रसिद्ध उपमान को उपमेय बनाकर, वास्तविक उपमेय का अनादर किया जाता है, वहाँ द्वितीय प्रतीप होता है; जैसे—

का घूँघट मुख मूँदहु नवला नारि ।
चंद सरग पर सोहत यहि अनुहारि ॥

तृतीय प्रतीप— जहाँ पर प्रसिद्ध उपमान का उपमेय के आगे निरादर होता है, वहाँ पर तृतीय प्रतीप होता है, जैसे—

गरब करति कत चाँदनी, हीरक छीर समान ।
फैली इती समाज गत, कीरति सिवा खुमान ॥

❑ ❑ ❑

श्री रघुवीर सिया छबि सामुहे स्यामघटा बिजुली परै फीकी।

चतुर्थ प्रतीप— जहाँ पर उपमेय की बराबरी में उपमान न तुल सके, वहाँ पर चतुर्थ प्रतीप होता है; जैसे—

नल वारौं नैननि मैं, बलि वारौं बैननि मैं
भीम वारौं भुजनि मैं, करन करन मैं ।

❑ ❑ ❑

बहुरि बिचार कीन्ह मनमाहीं। सीय बदन सम हिमकर नाहीं।

अमिय झरत चहुँओर ते, नयन ताप हरि लेत ।
राधा ज को बदन अस, चंद उदय केहि हेत ॥

पञ्चम प्रतीप— उपमेय की समता में जहाँ उपमान व्यर्थ हो जाता है; उसका महत्त्व और उपयोगिता असिद्ध हो जाती है, वहाँ पर पञ्चम प्रतीप होता है; जैसे—

छाँह करैं छिति मंडल में सब ऊपर यों 'मतिराम' भये हैं ।
पानिप को सरसावत हैं सिगरे जग के मिटि ताप गये हैं ।
भूमि पुरंदर भाऊ के हाथ पयोदन ही के सुकाज ठये हैं ।
पंथिन के पथ रोकिबे को घने बारिद बृंद वृथा उनये हैं ॥

नोट— प्रतीप में तुलना पर जोर रहता है, जिस गुण में तुलना होती है उसी में उपमान हीन या असिद्ध हो जाता है। व्यतिरेक में विशेषता पर जोर है। कुछ गुणों में साम्य होने पर भी किसी अन्य विशेषता में वह उपमान या दूसरे उपमेय से बढ़कर सिद्ध किया जाता है। यही दोनों में अन्तर है।

रूपक

अब प्रस्तुत या उपमेय पर अप्रस्तुत या उपमान का आरोप होता है तब रूपक अलंकार होता है। यह आरोप दो प्रकार का होता है, एक अभेदता के द्वारा और दूसरा तद्रूपता के द्वारा। इस आधार पर रूपक के दो भेद हैं—

1-अभेद रूपक, 2-तद्रूप रूपक। इनमें से प्रत्येक के तीन भेद माने गये हैं— अधिक, हीन और सम।

अभेद रूपक— अभेद रूपक में उपमेय और उपमान एक दिखाये जाते हैं, उनमें कोई भी भेद नहीं रहता।

तद्रूप रूपक— इसमें उपमान, उपमेय का रूप तो धारण करता है, पर एक नहीं हो पाता। उसे और या दूसरा कहकर व्यक्त किया जाता है।

अधिक अभेद रूपक— जिस अभेद रूपक में उपमेय, उपमान से अधिक दिखाया जाता है फिर भी अभेदता रहती है, वह अधिक अभेद रूपक है, जैसे—

जंग में अंग कठोर महा मदनीर झरै झरना सरसे हैं ।
झूलनि अंग घने 'मतिराम' महीरुह फूल प्रभा बिकसे हैं ।

सुन्दर सिंदुर मंडित कुंभनि गैरिक शृंग उतंग लसे हैं ।
भाऊ दिवान उदार अपार सजीव पहार करी बकसे हैं ॥

❑ ❑ ❑

नव बिधु बिमल तात जस तोरा। रघुबर किंकर कुमुद चकोरा ॥
उदित सदा अथइहि कबहूँ ना। घटिहि न जग नभ दिन-दिन दूना ॥

हीन अभेद रूपक— जहाँ उपमेय में उपमान से कुछ कमी होने पर भी अभेदता रहती है, वहाँ हीन अभेद रूपक होता है, जैसे—

दुइ भुज के हरि, रघुबर सुंदर भेस।

❑ ❑ ❑

महादानि याचकन को, भाऊ देत तुरंग ।
पच्छन बिगिर बिहंग हैं, सुंडन बिगिर मतंग ॥

सम अभेद रूपक— जहाँ पर उपमेय और उपमान में पूर्ण साम्य होते हुए एकरूपता या अभेदता दिखलायी जाय, वहाँ पर सम अभेद रूपक होता है, जैसे—

उदित उदय गिरि मंच पर, रघुबर बालपतंग ।
बिकसे संत सरोज सब, हरषे लोचन भृंग ॥

अधिक तद्रूप रूपक— यहाँ उपमेय और उपमान की तद्रूपता दिखाते समय उपमेय में कोई बात अधिक हो, वहाँ पर अधिक तद्रूप रूपक होता है, जैसे—

लगति कलानिधि चाँदनी, निसि ही मैं अभिराम ।
दीपति वा मुखचन्द की, दिपति आठहूं जाम ॥

हीन तद्रूप रूपक— जहाँ उपमेय में उपमान से कुछ कम गुण होने पर भी दोनों में तद्रूपता दिखलाई जाती है, वहाँ हीन तद्रूप होता है, जैसे—

एक जीभ के लछिमन दूसर सेस।

❑ ❑ ❑

नहिं रतनाकर ते भयो, चलि देखौ निरसंक ।
याते दूजो कहत हौं, वाको बदन मयंक ॥

सम तद्रूप रूपक— जहाँ उपमेय और उपमान की पूर्ण समानता होने पर तद्रूपता अर्थात् एक का दूसरा रूप दिखाया जाता है, वहाँ सम तद्रूप रूपक होता है, जैसे—

दृग कुमुदन को दुखहरन, सीत करन मन देस ।
यह बनिता भुवलोक की, चन्द्रकला सुभ बेस ॥

इनके साथ ही रूपक के तीन भेद और माने गये हैं— (1) सांग, (2) निरंग, (3) परंपरित। ये भेद, अभेद और तद्रूप दोनों ही में हो सकते हैं, पर अधिकतर अभेद रूपक में ही ये अधिक देखे जाते हैं।

सांग (सावयव) रूपक— जहाँ पर उपमान का उपमेय में अंगों सहित आरोप होता है, वहाँ पर सांग रूपक होता है, जैसे—

नारि कुमुदिनी अवध सर, रघुबर बिरह दिनेस ।
अस्त भये बिकसित भईं, निरखि राम राकेस ॥

❑ ❑ ❑

मैं बनी मधुमास आली।
रजत सपनों में उदित अपलक विरल तारावली।
जाग सुक पिक ने अचानक मदिर पंचम तान ली।
बह चली निश्वास की मृदु वात मलय निकुंज पाली।

निरंग (नरवयव) रूपक— जहाँ सम्पूर्ण अंगों का साम्य नहीं, वरन् केवल एक अंग का ही आरोप किया जाता है, जैसे—

हरि मुख पंकज, भ्रुव धनुष, खंजन लोचन मित्त ।
बिंब अधर, कुण्डल मकर, बसे रहत मो चित्त ॥

❑ ❑ ❑

अवसि चलिय बन राम पहँ, भरत मंत्र भल कीन्ह ।
सोक-सिंधु बूड़त सबहिं, तुम अवलंबन दीन्ह ॥

परंपरित रूपक— जहाँ पर प्रधान रूपक एक अन्य रूपक पर आश्रित रहता है, और वह बिना दूसरे रूपक के स्पष्ट नहीं होता, वहाँ पर परम्परित रूपक माना जाता है, जैसे—

नागर नगर अपार, महा मोह-तम मित्र से ।
तृष्णा-लता कुठार, लोभ-समुद्र अगस्त्य से ॥

❑ ❑ ❑

सुनिय तासु गुन ग्राम जासु नाम अध-खग बधिक।

उत्प्रेक्षा

उत्प्रेक्षा— उत् + प्र + ईक्षा— अर्थात् प्रकृष्ट रूप से देखना। जहाँ पर उपमेय या प्रस्तुत की उत्कृष्ट उपमान या अप्रस्तुत के रूप में सम्भावना या कल्पना की जाय, वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है। यह सम्भावना वस्तु रूप में, हेतु रूप में और फल रूप में की जा सकती है। अतः उत्प्रेक्षा के तीन प्रधान भेद हैं— वस्तूत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा।

वस्तूत्प्रेक्षा— जहाँ पर किसी वस्तु या विषय के स्वरूप-स्पष्टीकरण के लिए अप्रस्तुत या उपमान की सम्भावना प्रस्तुत की जाय, वहाँ वस्तूत्प्रेक्षा होती है, जैसे—

सोहत ओढ़े पीतपट, स्याम सलोने गात ।
मनों नीलमनि सैल पर, आतपपर्‌यो प्रभात ॥

❑ ❑ ❑

बाजि बली रघुबंसिन के मनों सूरज के रथ चूमन चाहैं।

हेतूत्प्रेक्षा— जहाँ पर अहेतु की हेतु रूप में सम्भावना या कल्पना की जाती है, वहाँ पर हेतूत्प्रेक्षा होती है, जैसे—

हँसत दसन अस चमके, पाहन उठे छरक्कि ।
दारिउँ सरि जो न करि सका, फाटेउ हिया दरक्कि ॥

❑ ❑ ❑

भुज भुजंग सरोज नयननि, बदन बिधु जित्यौ लरनि ।
रहे बिबरनि, सलिल, नभ, उपमा अपर दुरि डरनि ॥

फलोत्प्रेक्षा— जहाँ पर अफल में फल की कल्पना की जाती है अर्थात् जो वास्तविक फल न हो उसे फल के रूप में कल्पित किया जाता है, वहाँ पर फलोत्प्रेक्षा होती है, जैसे—

तो पद समता को कमल, जल सेवत इक पाँय।

❑ ❑ ❑

नाना सरोवर खिले नव पंकजों को,
ले अंक में विहँसते मन मोहते थे ।
मानों प्रसार अपने सहसा करों को,
वे माँगते शरद से सुविभूतियाँ थे ॥

प्रतीयमाना या गम्योत्प्रेक्षा— जिस उत्प्रेक्षा में वाचक शब्द लुप्त रहता है, उसे प्रतीयमाना या गम्योत्प्रेक्षा कहते हैं, जैसे—

वह थी एक विशाल मोतियों की लड़ी।
स्वर्ग कण्ठ से छूट धरा पर गिर पड़ी॥
सह न सकी भवताप अचानक गल गयी।
हिम होकर भी द्रवित रही कल जलमयी॥

यहाँ पर गंगा की उक्त रूप में कल्पना की गयी है, कल्पनावाची शब्द 'मानो' लुप्त है, अत: गम्योत्प्रेक्षा है, जैसे—

इन्हहिं देखि बिधि मन अनुरागा। पटतर जोग बनावै लागा ॥
कीन्ह बहुत श्रम ऐक न आये। तेहि इरषा बन आनि दुराये ॥

यहाँ पर हेतु की कल्पना की गयी है, पर वाचक शब्द लुप्त है अत: प्रतीयमाना हेतूत्प्रेक्षा है।

अपह्नुति

अपह्नुति प्रधानतया प्रतिषेध पर निर्भर करता है। साहित्यदर्पणकार ने इसका लक्षण दिया है—[1] "प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिः।" जहाँ पर प्रकृत, प्रस्तुत या उपमेय का प्रतिषेध करके अन्य अर्थात् अप्रस्तुत या उपमान की स्थापना की जाय, वहाँ अपह्नुति अलंकार होता है। इस अलंकार के छः भेद माने गये हैं—

शुद्धापह्नुति— जहाँ पर प्रकृत, उपमेय या सत्य पदार्थ को छिपाकर अन्य अप्रस्तुत का स्थापन किया जाय, वह शुद्धापह्नुति अलंकार है, जैसे—

ऊधो यह सूधी सो सँदेसो कहि दीजो भलो,
हरि सों हमारे ह्याँ न फूले बन कुंज हैं।
किंसुक गुलाब कचनार औ अनारन की,
डारन पै डोलत अँगारन के पुञ्ज हैं ॥

❑ ❑ ❑

यह नहि जावक है सखी, पिय अनुराग प्रमान ।
हठि लाग्यो तव पगन मैं, मेटत मान गुमान ॥

हेत्वपह्नुति— जहाँ पर प्रस्तुत का प्रतिषेध और अप्रस्तुत का आरोप हेतु देते हुए किया जाय, वहाँ हेत्वपह्नुति अलंकार होता है, जैसे—

रात माँझ रबि होत नहिं, ससि नहिं तीव्र सुलाग ।
उठी लखन अवलोकिये, बारिधि सों बड़वाग ॥
ये नहिं फूल गुलाब के, दाहत हियो अपार ।
बिनु घनश्याम अराम में, लागी दुसह दवार ॥
पहले आँखों में थे, मानस में कूद मग्न प्रिय अब थे ।
छींटे वही उड़े थे, बड़े-बड़े अश्रु ये कब थे ?

पर्यस्तापह्नुति— जहाँ पर उपमेय या वास्तविक धर्मी में धर्म का प्रतिषेध करके अन्य में उसका आरोप किया जाता है, वहाँ पर पर्यस्तापह्नुति अलंकार होता है, जैसे—

है न सुधा वह, है सुधा संगति साधु समाज।

❑ ❑ ❑

आपने करम करि हौंही निबाहौंगो, जौब
हौंही करतार करतार तुम काहे के ।

भ्रांत्यपह्नुति— किसी कारणवश भ्रम हो जाने पर जब सत्य बात कहकर भ्रम का निवारण किया जाता है, तब भ्रांत्यपह्नुति होती है, जैसे—

आली आली लखि डरपि, जनि टेरहु नँदलाल ।
फूले सघन पलास ये, नहिं दावानल ज्वाल ॥

डहकु न है उजियरिया, निसि नहिं घाम ।
जगत जरत अस लाग, मोहि बिनु राम ॥

छेकापह्नुति— जहाँ पर वर्णन करते समय श्रोता गुप्त बात समझ जाता है, और उसका चतुराई से निषेध करके मिथ्या समाधान किया जाता है, वहाँ पर छेकापह्नुति अलंकार होता है, जैसे—

अर्ध निसा वह आयो भौन। सुन्दरता बरनै कहि कौन ।
निरखत ही मन भयो अनंद। क्यों सखि साजन? नहिं सखि चंद ॥

स्यामल तनु पीतो बसन, मिलो सघन बन भोर ।
देखो नंदकिसोर अलि? ना सखि! अलि चितचोर ॥

कैतवापह्नुति— जहाँ पर प्रस्तुत का प्रत्यक्ष निषेध न करके चतुराई से किसी व्याज से (मिस, छल आदि शब्दों द्वारा) प्रतिषेध किया जाता है, वहाँ पर कैतवापह्नुति होती है, जैसे—

लालिमा श्री तरवानि के तेज में सारदा लों सुखमा की निसेनी ।
नूपुर नीलमनीन जड़े जमुना जगै जौहर मैं सुख दैनी ।
यौं लछिराम छ्टा नख नौल तरंगिनी गंग प्रभा फलपैनी ।
मैथिली के चरणाम्बुज व्याज लसै मिथिला मग मंजु त्रिबेनी ॥

उल्लेख

विषयगत तथा उसे ग्रहण करनेवालों के भेद से एक वस्तु या व्यक्ति का अनेक प्रकार से वर्णन उल्लेख कहलाता है। यह दो प्रकार का होता है—

1. एक का अनेक विशेषताओं के आधार पर अनेक प्रकार से वर्णन करना।

2. एक वस्तु का अनेक व्यक्तियों के द्वारा अनेक प्रकार से वर्णन करना।

प्रथम उल्लेख— जहाँ पर एक ही व्यक्ति के द्वारा किसी विषय का अनेक रूपों में वर्णन होता है, जैसे—

हम सागर के धवल हास हैं
जल के धूम, गगन की धूल,
अनिल फेन, ऊषा के पल्लव,
वारि-वसन, वसुधा के मूल।
व्योम बेलि, ताराओं की गति
चलते अचल, गगन के गान,
हम अपलक तारों की तन्द्रा
ज्योत्स्ना के हिम, शशि के यान ।

द्वितीय उल्लेख— जहाँ पर एक विषय का अनेक व्यक्ति अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं वहाँ द्वितीय उल्लेख होता है, जैसे—

जानति सौति अनीति है, जानति सखी सुनीति ।
गुरुजन जानत लाज है, प्रियतम जानत प्रीति ॥

❑ ❑ ❑

जिनके रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी ॥
देखहिं भूप महा रनधीरा। मनहुँ बीर रस धरे सरीरा ॥
डरे कुटिल नृप प्रभुहिं निहारी। मनहु भयानक मूरति भारी ॥

अतिशयोक्ति

जहाँ पर लोक-सीमा का अतिक्रमण करके किसी विषय का वर्णन होता है, वहाँ पर **अतिशयोक्ति** अलंकार माना जाता है। इसके सात भेद आगे दिये जाते हैं—

1. रूपकातिशयोक्ति— जहाँ पर केवल उपमान या अप्रस्तुत का कथन किया जाता है और उसी से उपमेय का बोध होता है, वहाँ पर **रूपकातिशयोक्ति** अलंकार होता है, जैसे—

हिलते द्रुमदल कल किसलय
देती गलबाहीं डाली
फूलों का चुंबन छिड़ती
मधुपों की तान निराली ।

❑ ❑ ❑

पन्नग पंकज मुख गहे, खंजन तहाँ बईठ ।
छत्र सिंहासन, राजधन, ताकहँ होइ जो दीठ ॥

2. सापह्नवातिशयोक्ति— इस अलंकार को कुछ ही आचार्यों ने माना है। जिस प्रकार प्रथम में रूपक अतिशय रूप में है, उसी प्रकार यहाँ अपह्नुति अतिशय रूप में वर्णित होता है, जैसे—

अली कमल तेरे तनहि, सर में कहत अयान।

सर में कमल का निषेध करके मुख और नेत्र रूप में तन में केवल उपमान द्वारा कथित है अत: रूपकातिशयोक्ति और अपह्नुति का संयोग है।

3. भेदकातिशयोक्ति— जहाँ उपमेय या प्रस्तुत का अन्यत्व वर्णन किया जाता है अर्थात् अभिन्नता में भी भिन्नता दिखलायी जाती है, वहाँ पर **भेदकातिशयोक्ति** अलंकार होता है, जैसे—

औरै कछु चितवनि चलनि, औरै मृदु मुसकानि ।
औरै कछु सुख देत हैं, सकैं न बैन बखानि ॥
अनियारे दीरघ नयन, किती न तरुनि समान ।
वह चितवनि औरै कछू, जेहि बस होत सुजान ॥

4. संबंधातिशयोक्ति— जहाँ पर संबंध या योग्य में असंबंध या अयोग्यता तथा असंबंध या अयोग्य में संबंध या योग्यता दिखायी जाय, वहाँ पर संबंधातिशयोक्ति अलंकार होता है, जैसे—

(क) योग्य में अयोग्यता—

श्री रघुनाथ के हाथन सामुहें कल्पलता सनमान करै कौ।

❑ ❑ ❑

अति सुन्दर लखि मुखं तिय तेरो। आदर हम न करत ससि केरो।।

❑ ❑ ❑

जेहि वर बाजि राम असवारा। तेहि सारदा न बरनै पारा॥

(ख) अयोग्य में योग्यता—

भूलि गयो भोज, बलि बिक्रम बिसरि गये,
जाके आगे और तन दौरत न दीदे हैं।
राजा राइ राने, उमराइ उनमाने, उन
माने निज गुन के गरब गिरबीदे हैं॥
सुजस बजाज जाके सौदागर सुकवि,
चलेई आवैं दसहूँ दिसान ते उनींदे हैं।
भोगीलाल भूप लाख पाखर लेवैया, जिन,
लाखन खरचि रुचि आखर खरीदे हैं॥

यहाँ पर भोज आदि जो भुला देने के अयोग्य हैं, भोगीलाल के सामने भुला देने योग्य ठहराये गये हैं।

बासन बाँस कठौती हुती औ फटी दुपटी जेहि बीतत सीवत।
गोकुल छानी सरी गरी भीति रहे जित चूहन के गन जीवत।
धाम सुदामा लह्यो हरि सों जेहि देखिये देखि दिगंपति भीवत।
बैठि जितै गन चातक के घन ते बन चोंच चलाय कै पीवत॥

5. चपलातिशयोक्ति— जहाँ पर हेतु की चर्चामात्र या ज्ञानमात्र से कार्य सम्पन्न हो जाता है, वहाँ पर चपलातिशयोक्ति होती है, जैसे—

तब सिव तीसर नैन उघारा। चितवत काम भयेउ जरि छारा॥
आयो आयो सुनत ही, सिव सरजा तव नाँव।
बैरि नारि दृग जलन सों, बूड़ि जात अरि गाँव॥

6. अक्रमातिशयोक्ति— जहाँ पर कारण और कार्य एक ही साथ होते हैं वहाँ पर अक्रमातिशयोक्ति होती है, जैसे—

पाँव के धरत अति भार के परत,
भयो एक ही परत मिलि सपत पताल को।

❑ ❑ ❑

सन्धान्यो प्रभु बिसिख कराला। उठी उदधि उर अन्तर ज्वाला।।

7. **अत्यंतातिशयोक्ति**— जहाँ पर कारण के पहले ही कार्य सम्पन्न होने का वर्णन किया जाता है, वहाँ पर **अत्यन्तातिशयोक्ति** होती है, यथा—

धूमधाम ऐसी रामचन्द्र वीरता की मची,
लछिराम रावन सरोष सरकस तें।
बैरी मिले गरद मरोरत कमान गोसे,
पीछे कढ़े बान तेज मान तरकस तें॥

तुल्ययोगिता

किसी वस्तु या व्यापार के गुण और क्रिया में जहाँ एकधर्मत्व की प्रतिष्ठा होती है, वहाँ पर **तुल्ययोगिता** होती है। इसके चार भेद हैं।

(1) वर्ण्यों में एकधर्मता; जैसे—

मुख ससि निरखि चकोर अरु, तन पानिप लखि मीन।
पदपंकज देखत भ्रमर, होत नयन रस लीन॥

(2) अवर्ण्यों या अप्रस्तुतों में धर्मैकता; जैसे—

जी के चंचल चोर सुनि, पी के मीठे बैन।
फीके सुक पिक बचन ये, नीके लागत हैं न॥

(3) जहाँ पर उत्कृष्ट गुणों के साथ वर्ण्य की एकधर्मता स्थापित हो; जैसे—

सौरभ में परिपूरन केतकी, मालती, मौलसिरी औ तुहूँ है।
गौरता में कलकंचन केसरि और तुहूँ है गनी सबहूँ है।
बानक में 'रघुनाथ' कहैं रतिरंभा औ तुहूँ है देखी महूँ है।
ऐसी रची विधि भावती तोहि, न तेरी छुटी मरजाद कहूँ है॥

(4) जहाँ पर हितू और अहितू दोनों के साथ एकधर्मता बरती जाय; जैसे—

जो सींचत, काटत जु है, जो पेरत जन कोइ।
जो रच्छत तिन सबन को, ऊँख मीठियै होइ॥
कोऊ काटै क्रोध करि, कै सींचौ करि नेह।
बेधत वृक्ष बबूल को, तऊ दुहुन की देह॥

दीपक

जहाँ पर वर्णों अर्थात् प्रस्तुतों और अवर्ण्यों अर्थात् अप्रस्तुतों का एक ही धर्म

स्थापित किया जाता है, वहाँ **दीपक** अलंकार होता है; जैसे—

चंचल निसि उदबस रहैं, करत प्रात बसि राज ।
अरविन्दन मैं इन्दिरा, सुन्दरि नैनन लाज ॥

❑ ❑ ❑

काहूं के कैहू घटाये घटै नहिं, सागर औ गुनआगर प्रानी ।

इसके कारक, आवृत्ति, देहली, मालादीपक आदि भेद हैं।

प्रतिवस्तूपमा

जहाँ पर निरपेक्ष उपमेय और उपमान वाक्यों में शब्दभेद से एक ही धर्म का कथन होता है, वहाँ पर **प्रतिवस्तूपमा** अलंकार होता है, जैसे—

पिसुन बचन सज्जन चितै, सकै न फेरि न फारि ।
कहा करै लगि तोय मैं, तुपक तीर तरवारि ॥

❑ ❑ ❑

रंग सों बारिज छजैं भरे छवि, राधे के नैन कटाक्ष सो राजैं।

दृष्टान्त

जहाँ दोनों सामान्य या दोनों विशेष वाक्य में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होता है, वहाँ पर दृष्टान्त अलंकार होता है, जैसे—

पगीं प्रेम नँदलाल के, हमैं न भावत भोग ।
मधुप राजपद पाय के, भीख न माँगत लोग ॥

इसमें ज्यों, जैसे— वाचक शब्द लग जाने से **उदाहरण** अलंकार माना जाता है। दृष्टान्त और प्रतिवस्तूपमा में भी बहुत थोड़ा अन्तर है। प्रतिवस्तूपमा में उपमेय उपमान वाक्यों में एकधर्मता होती है, दृष्टान्त में उपमेय या उपमान वाक्यों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होना चाहिए; केवल एकधर्मता ही नहीं।

निदर्शना

निदर्शना का स्वरूप दृष्टान्त का-सा ही है। निदर्शनं दृष्टान्तकरणं— दृष्टान्त रूप किसी वस्तु को प्रस्तुत करना निदर्शना है। साहित्यदर्पणकार के मत से— ''यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत्सा निदर्शना'' बिम्बानुबिम्ब भाव से कोई बात समझाई जाती है, तब निदर्शना होती है। दृष्टान्त का भी लगभग यही लक्षण होता है। दृष्टान्त में समानधर्मा पदार्थों का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव रहता है, इसमें यह प्रतिबिम्ब नहीं है। दृष्टान्त में निरपेक्ष वाक्यों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव दिखाया जाता है; परन्तु निदर्शना के वाक्य सापेक्ष होते हैं। इसके प्रमुख तीन भेद ये हैं—

1. जहाँ पर दो संभावित या असंभावित व्यापारों में सम्बन्ध स्थापित किया जाता है, जैसे—

जंग जीत जे चहत हैं, तो सों बैर बढ़ाय ।
जीबे की इच्छा करत, कालकूट ते खाय ॥

❑ ❑ ❑

अति खीन मृणाल के तारहु ते, तेहि ऊपर पाँव दै आवनो है ।
यह प्रेम को पंथ करार है री, तरवार की धार पै धावनो है ॥

इसमें अधिकतर जो, सो, जे, ते आदि सम्बन्धसूचक शब्द आते हैं।

2. उपमान के गुणों को उपमेय पर और उपमेय के गुणों को उपमान पर स्थापित करना, जैसे—

जब कर गहत कमान सर, देत अरिन की भीति ।
भाऊ सिंह मैं पाइये, तब अरजुन की रीति ॥
नयन जो देखा कमल भा, निरमल नीर सरीर ।
हँसत जो देखा हँस भा, दसन जोति नग हीर ॥

❑ ❑ ❑

नेकु हँसी जो भई नखतावली मालती कुंद जुहीन पै दाया ।
बैन कहे ते भये वे सुधागति सो भई हंसन की सुचि काया ॥
जोति के भूषण पोत से लागत यों 'गुरुदत्त' करी बिधि माया ।
चंद भयो मुख को प्रतिबिम्ब उदै भई चाँदनी अंग की छाया ॥

3. जहाँ पर पदार्थों के सद् या असद् व्यवहार से सद् या असद् का बोध कराया जाता है, जैसे—

बुंद अघात सहहिं गिरि कैसे। खल के बचन संत सह जैसे।।

उदय होत ही जगत को, हरत तपनि दुख दंद ।
सबही को सुख दीजिये, बढ़े बतावत चंद ॥
कंटक करि करि परत गिरि, साखा सहस खजूरि ।
मरहिं कुनृप करि करि कुनय, कलि कुचाल भरपूरि ॥
कच घुँघरारे जोय, यहै जनावत दुर्जनहिं ।
नितहू बंधन होय, तऊ न तजिये कुटिलता ॥

अर्थान्तरन्यास

जहाँ सामान्य कथन का विशेष के द्वारा तथा विशेष का सामान्य के द्वारा समर्थन होता है, वहाँ पर **अर्थान्तरन्यास** होता है, जैसे—

बड़े जेनहू गुनन बिन, बिरद बड़ाई पाय ।
कहत धतूरे सों कनक, गहनो गढ़ो न जाय ॥

कछु कहि नीच न छेड़िये, भलो न वाको संग ।
पाथर डारे कीच में, उछरि बिगारत अंग ॥

❑ ❑ ❑

धूरि चढ़ै नभ पौन प्रसंग ते कीच भई जल संगति पाई ।
फूल मिलै नृप पै पहुँचै कृमि काँटन संग अनेक बिथाई ।
चन्दन संग कुदारु सुबन्ध ह्वै, नींव प्रसंग लहै करुवाई ।
दास जू देखो सही सब ठौरनि, संगति को गुन दोष न जाई ॥

व्यतिरेक

उपमेय की उपमान से अधिकता या न्यूनता सूचित करनेवाले अलंकार को **व्यतिरेक** कहते हैं। साहित्यदर्पणकार ने लिखा है—''आधिक्यमुपमेयस्योप-मानान्न्यूनताथवाव्यतिरेकः।'' उदाहरण—

जन्म सिन्धु पुनि बन्धु बिष, दिन मलीन सकलंक ।
सिय मुख समता पाव किमि, चन्द बापुरो रंक ॥
रस भीजै हम तुम जलज, रहियत रोग समोय ।
पै तुमको नित मित्र सुख, सपनेहुँ हमैं न होय ॥

❑ ❑ ❑

मुख है अंबुज सो सही, मीठी बात बिसेखि ॥

❑ ❑ ❑

सम सुबरन सुखमाकर सुखद न थोर ।
सीय अंग सखि कोमल कनक कठोर ॥

सहोक्ति

कार्य-कारण-रहित सहवाची शब्दों द्वारा जहाँ पर अनेक व्यापारों या स्थानों में एक धर्म का वर्णन होता है, वहाँ **सहोक्ति** अलंकार होता है। एक साथ अनेक बातों का मनोरंजक वर्णन इस अलंकार की विशेषता है, जैसे—

गहि करतल मुनि पुलक सहित कौतुकहिं उठाय लियो ।
नृपगन मुखन समेत नमित करि, सज़ि सुख सबहिं दियो ।
आकरष्यौ सियमन समेत अति हरष्यों जनक हियो ।
भंज्यो भृगुपति गरब सहित तिहुँलोक बिसोक कियो ॥

छुटत मुठिन सँग ही छुटी, लोकलाज कुलचाल ।
लगे दुहुन एक बेर ही, चलचित नैन गुलाल ॥

विनोक्ति

जहाँ पर उपमेय या प्रस्तुत किसी वस्तु के बिना हीन अथवा रम्य वर्णित किया जाता है, वहाँ पर विनोक्ति होती है, जैसे—

जिमि भानु बिनु दिन प्रान बिनु तन चन्द बिनु जिमि जामिनी ।
तिमि अवध तुलसीदास प्रभु बिनु समुझि री जिय भामिनी ॥

करिये जीवन सुफल चलि, देखहु आज निसंक ।
सरस मनोहर मंजु वह, मुख मयंक बिनु अंक ॥

समासोक्ति

जहाँ पर कार्य, लिंग या विशेषण की समानता के कारण प्रस्तुत के कथन में अप्रस्तुत व्यवहार का समारोप होता है, वहाँ पर समासोक्ति अलंकार होता है, जैसे—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल ।
अली कली ही मैं विंध्यो, आगे कौन हवाल ॥
बड़ो डील लखि पील को, सबन तज्यो बन थान ।
धनि सरजा तू जगत में, ताको हर्‌यो गुमान ॥

पर्यायोक्ति

चाही हुई बात को प्रकारान्तर से कहना पर्यायोक्ति अलंकार है। किसी रचना से बात कहने की चतुराई इस अलंकार में है। इसके दो भेद हैं—

1. किसी बात को सीधे न कहकर घुमा-फिराकर कहना, जैसे—

कत भटकत गावत न क्यों, वाही के गुनगाथ ।
जाके लोचन ही किये, बिन बलयनि रति हाथ ॥
सीता हरन तात जनि, कह्यो पिता सन जाय ।
जो मैं राम तो कुल सहित, कहै दसानन जाय ॥

आली झुलावति झूलनि सों, झुकि जाति कटी झननाति झकोरे ।
चंचल अंचल की चपला चल बेनी बड़ी, सो गड़ी चित चोरे ।
या बिधि झूलत देखि गयो, तब ते कवि 'देव' सनेह के जोरे ।
झूलत है हियरा हरि को, हिय माँहि तिहारे हरा के डिंडोरे ॥

2. किसी कार्य को किसी अन्य बहाने से साधना, जैसे—

पूस मास सुनि सखिन सन, साईं चलत सबार ।
लै कर बीन प्रबीन तिय, गायो राग मलार ॥
देखन मिस मृग बिहँग तरु, फिरै बहोरि बहोरि ।
निरखि निरखि रघुबीर छबि, बाढ़ी प्रीति न थोरि ॥

परिकर

जहाँ पर क्रिया को विशेष रूप से प्रकट करनेवाले किसी साभिप्राय विशेषण का प्रयोग होता है, वहाँ परिकर अलंकार होता है, जैसे—

तनु बिचित्र कायर बचन, अहि अहार मन घोर ।
तुलसी हरि भये पच्छधर, ताते कह सब मोर ॥
भाल में जाके कलानिधि है, वहै साहब ताप हमारो हरैगो ।
अंग है जाको विभूति भरो, वहै भौन में सम्पति भूरि भरैगो ।
घातक है जो मनोभव को, जग पातक वाही के जोर जरैगो ।
'दास' जू सीस पै गंग लिये रहै, वाकी कृपा कहौ को न तरैगो ॥

परिकरांकुर

जहाँ पर क्रिया को विशेष रूप से प्रकाशित करनेवाले किसी साभिप्राय विशेष्य का प्रयोग होता है, वहाँ पर परिकरांकुर अलंकार होता है, जैसे—

धरनिसुता धीरज धर्‌यो, असमय समय बिचारि।

❑ ❑ ❑

नृप निरास भये, निरखत, नगर उदास ।
धनुष तोरि हरि, सब कर हर्‌यो हरास ॥

❑ ❑ ❑

बामा, भामा, कामिनी, कहि बोलो प्रानेस ।
प्यारी कहत लजात नहिं, पावस चलत बिदेस ॥

व्याजस्तुति

जहाँ पर स्तुति के वाक्यों द्वारा निन्दा और निन्दा के वाक्यों द्वारा स्तुति प्रकट होती है, वहाँ पर व्याजस्तुति अलंकार होता है। इस अलंकार के चार रूप हैं।

1. निन्दा से स्तुति; जैसे—

कुजनपाल गुनवर्जित अकुल अनाथ ।
कहौं कृपानिधि राउर कस गनगाथ ॥
नाँगो फिरै कहै माँगतो देखि न खाँगो कछू जनि माँगिये थोरो ।
राँकनि नाकप रीझि करै जग में जुरै जो जन जाचक जोरो ।
नाक सँवारत आयौ हौं नाकहि नाहि पिनाकिहिं नेकु निहोरो ।
ब्रह्म कहैं गिरिजा सिखवौ प्रभु रावरो दानि है बावरो भोरो ॥

2. स्तुति से निन्दा; जैसे—

बाउ कृपा मूरति अनुकूला। बोलत बचन झरत जनु फूला।।

❑ ❑ ❑

राम साधु तुम साधु सुजाना। राम मातु तुम भलि पहिचाना।

3. एक की निन्दा से किसी दूसरे की निन्दा, जैसे—

दई निरदई सों भई, 'दास' बड़ीयै भूल ।
कमलमुखी के जिन कियो, हिय कठिनई अतूल ॥

4. एक की स्तुति से किसी दूसरे की स्तुति, जैसे—

जाको ऐसो दूत सो साहेब अबै आवनो।

❑ ❑ ❑

या वृन्दावन बिपिन में, बड़भागी मम कान ।
जिन मुरली की तान सुनि, किय हर्षित मन आन ॥

नोट— ऊपर सादृश्य, निषेध, उक्ति के आधार पर स्थित वर्गोंवाले अलंकारों का वर्णन हुआ; अब कारण-कार्य-सम्बन्धवाले अलंकारों का विवरण दिया जाता है।

आक्षेप

जहाँ पर कारण के प्रारम्भ में ही प्रतिबन्ध कर दिया जाता है, वहाँ पर आक्षेप अलंकार होता है। इसके अन्तर्गत अभीष्ट वस्तु की विशेषता को प्रकट करने के लिए निषेध प्रस्तुत किया जाता है, जैसे—

(1) जहाँ अपने द्वारा पहले कही गयी बात का निषेध हो उसे उक्ताक्षेप कहते हैं—

सानुज पठइय मोंहि बन, कीजिय सबहि सनाथ ।
नतरु फेरिये बन्धु दोउ, नाथ चलौं मैं साथ ॥

(2) जहाँ पहले निषेध करके फिर बात कही जाती है वहाँ निषेधाक्षेप या निषेधाभास होता है, जैसे—

कहि न होउँ नहिं चतुर कहावौं। मति अनुरूप राम गुन गावौं।।
हौं न कहति तुम जानिहौ, लाल बाल की बात ।
अँसुवा उड़गन परत हैं, होन चहत उतपात ॥

(3) जहाँ पर प्रकट में तो विधि, परन्तु गुप्त रूप से निषेध होता है, उसे व्यक्ताक्षेप कहते हैं, जैसे—

कोंपल ते किसलय जबै, होंय कलित ते कौल ।
तब चलाइये चलन की, चरचा नायक नौल ॥

अप्रस्तुत प्रशंसा

जहाँ पर अप्रस्तुत का वर्णन करते हुए प्रस्तुत का लक्ष्य प्रकट होता है, वहाँ पर अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार होता है। इसके कई रूप हैं—

(1) सारूप्य निबन्धना— जहाँ अप्रस्तुत कथन से प्रस्तुत लक्षित होता है, जैसे—

काल कराल परै कितनौ पै मराल न ताकत तुच्छ तलैया।

❑ ❑ ❑

तुलसी पावस के समय, धरी कोकिलन मौन ।
अब तौ दादुर बोलिहैं, हमैं पूछिहैं कौन ॥
मानस सलिल सुधा प्रतिपाली। जियहि कि लवन पयोधि मराली ॥
नव रसाल बन बिहरनसीला। सोह कि कोकिल बिपिन करीला ॥

यहाँ पर अप्रस्तुत पर ढालकर किसी प्रस्तुत के लिए बात कही गयी है।

(2) कार्य निबन्धना— जहाँ पर कार्य के कथन द्वारा इष्टकारण का संकेत होता है, जैसे—

राधे को बनाय बिधि धोयो हाथ ताको रंग,
जमि भयो चन्द, कर झारे भये तारे हैं ।

❑ ❑ ❑

राधिका के अँसुवान को सागर बाढ़त जात मनो नभ छ्वैहै ।
बात कहा कहिये ब्रज की अब बूड़ोइ ह्वैहै कि बूड़त ह्वैहै ।।

❑ ❑ ❑

संग सुकुमारि नारि जाके अंग उबटि के
बिधि बिरचे बरूथ बिद्युत छटनि के ।

(3) कारण निबन्धना— जहाँ पर कारण के कथन से इष्ट कार्य लक्षित होता है, जैसे—

लई सुधा सब छीनि बिधि, तव मुख रचिबे काज ।
सो अब याही सोच सखि, होत छीन दुजराज ॥

❑ ❑ ❑

राधे के अंग गोराई सी और गोराई बिरंचि बनावन लीनी ।
कै सत बुद्धि बिबेक सों एक अनेक बिचारन में मति दीनी ।
बानिक तैसी बनी न बनावत 'केशव' प्रस्तुत ह्वै गई हीनी ।
लै तब केसरि, केतकि, कंचन, चम्पक, केदलि, दामिनि कीनी ॥

(4) सामान्य निबन्धना— सामान्य का कथन कहकर जहाँ पर विशेष को लक्षित कराया जाय, जैसे—

बड़े प्रबल सों बैर करि, करत न सोच बिचार ।
ते सोवत बारूद पर, कटि मैं बाँधि अँगार ॥

आनन चन्द निहारि निहारि नहीं तन औ धन जीवन वारैं ।
चारु चितौनि चुभी 'मतिराम' हिये मति को गहि ताहि बिसारैं ।
क्यों करि धौं मुरली मनि कुंडल मोरपखा मतिराम बिसारैं ।
ते धनि जे ब्रजराज लखैं, गृह काज करैं, अरु लाज सँभारैं ॥

(5) विशेष निबन्धना— विशेष के कथन द्वारा जहाँ पर सामान्य को लक्षित कराया जाय, जैसे—

धन्य सेस सिर जगत हित, धारत भुव को भारि ।
बुरो बाघ अपराध बिन, मृग को डारत मारि ॥

विभावना

''विभावना बिना हेतुं कार्यात्पत्तिर्यदुच्यते'' (साहित्यदर्पण)। जहाँ पर किसी रूप में कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति का वर्णन किया जाय, वहाँ पर विभावना अलंकार होता है। इसके छः भेद माने गये हैं—

प्रथम— जहाँ कारण के अस्तित्व के बिना ही कार्य होता है, जैसे—

साहि तनै सिवराज की स सहज टेव यह ऐन ।
अनरीझे दारिद हरै, अनखीझे रिपुसैन ॥
बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु करम करै बिधि नाना ॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी ॥

❑ ❑ ❑

लाज भरी अँखियाँ बिहँसी, बलि बोल कहे बिन उत्तर दीन्हीं।

द्वितीय— जहाँ अपूर्ण या अपर्याप्त कारण होने पर भी कार्य पूरा होता है, जैसे—

मंत्र परम लघु जासु बस, बिधि हरिहर सुर सर्ब ।
महामत्त गजराज कहँ, बस कर अंकुश खर्ब ॥

❑ ❑ ❑

आक धतूरे के फूल चढ़ाये ते रीझत हैं तिहुँ लोक के साँई।

तृतीय— जहाँ पर बाधक परिस्थिति के होते हुए भी कार्य पूरा होता है, जैसे—

लाज लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाहिं ।
ये मुँहजोर तुरंग लौं, ऐंचत हू चलि जाहिं ॥
घोर तरु नीजन विपिन तरुनीजन है,
निकसीं निसंक निसि आतुर अतंक मैं ।
गनैं न कलंक मृदुलंकनि मयंकमुखी,
पंकज पगन धाईं भागि निसि पंक मैं ।

भूषननि भूलि पैन्हें उलटे दुकूल 'देव'
खुले भुजमूल प्रतिकूल बिधि बंक मैं ।
चूल्हे चढ़े छाँड़े उफनात दूध भाँड़े,
उन पूत छाँड़े अंक, पति छाँड़े परजंक मैं ॥

चतुर्थ— जहाँ वास्तविक कारण के स्थान पर अन्य कारण से कार्य उत्पन्न होता है, जैसे—

विद्रुम के संपुट में उपजे मोती के दाने कैसे ?
यह शुक फलजीवी करता चुगने की मुद्रा ऐसे ।
भयो कंबु ते कंज इक, सोहत सहित बिकास ।
देखहु चम्पक की लता, देति कमल सुखवास ॥
क्यों न उतपात होहिं बैरिन के झुंडन मैं,
कारे घन उमड़ि अँगारे बरसत हैं ।

पञ्चम—जहाँ पर विरोधी कारण द्वारा कार्य सम्पन्न होता है, जैसे—

लाल तिहारे रूप की, निपट अनोखी बान ।
अधिक सलोनो है तऊ, लगत मदुर अँखियान ॥
या अनुरागी चित्त की, गति समुझे नहिं कोय ।
ज्यों ज्यों भींजे स्याम रँग, त्यों त्यों उज्ज्वल होय ॥
वा मुख की मधुराई कहा कहौं,
मीठी लगै अँखियान लुनाई ॥

षष्ठ— जहाँ पर कार्य से कारण की उत्पत्ति वर्णन की जाती है, जैसे—

और नदी नदन तै कोकनद होत, तेरो कर कोकनद नदी नद प्रगटत हैं।

भयो सिंधु ते बिधु सुकवि, बरनत बिना विचार ।
उपज्यो तो मुख इन्दु ते, प्रेम पयोधि अपार ॥

विशेषोक्ति

जहाँ पर कारण के पूर्ण होने पर भी कार्य सम्पन्न नहीं होता, वहाँ विशेषोक्ति है, जैसे—

आँखिन को सुख, सुन्दरि को मुख, देखत हूँ दिखसाधि न पूजै।

बरसत रहत अछेह वै, नैन बारि की धार ।
नेकहु मिटति न है तऊ, तो बियोग की झार ॥

व्याघात

जहाँ पर उचित उपाय से विरोधी कार्य या प्रभाव हो, या विरोधी कार्यों द्वारा एक ही कार्य की सिद्धि दिखलाई जाय, वहाँ व्याघात अलंकार होता है।

प्रथम— उचित उपाय से विरोधी कार्य, जैसे—

सीतलता ससि की रहि सब जग छाय ।
अगिन ताप है, हम कहँ सँचरत आय ॥
राम सुजस कर चहुँ जुग होत प्रचार ।
असुरन कहँ लखि, लागत जग अँधियार ॥

द्वितीय— विरोधी कार्यों का एक ही परिणाम, जैसे—

बन्दहुँ सन्त असज्जन चरना। दुखप्रद उभय बीच कछु बरना ॥
मिलत एक दारुन दुख देहीं। बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं ॥

असंगति

जहाँ पर कारण, कार्य, स्थान, काल आदि की नियमविरुद्ध स्थिति दिखाई जाती है, वहाँ **असंगति** अलंकार होता है। इसके कई रूप हैं।

प्रथम— जहाँ कहीं कारण और कहीं कार्य होना दिखाया जाय, जैसे—

दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति ।
परति गाँठि दुरजन हिये, दई नई यह रीति ॥

❑ ❑ ❑

सूरति जराई कियो दाहु पातसाह उर
स्याही जाय सब पातसाही उर झलकी ।

❑ ❑ ❑

जरैं नैन फलकैं गिरैं, चित तरपै दिन रैन ।
उठे सूल उर नेह पुर, नव नय-मय नृप मैन ॥

द्वितीय— किसी वस्तु को अपने उचित स्थान से अन्यत्र वर्णन करना, जैसे—

पलनि पीक अंजन अधर, धरे महावर भाल ।
आजु मिले सु भली करी, भले बने हो लाल ॥

तृतीय—जो इच्छित कार्य है, उसके विपरीत कार्य करते हुए वर्णन करना, जैसे—

राज देन कहँ सुभ दिन साधा। कह्यो जान बन केहि अपराधा॥

विरोधाभास

जहाँ पर किसी पदार्थ, गुण या क्रिया में विरोध दिखलाई पड़े (वास्तव में विरोध न हो), वहाँ **विरोधाभास** अलंकार होता है, जैसे—

कत बेकाज चलाइयत, चतुराई की चाल ।
कहे देत यह रावरे सब गुन, बिन गुन माल ॥

अवध को अपनाकर त्याग से ।
वन तपोवन सा प्रभु ने किया ॥
भरत ने उनके अनुराग से ।
भवन में वन का व्रत ले लिया ॥
शीतल ज्वाला जलती है, ईंधन होता दृगजल का ।
यह व्यर्थ साँस चल चलकर, करती है काम अनिल का ॥

कारणमाला

जहाँ पर इस प्रकार का वर्णन होता है कि कारण से उत्पन्न कार्य आगे कारण बनता जाय, या कार्य का जो कारण है, वह कार्य होता जाय, वहाँ पर **कारणमाला** अलंकार होता है, जैसे—

(1) पाट कीट ते होय, तेहिते पाटंबर रुचिर ।

❑ ❑ ❑

धन से धरम धरम से जीवन जीवन से आनन्द।
इस क्रम से ही पा सकते नर पूरण परमानंद ॥

(2) दरसन पिय को पुण्य फल, पुण्य सुकरमन होय ।
सुकृत होय सत्संग ते, दुरलभ जग में सोय ॥

एकावली

जहाँ पर वस्तुओं का क्रम से शृङ्खलाबद्ध वर्णन इस प्रकार होता है कि बाद में कथित वस्तु आगे के लिए आधार की कड़ी बनती जाती है, वहाँ एकावली होती है, जैसे—

कूरम पै कोल, कोलहू पै शेष कुंडली है,
कुंडली पै फैली फैल सुफन हजार की ।
कहै 'पदमाकर' त्यों फन पै फबी है भूमि,
भूमि पै फबी है तिथि रजत पहार की ।
रजत पहार पर संभु चतुरानन है,
संभु पर फैल जय जूट है अपार की ।
संभु जय जूटन पै चंद की छुटी है छ्य
चन्द की छ्यन पै छ्य है गंगधार की ॥

विषम

जहाँ पर असमान और असंगत संघटन का संकेत किया जाता है, वहाँ पर विषमालंकार होता है। इसके तीन भेद हैं।

प्रथम— जहाँ असंगत समानता पर आश्चर्य या अनौचित्य का भाव प्रकट किया

जाय, जैसे—

कहँ कुंभज कहँ सिन्धु अपारा।

❑ ❑ ❑

बापुरो आदिलसाह कहाँ, कहाँ दिल्ली की दामनगीर सिवाजी।

❑ ❑ ❑

कौंल कली सी कहाँ गिरजा औ कहाँ सिवसंकुर-सो वर राढ़ी।

❑ ❑ ❑

हौं भई दूलह वै दुलही, उलही रुचि सों चित प्रीति घनेरी ।
हौं पहिरौं उनकी पियरी, पहिरी उन री चुनरी चुनि मेरी ।
'देव' जू कासों कहौं को सुनै, औ कहा कहे होत कथा बहुतेरी ।
जे हरि मेरी धरैं नित जेहरि, ते हरि चेरी के रंग रँचे री ॥

द्वितीय—जहाँ पर कारण और रूपगुण का और कार्य भिन्न रूपगुण का हो, जैसे—

श्याम गौर दाउ मूरति लछिमन राम ।
इनते भइ सित कीरति अति अभिराम ॥

❑ ❑ ❑

श्री सरजा शिव तो जस सेत सों होत हैं बैरिन के मुँह कारे।

❑ ❑ ❑

गोरी सोभा को सदन तेरो बदन ललाम।

❑ ❑ ❑

कियो लाल रँग लाल को, सौतिहु को रँग स्याम।

तृतीय—जहाँ भला या अभीष्ट प्रयत्न करने पर भी दुष्परिणाम या अनिष्टकारी फल हो, जैसे—

सीतल सिख भइ दाहक कैसे। चकइहिं सरद चन्द निसि जैसे॥
लोने मुख दीठि न लगै, यों कहि दीन्हीं ईठि ।
दूनी है लागन लगी, दिये डिठौना दीठि ॥

सम

विषमालंकार के विपरीत इसमें अनुरूप वस्तुओं का संघटन और वर्णन होता है। इसके भी तीन भेद हैं—

प्रथम—अनुरूपों का सम्बन्ध, जैसे—"जस दूलह तस बनी बराता।"

चिरजीवौ जोरी जुरै, क्यों न सनेह गँभीर ।
को घटि वे वृषभानुजा, ये हलधर के बीर ॥

द्वितीय— जहाँ कारण-कार्य की समानरूपता हो, जैसे—

करत लाख मनुहारि, पै तू न लखति यहि ओर ।
ऐसो उर जु कठोर तौ, न्यायहिं उरज कठोर ॥

तृतीय— जहाँ प्रयत्न से अनायास कार्य सिद्ध हो, जैसे—

हरि ढूँढ़न ब्रज मैं गई, पायो गिरधर लाल ॥
राम अरचत 'सेनापति' चरचत, कोऊ,
कबित रचत याते पद चुनि चुनि है ॥

इसमें कोई अलंकारत्व नहीं रहता।

नोट— यहाँ तक के अलंकारों में किसी प्रकार से कारण-कार्य सम्बन्ध रहा। अब आगे के कुछ अलंकारों में क्रम का आधार है। अतः ये क्रम-सम्बन्धी वर्ग में रखे जा सकते हैं।

सार

जहाँ क्रमशः गुणों का उत्कर्ष या अपकर्ष दूसरी वस्तु में प्रथम वस्तु से अधिक दिखलाया जाता है, वहाँ **सार** अलंकार होता है, जैसे—

आदि बड़ी रचना है बिरंचि की, जामैं रह्यो रचि जीव जड़ो है ।
ता रचना महँ जीव बड़ो अति, काहे ते ता उर ज्ञान गड़ो है ।
जीवन में नर लोग बड़े अति, 'भूषन' भाषत पैज अड़ो है ।
है नर लोग में राज बड़ो सब, राजन मैं सिवराज बड़ो है ॥

यथासंख्य (यथाक्रम)

जिस क्रम में पूर्ववर्ती वस्तुओं का कथन हो, उसी क्रम में उनसे सम्बन्ध रखनेवाली बादवाली वस्तुओं का भी उल्लेख जहाँ किया जाय, वहाँ पर **यथासंख्य** अलंकार होता है, जैसे—

अमी हलाहल मद भरे, स्वेत स्याम रतनार ।
जियत मरत झुकि झुकि परत, जेहि चितवत एक बार ॥

परिसंख्या

जहाँ किसी वस्तु का अपने वास्तविक स्थान या सभी स्थान से लोपकर कहीं एक विशिष्ट स्थान पर आरोप किया जाता है जिससे किसी विशेषता का प्रकाश होता है, वहाँ **परिसंख्यालंकार** होता है, जैसे—

मूलन ही की जहाँ अधोगति केसव गाइय ।
होम हुतासन धूम नगर एकै मलिनाइय ।
दुरगति दुरगन ही जु कुटिल गति सरितन ही मैं ।
श्रीफल को अभिलाष प्रगट कबिकुल के जी मैं ।
अति चंचल जहँ चलदलै, विधवा बनी न नारि ।
मन मोह्यो रिषिराज को, अद्भुत नगर निहारि ॥

❑ ❑ ❑

दंड जतिन कर भेद जहँ, नर्तक नृत्य समाज ।
जीतौ मनहिं सुनिय अस, रामचन्द्र के राज ॥

मुद्रा

जहाँ किसी वस्तु या व्यापार के वर्णन में कुछ श्लेष शब्दों के कारण अन्य सूनीय अर्थ निकले, वहाँ मुद्रालंकार होता है, जैसे—

पौ परि बारहि बार मनायेउँ। सिर सों खेलि **पैंत** जिउ लायेउँ ।
पाकि उठायेउँ आस करीता। हौं जिउ तोंहि हारा तैं जीता ।
अब हौं **चौक पंज** ते बाँची। तुम बिच **गोट** न आवै काँची ।

❑ ❑ ❑

भई **पुछार** लीन्ह बन बासू। बैरिनि सवति दीन्ह **चिलवासू** ।
हारिल भई पन्थ मैं सेवा। अब तहँ पठवौं कौन **परेवा** ।
सोई **बया** जो पिउ कँठ **लवा**। करै मेराव सोइ **गौरवा** ।
पेड़ **तिलोई** औ जल **हंसा**। हिरदे बैठ विरह **कठनंसा** ।

❑ ❑ ❑

पांडव की प्रतिमा सम लेखौ। **अर्जुन भीम** महामति देखौ ।
राजति है वह ज्यों नृपकन्या। **धाइ** विराजति है सँग धन्या ।

उपर्युक्त छन्दों में मोटे अक्षर के श्लिष्ट शब्दों से दूसरा अर्थ निकलता है। अत: यह मुद्रालंकार है।

काव्यलिंग

जहाँ युक्ति द्वारा कारण देकर पद या वाक्य के अर्थ का समर्थन किया जाता है, वहाँ काव्यलिंग अलंकार होता है, जैसे—

कनक कनक ते सौ गुनी, मादकता अधिकाय ।
वह खाये बौरात नर, यह पाये बौराय ॥

श्याम गौर किमि कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥

तजि तीरथ हरि राधिका, तन द्युति करि अनुराग ।
जेहि ब्रजकेलि निकुंज मग, पग पग होत प्रयाग ।
ताहि देखि मन तीरथनि, बिकटनि जाय बलाय ।
जा मृगनैनी के सदा, बेनी परसत पाय ॥

अल्प

जहाँ लघुता या अल्पता के वर्णन में चमत्कार हो, वहाँ अल्प अलंकार होता है, अथवा जहाँ अति छोटे आधार से भी छोटा आधेय वर्णन किया जाय; जैसे—

अब जीवन की है कपि आस न कोइ ।
कनगुरिया कै मुँदरी, कँगना होइ ॥

❑ ❑ ❑

राजै बिनु जोर छला छिगुनी के छोर,
ता छला मैं मापि लीजै भई छाम कटि बाम की।

अधिक

जहाँ पर आधार से आधेय का अथवा आधेय से आधार का आधिक्य वर्णित किया जाय, वहाँ अधिक अलंकार होता है, जैसे—

जिनके अतुल बिलोकियत पानिप पारावार ।
उमड़ि चलत तिन दृगन भरि तो मुख रूप अपार ॥
तुम पूछति कहि मुद्रिके मौन हो यहि नाम ।
कंकन की पदवी दई, तुम बिन वा कहँ राम ॥

सूक्ष्म

जहाँ दूसरे का भाव समझकर साभिप्राय चेष्टाओं के द्वारा उत्तर दिया जाता है, वहाँ पर सूक्ष्म अलंकार होता है, जैसे—

बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितै भौंह करि बाँकी ॥
खंजन मंजु तिरीछे नैननि। निज पिय कह्यो तिनहि सिय सैननि ॥

गो-गृह-काज गुवालन के कहें देखिबे को कहूँ दूरि के खेरो ।
माँगि बिदा लई मोहिनी सों, 'पदमाकर' मोहन होत सबेरो ।
फेंट गही न गही बहियाँ न गरी गहि गोविन्द गौन ते फेरो ।
गोरी गुलाब के फूलन को गजरा लै गुपाल की गैल में गेरो ॥

बेद नाम कहि अँगुरिन खंडि अकास ।
पठयो सूपनखाहिं लखन के पास ॥

तद्गुण

जहाँ समीपवर्ती वस्तु के गुण को अपना लेने की विशेषता वर्णित की ज़ाती है, वहाँ तद्गुण अलंकार होता है, जैसे—

अधर धरत हरि के परत, ओठि दीठि पट जोति ।
हरे बाँस की बाँसुरी, इन्द्र धनुष रँग होति ॥
सिय तुव अंग रंग मिलि अधिक उदोत ।
हार बेलि पहिरावौं चम्पक होत ॥

अतद्गुण

जहाँ सम्पर्क में आनेवाली वस्तु के रूपगुण से अप्रभावित रहने की विशेषता का वर्णन होता है, वहाँ पर अतद्गुण अलंकार होता है, जैसे—

उयो सरद राका ससी, छायो भुवन प्रकास ।
तऊ कुहू रजनी करति, वाके नैननि बास ॥
सिव सरजा की जगत मैं, राजति कीरति नौल ।
अरि तिय दृग अंजन हरै, तऊ धौल की धौल ॥

पूर्वरूप

जहाँ पूर्ववर्ती गुण या स्वभाव का प्रकाशित होना दिखलाया जाता है; यह दो रूपों में आता है।

प्रथम— जहाँ सम्पर्क से आये प्रभाव के मिट जाने पर पूर्ववर्ती गुण प्रकट होता है, जैसे—

केस मुकुत सखि मरकत मनिमय होत ।
हाथ लेत पुनि मुकुता करत उदोत ॥

द्वितीय— जहाँ वस्तु के मिट जाने पर भी दूसरी समान गुणवाली वस्तु के प्रभाव से गुण का प्रकाश बना रहता है, जैसे—

अंग अंग नग जगमगत, दीपसिखा सी देह ।
दिया बढ़ाये हू रहै, बड़ो उजेरो नेह ॥
बदन चंद की चाँदनी, देह दीप की जोति ।
राति बितेहू लाल वहि, भौन राति सी होति ॥

मीलित

जहाँ रूप गुण के सादृश्य के कारण दो वस्तुओं का मिलकर एक हो जाना दिखलाया जाता है, वहाँ मीलित अलंकार होता है, जैसे—

भई जु तन छबि बसन मिलि, बरनि सकै सु न बैन ।
अंग ओप आँगी दुरी, आँगी अंग दुरै न ॥
बरन बास सुकुमारता, सब बिधि रही समाय ।
पँखुरी लगी गुलाब की, अंग न जानी जाय ॥

❑ ❑ ❑

चंपक हरवा अँग मिलि अधिक सुहाय ।

❑ ❑ ❑

जोहैं जहाँ मगु नन्दकुमार, तहाँ चली चन्द्रमुखी सुकुमार है ।
मोतिन ही के किये गहने, सब फूलि रही जनु कुन्द की डार है ।
भीतर ही जु लखी सु लखी अब बाहिर जाहिर होत न दार है ।
जोन्ह सी जोन्है गई मिलि यों, मिलि जाति ज्यों दूध में दूध की धार है ॥

उन्मीलित

जहाँ किसी वस्तु का मीलित अवस्था से फिर प्रकट होना वर्णित किया जाता है, वहाँ उन्मीलित अलंकार होता है, जैसे—

दीठि न परत समान दुति, कनक-कनक से गात ।
भूषन कर करकस लगत, परसि पिछाने जात ॥
मिलि चन्दन बेंदी रही, गोरे मुख न लखाति ।
ज्यों-ज्यों मद लाली चढ़ै, त्यों-त्यों उघटत जाति ॥
चंपक हरवा अँग मिलि अधिक सुहाय ।
जानि परै सिय हियरे जब कुँभिलाय ॥

यहाँ छन्दों की प्रथम पंक्तियों में मीलित और द्वितीय पंक्तियों में उन्मीलित अलंकार है।

इसी प्रकार अन्य कुछ अलंकार हैं जिनमें कथन के चमत्कारस्वरूप रमणीयता का समावेश होता है। इन अलंकारों के आधार पर हम अभिव्यक्ति-सम्बन्धी सौन्दर्य की विशेष पहचान कर सकते हैं। अलंकार के कुछ रूप हमें ध्वनि और वक्रोक्ति के भीतर भी मिलते हैं। लक्षणा के रूप, रूपकातिशयोक्ति, रूपक आदि में देखने को मिलते हैं। सदैव यह नहीं होता कि अलंकारविशेष का अपना स्वतन्त्र रूप काव्य में स्पष्ट रहे, वरन् अनेक अलंकारों की छाया मिलकर एक अद्भुत रंगीनी की सृष्टि करती है। कभी-कभी यह रंगीनी ऐसी अविश्लेष्य रूप में आती है कि हम उसे अलंकार से इतर कुछ समझने की भूल कर बैठते हैं, पर ध्यान से देखने पर उसमें विभिन्न अलंकारों की छाया या किसी विशेष अलंकार का सूक्ष्म विस्तार मिलता है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अभिव्यक्ति-सौष्ठव का विश्लेषण करने के लिए अलंकारों का मानदण्ड हमारे लिए विशेष सहायक होता है।

(ख) रीति-सिद्धान्त

रीति का कोशगत अर्थ है 'गमन-प्रणाली', जिससे जाया जाय या गतिशील हुआ जाय। अतः मार्ग, पन्थ, पद्धति, प्रणाली, शैली आदि इसके पर्यायवाची शब्द हैं। रीति-सम्बन्धी धारणा और महत्त्व के विषय में विद्वानों में मतभेद है। वैसे आलंकारिकों ने और रस-ध्वनि-वक्रोक्ति के अनुयायी आचार्यों ने भी रीति की चर्चा की है। रस के अनुयायियों ने इसे ''उपकर्त्री रसादीनां'' (विश्वनाथ) कहकर व्यक्त किया है। बाण ने हर्षचरित में इसे साहित्यिक विशेषताओं या शैलियों के रूप में संकेत करते हुए लिखा है—

श्लेषप्रायमुदीच्येषु, प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम् ।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षरडम्बरः ॥

इस प्रकार उत्तरी, पश्चिमी, दक्षिणी और पूर्वी प्रदेशों की साहित्यिक शैली की विशेषताओं के उल्लेख रूप में बाण ने जिसका संकेत किया, आगे चलकर वही भामह, दण्डी आदि आचार्यों के द्वारा रीति या मार्ग के रूप में गृहीत किया गया। भामह ने वैदर्भ और गौडीय मार्ग का उल्लेख किया है। दण्डी ने इनका सम्बन्ध विशेषतया गुण से स्थापित किया है। उनके विचार से जिसमें दसों गुणों का समावेश हो, वह वैदर्भ मार्ग है और इसके विपरीत जिनमें इन गुणों की शिथिलता हो वह गौडीय मार्ग है। उनका 'काव्यादर्श' में कथन है—

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता ।
अर्थंव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः ॥
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणाः दशगुणाः स्मृताः ।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि ॥

दण्डी ने भी दो ही रीतियों और मार्गों का वर्णन किया है, परन्तु वे मार्गों का वर्णन करते हुए भी थे अलंकारवादी ही। ये अलंकारों को ''काव्यशोभाकरान् धर्मान्'' के रूप में देखते हैं, यद्यपि भामह और दण्डी की अलंकार-सम्बन्धी धारणा अधिक व्यापक और उदार है। वे अलंकारों को काव्य के समग्र सौन्दर्यतत्त्व के रूप में ग्रहण करते हैं।

रीति को महत्त्व प्रदान करनेवाले तथा इस रीतितत्त्व के वास्तविक मर्मज्ञ आचार्य वामन हैं। इन्होंने रीति को ही ''काव्य की आत्मा'' के रूप में स्वीकार किया है और काव्य की आत्मा की खोज की परम्परा डाली। वामन की रीति-सम्बन्धी धारणा गुणों पर आधारित है जिसे उन्होंने ''विशिष्टा पदरचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा'' कहकर व्यक्त किया है। यह गुणात्मा-सम्बन्धी विशेषता आगे चलकर गुण की धारणा के साथ कहीं-कहीं बदलती हुई भी दीखती है। वामन ने न केवल रीति को आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया, वरन् रीति की संख्या को बढ़ाया और उसके स्वरूप को अधिक स्पष्ट किया। रीति-सम्बन्धी आचार्य वामन के मत का सार यहाँ पर दिया जाता है—

वामन के मत से रीति काव्य की आत्मा है। विशिष्ट पद-रचना रीति हुई। रीति के तीन प्रकार होते हैं—

वैदर्भी, गौडीया और पांचाली।

वैदर्भी— विदर्भादि देशों में प्रचलित रीति वैदर्भी है। यह वैदर्भी रीति समग्र गुणों से युक्त होती है। यह दोषरहित, वीणा के स्वरों के समान मधुर, कुछ इस प्रकार की विशेषता से सम्बन्धित है जो कि शब्द और अर्थ के चमत्कार से भिन्न है।[1]

गौडीया— ओज कान्तिमयी होती है। इसमें मधुरता और सुकुमारता का अभाव रहता है। इसमें समास का बहुत प्रयोग होता है तथा उग्र पदोंवाली यह रीति होती है।

पांचाली— माधुर्य और सुकुमारता से सम्पन्न पांचाली रीति होती है। यह अगठित, भावशिथिल, छायायुक्त (कान्ति से शोभित), मधुर और सुकुमार होती है; कहा गया है—

अश्लिष्टश्लथभावां तां पूरणच्छाययाश्रिताम् ।
मधुरां सुकुमाराञ्ज पाञ्चालीं कवयो विदुः ॥

वामन के विचार से काव्य में प्रथम रीति सर्वगुणसम्पन्न होने के कारण ग्राह्य है; अन्य अल्प गुणोंवाली होने के कारण ग्राह्य नहीं। समास से रहित वैदर्भी रीति शुद्ध वैदर्भी है, क्योंकि इससे गुणों की सम्पदा विशेष रूप से आस्वाद्य हो जाती है। इस वैदर्भी रीति की बड़ी प्रशंसा की गयी है। यह रीति कुछ ऐसी लोकोत्तर और विलक्षण होती है कि जिसमें तुच्छ-सी वस्तु भी विचित्र चमत्कारमय हो जाती है और सहृदयों के लिए तो वह अमृत की वर्षा करती है। इसको प्राप्त कर शब्द की शोभा स्पन्दित हो जाती है जिससे नीरस वस्तु भी सरस लगती है।

आचार्य रुद्रट ने रीति की दूसरे आधार पर कल्पना की। उनकी कल्पना रीति को काव्यात्मा मानकर नहीं है। उन्होंने उसके चार भेद किये जो गुणों पर आधारित न होकर, समास पर आधारित हैं। उनके विचार से वैदर्भी समासरहित शैली है, पांचाली लघु (स्वल्प) समासवाली, लाटीया मध्यम समासवाली तथा गौडीया दीर्घ समासवाली रीतियाँ हैं। इस प्रकार चार भेद हुए— वैदर्भी, पांचाली, लाटी और गौडी। प्रथम दो माधुर्य एवं सुकुमार गुणों से युक्त होने के कारण श्रृंगार, करुण, प्रेयस् आदि रसों की व्यंजक तथा अन्तिम दो उग्र एवं उदात्त होने के कारण रौद्र, भयानक, वीर आदि रसों की व्यंजना करनेवाली रीतियाँ हैं। यहाँ पर रीति में वृत्ति की भावना का समावेश होने के कारण रुद्रट ने यह विवेचन किया है।

---

1. अस्पृष्टा दोषमात्राभिः समग्रगुणगुंफिता।
विपंचीस्वर सौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते॥
सति वक्तरि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने।
अस्ति तत्र बिना येन परिस्रवति वाङ्मधु॥

राजशेखर के मतानुसार वैदर्भी समासरहित, स्थानानुप्रास और योगवृत्ति से युक्त, पांचाली अल्पसमास, स्वल्पानुप्रास और उपचार-वृत्ति से युक्त तथा गौडी दीर्घसमास, अनुप्रासयुक्त तथा योगवृत्ति परम्परायुक्त होती है। भोज का मत भी लगभग राजशेखर का-सा ही है।

'वक्रोक्तिजीवितम्' के लेखक आचार्य कुन्तक ने रीति की धारणा में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन उपस्थित किया है। उन्होंने काव्यशैली या रीति को देशविशेष की परम्परा के रूप में ही देखना उचित नहीं समझा। देशों और प्रदेशों की विभिन्नता और विविधता के आधार पर अनेक रीतियाँ हो सकती हैं। जिनमें काव्यगत विशेषताओं के स्थान पर रूढ़िपालन की परम्परा का आग्रह हो, उन सभी को स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसके साथ ही एक देश में प्रचलित रीति या शैली की विशेषताओं में कुछ दूसरे देश की शैली या रीतियाँ भी मिल सकती हैं। अतः वर्गीकरण की दृष्टि से इस प्रकार के नियम उचित न समझकर उन्होंने शुद्ध गुणों के आधार पर तीन मार्गों या त्रिमार्ग का सिद्धान्त निश्चित किया। 'वक्रोक्तिजीवितम्' में उन्होंने स्पष्ट कहा है—

सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः ।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः ॥

कुन्तक ने वामन के इस मत की भी आलोचना की कि वैदर्भी, जिसका सम्बन्ध विदर्भीय कवियों की शैली से है और गौडी, जिसका सम्बन्ध गौडदेशीय कवियों की शैली से है, एक दूसरी से घटकर या बढ़कर समझी जायँ। यदि रीति की कसौटी सहृदयों के हृदय को आनन्द प्रदान करनेवाली है, तो इस प्रकार की एक ही रीति हो सकती है, अनेक नहीं; उसके भेद देश के आधार पर नहीं किये जा सकते, क्योंकि एक को उत्तम मानने पर और दूसरे को मध्यम या अधम ठहराने से यह भाव निकलता है कि उससे वहाँ के सहृदयों को आह्लाद प्राप्त नहीं होता।

कुन्तक ने कवि-स्वभावानुरूप तीन मार्गों को स्वीकार किया है— 1. सुकुमार, 2. विचित्र, 3. मध्यम। आधुनिक शब्दावली में कहें तो हम कह सकते हैं कि यह वर्गीकरण क्रमशः सरल शैली, चमत्कार शैली और समन्वित शैली के समकक्ष है।

सुकुमार मार्ग— इसमें प्रतिभा से उद्भूत सहज नैसर्गिक गुणों और विशेषताओं का समावेश रहता है। उसके भीतर जो वैचित्र्य या अलंकार आते हैं, वे अनायास आते हैं। सरसता, भावपूर्णता, स्वाभाविक वर्णन इस मार्ग की विशेषताएँ हैं। इसके भीतर शब्दार्थ की योजना भाव और परिस्थिति के अनुरूप होती है। इस प्रकार सुकुमार मार्ग सत्कवियों का मार्ग है जो प्रकृति की नैसर्गिक शोभा, फूल, वन-उपवन, कोकिल, भ्रमर आदि के समान वर्णनों से सम्पन्न रहता है।

विचित्र मार्ग— आलंकारिक मार्ग या कला-मार्ग है। इसमें वर्णन अलंकारों से बोझिल रहता है। यह रत्नाभूषण-जटित, कृत्रिम विशेषताओं से युक्त, प्रयत्नरचित मार्ग है। यह मार्ग चकाचौंध उत्पन्न करनेवाला, चमत्कृत करनेवाला मार्ग है। इसमें वर्ण-चमत्कार,

शब्द-चमत्कार, पदावली की ललित झंकार, अर्थ की वक्रता, उक्ति की विचित्रता आदि विशेषताएँ रहती हैं।

मध्यम मार्ग— सुकुमार और विचित्र, दोनों की विशेषताओं से युक्त यह मार्ग है। इसमें भाव और कला की विशेषताएँ समान रूप से विद्यमान रहती हैं। यह सन्तुलित मार्ग है। सुकुमारता और विचित्रता काव्य की इन विशेषताओं में से कोई अतिरेक पर नहीं रहती, सहज और कृत्रिम दोनों ही शोभाओं का इस मार्ग में समन्वय होता है।

आचार्य कुन्तक ने सुकुमार और विचित्र दोनों मार्गों के अन्तर्गत चार गुणों की प्रतिष्ठा की है— माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य। प्रथम में ये गुण सहज रूप में और दूसरे में आहार्य रूप में रहते हैं। यहाँ पर यह बात ध्यान देने की है कि जब दोनों ही गुण वही हैं, तब निश्चय है कि कुन्तक का मत गुणों पर आश्रित रीति का विवेचन नहीं उपस्थित करता। उनका रीति-भेद सहजता और अलंकृति पर आधारित है। कुन्तक ने रीति-विवेचन को अधिक स्वाभाविक सहजग्राह्य पद्धति पर रखा है।

ऊपर हमने देखा कि रीति का विवेचन कई आधारों और दृष्टियों से हुआ। ये आधार हैं— समास, गुण, अलंकरण, वैचित्र्य आदि। आनन्दवर्धन, मम्मट आदि ने गुणों को रस के उपकारक धर्म-रूप में ग्रहण किया और औचित्य से रीति का सम्बन्ध जोड़ा तथा रीति के नियामक रूप में वक्त्रौचित्य, वाच्यौचित्य, विषयौचित्य और रसौचित्य की चर्चा की। इन तत्त्वों के आधार पर रीति का निश्चय होता है। वक्ता या कवि के स्वभाव के अनुसार शैली बनती है। उग्र स्वभाववाले वक्ता या कवि की उग्र और उदात्त शैली होगी तथा कोमल स्वभाववाले कवि या वक्ता की शैली सुकुमार और कोमल होगी। इसी प्रकार वाच्य, उद्दिष्ट अर्थ, विषय और रस के अनुकूल शैली का निर्वाचन होता है। यदि इनकी अवहेलना करके शैली का चुनाव किया गया, तो वह प्रभावहीन होती है।

शब्द या वर्णसंघटन से सम्बन्धित वृत्तियाँ होती हैं— उपनागरिका, कोमला और परुषा। प्रथम दो वृत्तियों में क्रमशः मधुर और कोमल वर्णों की आवृत्ति होती है और तृतीय में कठोर वर्णों की, संयुक्ताक्षर का भी प्रयोग तृतीय में होता है। मम्मट ने काव्य-प्रकाश में रीतियों के वर्णन में विशेष आधार वर्ण-संघटन का ही ग्रहण किया है। साहित्यदर्पण में आचार्य विश्वनाथ ने चार रीतियों का वर्णन किया जिनमें गुण, वर्ण-संघटन, समास और वृत्ति का आधार है। उनका कथन है—

माधुर्यव्यंजकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका ॥2॥
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ।
ओजः प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः ॥3॥
समासबहुला गौडी वर्णैः शेषैः पुनर्द्वयोः ।
समस्त पञ्चषपदो बन्धः पाञ्चालिका मता ॥4॥
लाटी तु रीतिर्वैदर्भी पाञ्चाल्योरन्तरे स्थिता ।
क्वचित्तु वक्त्राद्यौचित्यादन्यथा रचनादयः ॥5॥

इस प्रकार माधुर्य गुण की व्यंजना करनेवाले वर्णों द्वारा, वृत्तिहीन या अल्प-वृत्तिवाली ललित रचना वैदर्भी है। ओज गुण-प्रकाशक वर्णों से युक्त उद्भट रचना, जिसमें समासों का बहुत अधिक प्रयोग हो, वह गौड़ी रीति है। पाँच-छः समास-युक्त पदों के बन्धवाली रचना पांचाली है और वैदर्भी तथा पांचाली के बीच की रीति लाटी है।

रीति-विवेचना

इन समस्त विवेचनों से रीति-सम्बन्धी धारणा बहुत स्पष्ट नहीं होती। वास्तव में वामन और कुन्तक दो आचार्यों ने रीति के सम्बन्ध में स्पष्ट विचार प्रस्तुत किये हैं; परन्तु दोनों के दृष्टिकोणों को मिलाकर गम्भीरतापूर्वक समन्वित विचार रीति के प्रसंग में अन्य आचार्यों के नहीं हैं। वामन ने वैदर्भी को समग्रगुणा कहा है। इसका तात्पर्य यदि यह लेते हैं कि यह शैली दोषयुक्त नहीं, तब तो ठीक है। अन्यथा सभी गुणों का समावेश एक शैली में कैसे हो सकता है? माधुर्य और ओज गुण एक शैली में कैसे आ सकते हैं? कान्ति और सुकुमारता का एक साथ प्रयोग कैसे हो सकता है? इस प्रकार रीति का सिद्धान्त बड़ी प्रौढ़ता के साथ निरूपित नहीं हो पाया।

कुन्तक ने सुकुमार, विचित्र और मध्यम मार्ग— ये तीन मार्ग प्रस्तुत किये हैं। कवि-स्वभाव का आधार ग्रहण करके ये निश्चित किये गये हैं तथा ये गुणों पर आधारित हैं, देशगत संकीर्णता से मुक्त हैं, ये बातें सब ठीक हैं, पर, क्या इनके अतिरिक्त ओजपूर्ण शैली नहीं हो सकती है, जिसकी व्यंजना इनकी व्याख्याओं में तो है, पर नामों में नहीं है? अतः सुकुमार नाम बहुत उपयुक्त नहीं है, क्योंकि यह केवल कोमल भावों एवं शब्दावली से युक्त शैली की ही व्यंजना करता है। आवश्यकता इस बात की थी कि वामन या कुन्तक की रीति-सम्बन्धी धारणाओं को आगे विकसित किया जाता, तब रीति-सिद्धान्त का पूरा विकास हो सकता था, पर इसके साथ ही वक्रोक्ति, ध्वनि, रस आदि सिद्धान्त सामने आ गये, अतः रीति का पूरा विकास नहीं हो पाया।

समस्त आचार्यों की धारणाओं को लेकर हम रीतियों की विशेषताओं को इस प्रकार प्रकट कर सकते हैं—

वैदर्भी— लगभग समस्त गुणों से युक्त, समासरहित या अल्प समासवाली, मधुर सुकुमार शब्दावली का प्रयोग करनेवाली, भावों और रसों की व्यंजना करनेवाली सरस शैली वैदर्भी रीति कहलाती है।

पांचाली— स्वल्प समासवाली सुकुमार शब्दावली-प्रधान, शिथिल पदसंगठन-वाली शैली पांचाली है।

गौडी— दीर्घ समासवाली, ओज और क्रान्तिकारी गुणों से युक्त, अक्षराडम्बरयुक्त परुष एवं संयुक्ताक्षरोंवाली शैली गौडी रीति है।

लाटी— कोमल पदोंवाली, उचित समास से युक्त, विश्लेषण-प्रधान वर्णनवाली शैली लाटी रीति है।

उपर्युक्त रीति-सिद्धान्त का वर्णन हमारे आधुनिक विवेचन के लिए बहुत वैज्ञानिक

और पूर्ण नहीं है। आज हम शैली पर विचार करते हैं, तो उसकी विशेषताएँ अधिक स्पष्ट और वैज्ञानिक ढंग से प्रकट की जा सकती हैं। इसे हम विद्वानों के विचारार्थ यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

शैली या रीति काव्य-रचना-सम्बन्धी वह विशेषता है, जो कवि की प्रकृति और व्यक्तित्व, वर्ण-योजना, शब्द संगठन, अलंकार-योजना, भाव-सम्पत्ति एवं उक्तिवैचित्र्य के परिणामस्वरूप प्रकाशित होती है।

इसके द्वारा हम किसी कवि की रचना को या उस पद्धति की रचना को दूसरे कवि या दूसरी पद्धति की रचनाओं से अलग करके देख सकते हैं। दोनों प्रकार की रचनाओं का प्रभाव हमारे ऊपर अलग-अलग पड़ता है।

कोई भी शैली कवि पर पड़े छन्द-भाव-जीवन-सम्बन्धी संस्कारों के आधार पर बनती है। प्रत्येक कवि की शैली की अपनी निजी कुछ विशेषताओं के होते हुए भी उसमें ऐसी सामान्य विशेषताएँ भी रहती हैं, जो उस वर्ग के कवियों या लेखकों— सभी में पायी जाती हैं।

शैली का निश्चय केवल व्यक्ति पर ही निर्भर नहीं रहता; वरन् वर्ण्य विषय, पात्र, परिस्थिति, भाव, उद्देश्य आदि के द्वारा शैली का रूप निश्चित होता है। इन बातों का ध्यान रखते हुए हम निम्नांकित शैलियाँ या काव्यरीतियाँ प्रचलित देखते हैं— सरस शैली, मधुर शैली, ललित शैली, क्लिष्ट या विदग्ध शैली, उदात्त शैली, व्यंग्य शैली या तीक्ष्ण शैली। इनमें से प्रत्येक की विशेषताओं का सोदाहरण निरूपण यहाँ पर किया जाता है।

सरस शैली—भाव एवं रस का निरूपण करनेवाली, प्रसादगुणसम्पन्न, सरल भाषा में भावानुसार शब्दावली का प्रयोग करनेवाली, सर्वजन सुगम एवं रमणीय शैली सरस शैली है। वाल्मीकि, भवभूति, तुलसीदास, सूरदास, मीरा, मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचन्द आदि की शैली सरस शैली है। जैसे—

आली री मोहि कोउ न समुझावै ।
राम गमन साँचौ किधौं सपनो उर परतीति न आवै ॥
लगेइ रहन इन नैननि आगे राम लखन अरु सीता ।
तदपि न मिटत दाह या तन को बिधि जो भयउ बिपरीता ॥
दुख न रहै रघुपतिहिं बिलोकत, तन न रहै बिनु देखे ।
करत न प्रान प्रयान सुनहु सखि समुझि परी यहि लेखे ॥
कौसिल्या के विरह वचन सुनि रोइ उठीं सब रानी ।
तुलसिदास रघुबीर बिरह की पीर न जाति बखानी ॥

मधुर शैली— जिसमें मधुर एवं संगीतमय शब्दों द्वारा उपनागरिका वृत्ति के प्रयोग से सुकुमार और कोमल भावों का वर्णन किया जाता है, वह मधुर शैली है। इसमें कर्कश, भयानक प्रसंगों का वर्णन नहीं होता है। इस शैली में लिखनेवाले कवि जयदेव, विद्यापति, नन्ददास, देव, मतिराम, पद्‌माकर, आदि कवि हैं। उदाहरण—

कुंदन को रँग फीको लगै झलकै अति अंगन चारु गोराई ।
आँखिन में अलसानि चितौनि मैं मंजु बिलासन की मधुराई ।
को बिनु मोल बिकात नहीं मतिराम लखे अँखियान लुनाई ।
ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि त्यों-त्यों खरी निकसै ह्वै निकाई ॥

ललित शैली— जिस शैली में शब्दों का कलात्मक प्रयोग होता है, जिसमें कल्पना का रंगीनी, वर्णन की सूक्ष्मता एवं चित्रात्मकता रहती है, उक्ति-चमत्कार एवं अलंकारिता भी जिसमें होती है, वह ललित शैली है। इस शैली के कवि कालिदास, श्रीहर्ष, बिहारी, पद्माकर, रत्नाकर, प्रसाद, महादेवी आदि हैं। उदाहरण—

अंग-अंग नग जगमगत दीप सिखा सी देह ।
दिया बढ़ाये हू रहै, बड़ो उजेरो गेह ॥

❑ ❑ ❑

मर्मर की सुमधुर नूपुर ध्वनि
अलि गुंजित पद्मों की किंकिणि,
भर पद गति में अलस तरंगिणि,
तरल रजत की धार बहा दे
मृदु स्मित में सजनी!
बिहँसती आ वसन्त रजनी।

क्लिष्ट या विदग्ध शैली— जिस शैली में शब्दों का सांकेतिक, लाक्षणिक, प्रतीकात्मक प्रयोग हो, गूढ़ अर्थ या क्लिष्ट कल्पना की जिसमें प्रचुरता हो, जिसका भाव बिना व्याख्या या टीका के स्पष्ट न हो, वह क्लिष्ट या विदग्ध शैली है। इस शैली के कवि भारवि, माघ, केशवदास, सेनापति, निराला आदि हैं। उदाहरण—

ते न नगर ना नागरी प्रतिपद हंसक हीन ।
जलजहार सोभित न जहँ प्रगट पयोधर पीन ॥

कौन तम के पार? (रे, कह)
अखिल पल के स्रोत, जल जग
गगन घन - घन - धार (रे, कह)
गन्ध - व्याकुल - कूल - उर - सर
लहर-कच कर कमल मुख-पर,
हर्ष अलि हर स्पर्श-शर, सर,
गूँज बारंबार! (रे, कह)

उदात्त शैली— ओज-गुण-सम्पन्न, वीरता, उत्साह, भय आदि भावों की प्रेरक दीर्घमात्रायुक्त, दीर्घश्वासप्रवाही पदोंवाली, कहीं-कहीं संयुक्ताक्षरयुक्त उत्तेजक शैली उदात्त शैली कहलाती है। बाण, भट्टनायक, चन्द, सेनापति, भूषण, चन्द्रशेखर, निराला, दिनकर, आदि इसी शैली के लेखक हैं। उदाहरण—

बाने फहराने घहराने घंटा गजन के
नाहीं ठहराने राव राने देस देस के ।
नग भहराने ग्राम नगर पराने सुनि
बाजन निसाने सिवराज जू नरेस के ।
हाथिन के हौदा उकसाने कुंभ कुंजर के
भौन को भजाने अलि छूटे लट केस के ।
दल के दरारे हू तो कमठ करारे फूटे
केरा के से पात बिहराने फन सेष के ॥
दिल्लिय दलन दबाय करि सिव सरजा समरत्थ ।
लूटि लियो सूरति सहर, बंकक्करि अति डंक ॥
बंकक्करि अति डंकक्करि, अति संकक्करि खलु ।
शोचच्चकित भड़ोचच्चलिय विमोचच्चख जलु ॥
तट्ठट्ठइ मन कट्ठट्ठइ सोइ रट्ठट्ठिल्लिय ।
सद्द्दिसि दिसि भद्ददद्दबि भइ रद्दद्दिल्लिय ॥

व्यंग्य शैली— किसी बात को इस ढंग से कहना कि उसमें एक तीखा प्रभाव व्यक्त हो, वक्रोक्ति या व्यंग्य शैली के भीतर है। इसमें बात का वाच्यार्थ प्रधान न होकर उससे निकलनेवाला व्यंग्यार्थ प्रधान होता है। समय और अवसर के अनुरूप इस शैली का प्रयोग बहुत-से कवियों ने किया है। सूरसागर का भ्रमरगीत-प्रसंग, रामचरितमानस के लक्ष्मण-परशुराम तथा अंगद-रावण संवाद, बिहारी के कुछ दोहे, सेनापति के कवित्त, दीनदयाल गिरि के छन्द, बेनी के कवित्त, निराला के छन्दों आदि में इस शैली के उदाहरण मिलते हैं। जैसे—

तुलसी पावस के समय, धरी कोकिलन मौन ।
अब तौ दादुर बोलिहैं, हमैं पूछिहैं कौन ॥
कर लै सूँघि लगाइ मुख, मीठो कहत सराहि ।
रे गंधी मति अंध तू, अतर दिखावत काहि ॥
मरत प्यास पिंजरा पर्‌यो सुवा समय के फेर ।
आदर दै दै बोलियत बायस बलि की बेर ॥

❑ ❑ ❑

अरे, सुन बे गुलाब,
भूल मत गर पाई खुशबू रंगोआब
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट
डाल पर इतरा रहा है कैपिटलिस्ट!

ऊपर के विवेचन में यह स्पष्ट करने का प्रयत्न है कि आज यदि हम शैली के रूप में रीति को ग्रहण करते हैं, तो कुछ इसी प्रकार का उसका वर्गीकरण हो सकता है।

साहित्य की शैलियों का विचार पाश्चात्य विद्वानों ने भी किया है। शैली के प्रसंग में अरिस्टॅटिल की काव्यशैली (Literary style), वाद शैली (Controversial style), डेमीट्रियस की सरल शैली (Plain style), उदात्त शैली (Stately style), ललित शैली (Polished style), तीव्र शैली (Powerful style), तथा इनके विकृत रूप में शिथिल शैली (Frigid style), कृत्रिम शैली (Affected style), नीरस शैली (Arid style), अरोचक शैली (Disagreeable style) आदि भेद प्रसिद्ध हुए। इनके अतिरिक्त देश के आधार पर क्विंटिलियन के एटिक (Attic), एशियाटिक (Asiatic) और रोडियन (Rhodian) शैलियाँ, विंचेस्टर (Winchester) की विचार और कल्पना की स्पष्टता पर आधारित शैलियाँ भी, शैली के प्रसंग में महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें से लगभग सभी शैलियों का समावेश उपर्युक्त विवेचन के भीतर आ जाता है अतएव इनके अधिक विवरण की अपेक्षा नहीं।

गुण

रीति के प्रसंग में गुणों का वर्णन करना अपेक्षित है। गुणों के सम्बन्ध में भी आचार्यों की भिन्न-भिन्न धारणाएँ हैं। भरतमुनि भावगत विशेषताओं के रूप में इन्हें स्वीकार करते हैं। उन्होंने गुणों की संख्या दस मानी है—

श्लेषः प्रसादः समता समाधिः-
माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम् ।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च
कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते ॥

आचार्य दण्डी ने भी इन्हीं गुणों को माना है। वे गुणों को मार्ग के आधाररूप में ग्रहण करते हैं। वामन भी रीति, जो काव्य की आत्मा है, वह गुण पर आधारित है, यह बात स्थापित करते हैं। परन्तु दण्डी और वामन की गुणसम्बन्धी धारणाओं में अन्तर है। दण्डी काव्य-शोभा का हेतु अलंकार मानते हैं, न कि गुण। इस प्रकार वामन के विचार से गुण का अधिक महत्त्व है। अलंकार, गुण द्वारा सम्पन्न काव्यशोभा को बढ़ानेवाले हैं, शोभा के मूल हेतु नहीं हैं। पद-रचना के उपर्युक्त दस गुणों को वे स्वीकार करते हैं। वामन के विचार से पद-रचना के संश्लिष्ट संगठन में ओज, शिथिल संगठन में प्रसाद, अनेक अर्थ जहाँ एक पद से लगें वहाँ श्लेष; शैली की एक समानता, समता; चढ़ाव-उतार का क्रम समाधि; समास-रहित पद-प्रयोग माधुर्य; कठोरता के अभाव से सौकुमार्य, जहाँ वर्ण नृत्य-से करते हों वहाँ उदारता, जहाँ स्पष्टता वहाँ अर्थव्यक्ति; नव्यता और चमक में कान्ति, गुणों की उपस्थिति मानी जाती है। यह व्याख्या पद-रचना की दृष्टि से है, अर्थ की दृष्टि से फिर अलग व्याख्या वामन ने की है। इसके अनुसार अर्थ की प्रौढ़ता ओज; अनेक विशेषताओं का संगठन श्लेष; विषमता का अभाव समता; अर्थ की विशेषता समाधि; उक्तिवैचित्र्य माधुर्य; परुषता का अभाव सौकुमार्य; ग्राम्यत्व की हीनता उदारता; स्पष्टार्थता, अर्थव्यक्ति तथा रस की दीप्ति कान्ति है।

आचार्य आनन्दवर्धन का मत है कि गुण काव्य के धर्म हैं, काव्यांग अर्थात् शब्द, अर्थ आदि के नहीं। जैसा कि उनका कथन है— "तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।" इस प्रकार गुण अंगी का धर्म माना गया, अंग का धर्म नहीं। वामन के मत का यहाँ पर और स्पष्टीकरण हो जाता है। परन्तु अन्तर यह है कि वामन काव्य की आत्मा रीति मानते हैं। अतः ये गुण रीति के धर्म हैं और काव्य-शोभा को करनेवाले हैं, जबकि आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट आदि आचार्यों के मत से ये गुण रस के धर्म हैं, क्योंकि रस अंगी है। मम्मट का स्पष्ट कथन है—

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥ 8, 87 ॥

मम्मटाचार्य ने तथा अन्य ध्वनिवादी आचार्यों ने दस गुण नहीं माने। वे केवल तीन गुण माधुर्य, ओज और प्रसाद मानते हैं। ये गुण रसास्वाद के समय सामाजिक की तीन अवस्थाओं के साथ सामञ्जस्य द्वारा निश्चित किये गये हैं। ये तीन अवस्थाएँ हैं— द्रुति, दीप्ति और प्रसन्नता। इस प्रकार माधुर्य शृङ्गारादि का, ओज वीर-रौद्रादि का तथा प्रसाद सभी रसों का उपकरण है। शृंगार 'परम मधुर परमाह्लादमय' रस है। अतः माधुर्य का उससे सम्बन्ध स्वाभाविक ही है। माधुर्य का सम्बन्ध चित्त को द्रवित करने से है अतः विप्रलंभ और करुण रसों में इसकी स्थिति स्वतःसिद्ध है। ओज का सम्बन्ध चित्त के उत्तेजित हो जाने या दीप्त हो जाने से है। ओज गुण की दृष्टि से, वीर से अधिक वीभत्स और उससे अधिक रौद्ररस प्रचण्ड माना गया है। प्रसाद गुण प्रसन्नता और व्यापकता का द्योतक है।

दस गुणों में कुछ गुण तो इन्हीं तीन के भीतर आ जाते हैं और शेष गुण न होकर दोषाभाव के रूप में आते हैं। अतः मम्मटादि ध्वन्याचार्यों के द्वारा केवल तीन ही गुण माने गये हैं। लगभग यही मत आचार्य विश्वनाथ ने भी स्वीकार किया है। रस की परिभाषा भी उनकी इसी प्रकार की है; जैसे—

रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा ।
गुणाः माधुर्यमोजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिधा ॥ 8,1 ॥

ये गुण अंगी के धर्म के रूप में हैं। माधुर्य चित्त को द्रवित करनेवाले भाव से युक्त है। संभोग, करुण, विप्रलंभ और शान्त में यह क्रमशः अधिक प्रकर्षयुक्त होता है। इसमें समासहीनता या अल्पसमासता तथा वर्गों के अन्तिम वर्णों तथा लघुमात्रिक वर्णों का प्रयोग होता है। यह मधुर रचना है; यथा—

लताकुञ्जं गुञ्जन्मदवदलिपुञ्जं चपलयन् ।
समालिङ्गन्नङ्गं द्रुततरमनङ्गं प्रबलयन् ॥
मरुन् मन्दं मन्दं दलितमरबिन्दं तरलयन् ।
रजोवृन्दं विन्दुन्किरति मकरन्दं दिशि दिशि ॥

□ □ □

कुसुम धूरि धुंधरी कुञ्ज, छवि पुंजन छाई ।
गुञ्जत मंजु मलिन्द, बेनु जनु बजत सुहाई ॥
नूपुर कंकन किंकिन, करतल मंजुल मुरली ।
ताल मृदंग उपंग चंग एकहि सुर जुरली ॥

ओज चित्त का विस्तारक एवं दीप्तिकारक है। वीभत्स और रौद्र में यह क्रमशः प्रकर्ष प्राप्त करता है। संयुक्त वर्ण, टवर्ग, द्वित्व, रेफ आदि का अधिक प्रयोग तथा समासयुक्त पदावली रहती है, यथा—

जय चमुण्ड जय चण्डमुण्डभण्डासुरखण्डिनि ।
जय सुरक्त जै रक्तबीज बिड्डाल बिहण्डिनि ॥
जै निशुंभ शुंभद्दलनि भनिभूषन जै जै भननि ।
सरजा समत्थ सिवराज कहँ देहि विजय जै जगजननि ॥

प्रसाद गुण चित्त को व्याप्त और प्रसन्न करनेवाला होता है। यह समस्त रसों में और रचनाओं में रहता है। इसमें आये शब्द सुनते ही अर्थ के द्योतक होते हैं, यथा—

जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी ॥
देखहिं भूप महारनधीरा। मनहुँ बीर रस धरे सरीरा ॥
पुरबासिन देखे दोउ भ्राता। नर भूषन लोचन सुखदाता ॥

इस प्रकार ध्वनि और रस-सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा हो जाने पर माधुर्य, ओज और प्रसाद इन्हीं तीन गुणों को आचार्यों ने मान्य ठहराया।

(ग) वक्रोक्ति-सिद्धान्त

वक्रोक्ति-सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक हैं। ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा हो जाने पर तथा रीति-सिद्धान्त में वामन द्वारा गुण को काव्यशोभा के कारण-स्वरूप धर्म के रूप में स्वीकार करने पर, अलंकार को अपदस्थ होकर गौण पद ग्रहण करना पड़ा। वास्तव में जिस धारणा के अनुसार अलंकार को काव्य में प्रधान एवं शोभाकर धर्म के रूप में ग्रहण किया गया था, वह धारणा ही बदल गयी। अलंकार आभूषण के अर्थ में ग्रहण करने से उसका महत्त्व कम हो गया। वास्तव में अलंकार का भाव काव्य के अन्तर्गत समस्त विशेषता को समेट लेने का था। काव्य की आत्मा ढूंढ़ने के प्रसङ्ग में अलंकार को अन्तर्निहित उक्ति-वक्रता के रूप में रीति और ध्वनिसम्प्रदायों में नहीं देखा गया। ध्वनि ने जिस विशेषता को लेकर अपना सिद्धान्त खड़ा किया था, वह विशेषता अलंकार की तह में भी किसी-न-किसी रूप में थी। अलंकार सम्प्रदाय के प्रवर्तक भामह ने इसी प्रकार का भाव अपने निम्नांकित श्लोकों में व्यक्त किया है—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥ 2, 85 ॥

इस प्रकार वक्रोक्ति, अलंकार की आत्मा के रूप में भामह के द्वारा ग्रहण की गयी

थी। दण्डी ने भी वक्रोक्ति का महत्त्व प्रकट किया है। आनन्दवर्धन ने वक्रोक्ति की इस धारणा को अतिशयोक्ति के रूप में व्यक्त किया है। वे अतिशयोक्ति को ही काव्य-सौन्दर्य का कारण मानते हैं। एक प्रकार से उनका ध्वनिसिद्धान्त भी इसी अतिशय उक्ति के आधार पर ही टिका है। उनकी यह अतिशयोक्ति, वास्तव में भामह और दण्डी की वक्रोक्ति से भिन्न नहीं मानी जा सकती है। इस अतिशयोक्ति से हीन काव्य अलंकार मात्र या अवर काव्य है। अतिशयोक्ति वाच्य और व्यंग्य रूप में हैं। वाच्य रूप में अतिशयोक्ति अर्थालंकार तथा व्यंग्य रूप में होने पर ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य है।[1] इस प्रकार अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति को ध्वनिसिद्धान्त में समेट लेने पर भी विशेष महत्ता ध्वनि की ही आनन्दवर्धन ने प्रतिष्ठापित की। अतः वक्रोक्ति के रूप में काव्य की आत्मा को महत्त्वपूर्ण स्थान न मिल सका। इसी वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित करनेवाले आचार्य कुन्तक थे।

वक्रोक्ति-सम्बन्धी धारणाएँ भी अलंकार-सम्बन्धी धारणा के समान भिन्न-भिन्न रूप में दिखलाई देती हैं। भामह ने वक्रोक्ति के भीतर काव्य के समस्त सौन्दर्य और शोभा का समावेश माना। दण्डी ने स्वभावोक्ति से वक्रोक्ति को अलग करके देखा, जैसा कि उन्होंने काव्यादर्श में लिखा भी है—

श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायोवक्रोक्तिषुश्रियम् ।
द्विधा भिन्नं स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ॥

यहाँ वक्रोक्ति के भीतर रस भी सम्मिलित है। वक्रोक्ति का और भी विश्लेषण करके रस को भी उससे अलग कर दिया गया और आगे चलकर अनेक अलंकारों की तरह वक्रोक्ति केवल एक अलंकार रह गया और वह भी कहीं-कहीं केवल शब्दालंकार के एक भेद के रूप में। भोजराज ने रसोक्ति को महत्त्व देते हुए लिखा है—

वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम् ।
सर्वासु ग्राहिर्णी तासु रसोक्तिं प्रतिजानते ॥ (*सरस्वतीकण्ठाभरण*)

आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति के अतिरिक्त और सबको अलंकृति न मानकर विषय या अलङ्कार्य माना है। इस प्रकार स्वभावोक्ति अलंकार न होकर अलंकार का विषय या अलंकार्य है। अलंकार के मूल वक्रोक्ति को ही कुन्तक अलंकृति के रूप में देखते हैं और इसी रूप में इन्होंने वक्रोक्ति सिद्धान्त का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन अपने 'वक्रोक्तिजीवितम्' ग्रन्थ में किया है। कुन्तक ने लिखा है—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥1, 7॥
उभावेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः ।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगी भणितिरुच्यते ॥1, 10॥

---

1. अतिशयोक्तिगर्भता सर्वालंकारेषु शक्यक्रिया। तत्रातिशयोक्तिर्यमलंकारमधितिष्ठतिकवि-प्रतिभावशात्तस्य चारुत्वातिशयोक्तिः अन्यस्य त्वलंकारमात्रमेवेति। —*ध्वन्यालोक*

वक्रोक्ति अलंकृति है। यही कथन की भङ्गिमा है जो उक्ति को शोभा प्रदान करती है। उक्ति में चमत्कार और चारुता का सम्पादन वक्रोक्ति के द्वारा ही होता है। अत: वक्रोक्ति काव्य का जीवन है। इससे हीन काव्य सजीव नहीं है। वक्रोक्ति उक्ति का चमत्कार है। यह विशेषता रचना में कविप्रतिभा के संयोग से आती है। इसमें 'अतिशयोक्ति' का भाव भी है। जब किसी वर्ण्य विषय में उसके किसी धर्म या विशेषता का अतिशय कथन-चमत्कार (विच्छित्ति) के साथ प्रतिपादन किया जाता है, तब वक्रोक्ति की प्रतिष्ठा होती है।

आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति के जो छ: भेद माने हैं वे हैं— वर्णविन्यासवक्रता, पदपूर्वार्धवक्रता, पदपरार्धवक्रता, वाक्यवक्रता, प्रकरणवक्रता और प्रबन्धवक्रता।[1] इनमें से प्रत्येक भेद के अनेक प्रकारों का वर्णन किया है। यहाँ पर इनमें से प्रत्येक प्रमुख भेद का परिचय संक्षेप में दे रहे हैं।

वर्णविन्यासवक्रता

वर्णविन्यासवक्रता के अन्तर्गत वर्णों के इस प्रकार का संगठन आता है जिससे चमत्कार उत्पन्न हो सके। इसके अन्तर्गत शब्दालंकार, अनुप्रास, यमक, विभिन्न वृत्तियों एवं शब्दगुणों का समावेश है। कुन्तक का अभिप्राय ऐसी वर्णयोजना से है जो कि विषय को अलंकृत कर सके, तभी उसमें चमत्कार हो पायेगा।

पदपूर्वार्धवक्रता

यह पदवक्रता का एक रूप है। पदवक्रता में व्याकरण-सम्बन्धी प्रयोगों में चमत्कार आता है। इसके अन्तर्गत किसी शब्द के प्रयोगों की विच्छित्ति या वैचित्र्य समाहित रहता है। इस पूर्वार्धवक्रता के दस रूप माने गये हैं जिनका विवरण इस प्रकार है—

(1) रूढ़िवैचित्र्यवक्रता— इसमें रूढ़ि या परंपरागत मान्यता का वैचित्र्य होता है। जहाँ पर असंभाव्य धर्म का आरोप अथवा विद्यमान धर्म की अतिशयता होती है, वहाँ पर रूढ़िवैचित्र्यवक्रता होती है। ध्वनिसिद्धान्त के अन्तर्गत लक्षणमूला ध्वनि के दोनों भेद— अर्थान्तर संक्रमित और अत्यन्त तिरस्कृत— इसके अन्तर्गत लिये जाते हैं। इसमें रूढ़ि के द्वारा किसी शब्द में वैचित्र्य का समावेश हो जाता है। जैसे "धरनिसुता धीरज धर्‌यो समय सुधरम बिचारि" में धरनिसुता में यह भाव रूढ़िगत है कि पृथ्वी सब कुछ सहन करनेवाली है, तो उसकी पुत्री सीता भी अवश्य सहन कर सकती है। अत: धैर्य धारण करना उनके लिए सहज है।

---

1. वर्णविन्यासवक्रत्वं पदपूर्वार्धवक्रता ।
वक्रतायाः परोप्यस्ति प्रकार: प्रत्ययाश्रय: ॥1, 19॥
वाक्यस्य वक्रभावोन्यो भिद्यते य: सहस्रधा ।
यत्रालंकारवर्गोसौ सर्वोप्यन्तर्भविष्यति ॥20॥
वक्रभाव: प्रकरणे प्रबन्धे वाऽपि यादृश: ।
उच्यते सहसाहार्य: सौकुमार्यमनोहर: ॥21॥

(2) पर्यायवक्रता— इसमें किसी शब्द के ऐसे पर्याय का प्रयोग चमत्कारपूर्ण होता है जो घनिष्ठता रखता हो, या अर्थ को अतिशय पुष्ट करता हो अथवा असम्भाव्य अर्थ की सूचना देने की विशेषता से युक्त हो। अनेक पर्याय (एक अर्थ देनेवाले) शब्दों में उसी विशेष शब्द का प्रयोग चमत्कारक होता है; जैसे—

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी ।
अंचल में है दूध और आँखों में पानी ॥

❑ ❑ ❑

नारी तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास रजत नग पगतल में ।
पीयूष स्रोत सी बहा करो जीवन के सुन्दर समतल में ॥

❑ ❑ ❑

एक कनक एक कामिनी दुर्गम घाटी दोय।

यहाँ पर अबला, नारी और कामिनी पर्याय हैं, परन्तु प्रथम में विवशता और दुर्बलता की विशेषताओंवाली, द्वितीय में मानवी और तृतीय में वासना का प्रेरक स्त्रीवाची शब्द है। अत: यहाँ पर पर्यायवक्रता है।

(3) उपचारवक्रता— इस भेद के भीतर आरोप रहता है। वास्तव में भिन्न एवं दूरस्थ वस्तु का जब किसी वस्तु के साथ अभेद स्थापन किया जाता है, तब उपचार-वक्रता होती है। रूपक आदि अलंकार इसी के भीतर आते हैं। इसमें अचेतन में चेतना का आरोप भी होता है; जैसे—

हे लाजभरे सौन्दर्य बता दो मौन बने रहते हो क्यों ? (*प्रसाद*)
सिकता की सस्मित सीपी पर मोती की ज्योत्स्ना रही विचर। (*पंत*)

यहाँ पर सौन्दर्य के लाज भरे होने और सीपी के सस्मित होने में उपचारवक्रता है।

(4) विशेषणवक्रता— जहाँ पर विशेषण के महत्त्वपूर्ण प्रयोग के कारण कारक या क्रिया को विशेष लावण्य प्राप्त होता है वहाँ पर विशेषणवक्रता होती है। कुन्तक का कथन है—

विशेषणस्य माहात्म्यात् क्रियाया: कारकस्य वा ।
यत्रोल्लसति लावण्यं सा विशेषणवक्रता ॥2, 15॥

इस विशेषणवक्रता के उदाहरण निम्नांकित हैं—

भेंट हैं तुमको सखे ये अश्रुगीले गीत ।

❑ ❑ ❑

यह आतुर सरिता जा रही समुद्र से मिलने ।
इठलाती बल खाती उमड़ती मुड़ती हुई ।
रास्ते की रुकावटों से लड़ती हुई ।

बाधाओं को बहाती औ अकड़ती हुई ।
कोई इसे लौटा ले तो हम जानें ॥

(5) संवृतिवक्रता— जहाँ पर वैचित्र्य कथन के उद्देश्य से सर्वनामादि के कथन द्वारा वस्तु का गोपन किया जाता है, वहाँ संवृतिवक्रता होती है।

संवृति का अर्थ होता है— छिपाना या गोपन। उदाहरण—

अनियारे दीरघ नयन, किती न तरुनि समान ।
वह चितवनि औरै कछू, जेहि बस होत सुजान ॥

❑ ❑ ❑

भयो अपत कै कोपजुत, कै बौरो यहि काल ।
मालिनि आज कहै न क्यों, वा रसाल को हाल ॥

(6) प्रत्ययवक्रता— जहाँ पर प्रत्यय के द्वारा प्रस्तुत में कोई विशेष औचित्य-सम्बन्धी चमत्कार उत्पन्न हो जाता है, वहाँ पर प्रत्ययवक्रता होती है—

गई-बहोर गरीब नेवाजू

में 'बहोर' का प्रत्यय रूप प्रयोग चमत्कारपूर्ण है।

❑ ❑ ❑

खुल गये चींटियों के पपड़े वाले द्वार
चीनी के दाने छिटका चल दिये उधर मानव उदार!
तीतर वाले ने खोल तीले पिंजड़े के
हो रही किसी की क्षुधा शान्त !
चारागाह भी सोच न पाया क्या हयात? क्या मर्ज।

❑ ❑ ❑

सोने के हंसों सी धूप यह नवम्बर की
उस आँगन में भी उतरी होगी
सीपी के ढालों पर केसर की लहरी सी
गोरे कन्धों पर फिसली होगी बिना आहट
गदराहट बन बन ढली होगी अंगों में।

अन्तिम छन्द में विशेषणवक्रता, संवृत्तिवक्रता और प्रत्ययवक्रता के उदाहरण क्रमशः 'सोने के हंसों सी', 'उस', 'गदराहट' में मिलती है।

(7) वृत्तिवक्रता— यहाँ पर वृत्ति का तात्पर्य समास, तद्धित, सुब् धातु आदि व्याकरण की वृत्तियों से है, उपनागरिका आदि वृत्तियों से नहीं। जहाँ पर वृत्तियों में और मुख्यतः अव्ययीभाव में रमणीयता हो, वहाँ पर वृत्तिवक्रता होती है। इसमें समास, तद्धित या कृदन्त के चमत्कारी प्रयोग सम्मिलित रहते हैं। उदाहरण—

सुखराँक, डफोरना, सरीकता।

(8) भाववैचित्र्यवक्रता— भाव को क्रियाव्यापार के रूप में ग्रहण किया गया है। जहाँ पर क्रिया साध्यरूपा न होकर सिद्धरूप में प्रयुक्त हो वहाँ पर भाववैचित्र्यवक्रता मानी गयी है। यह वास्तव में क्रिया के 'क्त' प्रत्ययान्त रूप के चमत्कारी प्रयोग से सम्बन्ध रखती है, जैसे—

चलित स्नान हित शोभा-वलयित
गीत-सदृश चित प्रिय-छवि निर्मित,
क्षालित शत-तरंग-तनु-पालित
अवगाहित प्रकटित द्युति निर्मल।

इसमें क्रियापद साध्यरूप न होकर सिद्धरूप में प्रयुक्त हुए हैं।

(9) लिंगवैचित्र्यवक्रता— जहाँ पर लिंग-सम्बन्धी प्रयोगों में चमत्कार दिखलाई पड़े और उनमें औचित्य भी हो, वहाँ पर लिंगवैचित्र्यवक्रता होती है, जैसे—

सिखा दो ना हे मधुपकुमारि ।
मुझे भी अपने मीठे गान ।

❑ ❑ ❑

तुम रूपराशि हो दीपशिखा ।
तुम शशि सुन्दर तुम कमल कली ।
तुम हो गुलाब का फूल हमारे उर उपवन में रहो खिली।

यहाँ पर दीपशिक्षा के लिए पुल्लिंग और स्त्रीलिंग दोनों ही प्रकार के उपमानों का प्रयोग चमत्कारपूर्ण है।

(10) क्रियावक्रता— क्रिया के प्रयोग में जहाँ पर चमत्कार हो वहाँ पर क्रियावक्रता होती है। यह वक्रता धातुरूप के प्रयोगों पर आश्रित है, जैसे—

तिर रही अतृप्ति जलधि में नीलम की नाव निराली।

❑ ❑ ❑

उमड़ि हिये ते आयो प्रेम को प्रवाह ताते लाज गिरि परी जैसे
तरुवर तीर को।

❑ ❑ ❑

बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय ।
सौंह करै भौंहन हँसै, देन कहै नटि जाय ॥

पदपरार्धवक्रता

इसके अन्तर्गत, पद के परार्ध में प्रकट विशेषताओं का संकेत होता है। यह

वक्रोक्ति काल, कारक, संख्या, पुरुष, उपग्रह, प्रत्यय तथा पदवक्रता के रूप में अभिव्यक्त होती है।

(1) कालवैचित्र्यवक्रता— जहाँ पर औचित्य के अनुरूप काल के प्रयोग में चमत्कार आश्रित रहता है, वहाँ कालवैचित्र्यवक्रता होती है; जैसे—

जा थल कीन्हें बिहार अनेकन ता थल काँकरी बैठि चुन्यो करैं ।
जा रसना सों करीं बहु बातन ता रसना सों चरित्र गुन्यो करैं ।
आलम जौन से कुंजन में करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यो करैं ।
नैंनन में जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करैं ॥

(2) कारकवक्रता— जहाँ पर किसी विशेष अभिप्राय को प्रकट करने के लिए कारक में विपर्यय करके प्रयोग किया जाता है, वहाँ इस कारकविपर्यय प्रयोग में कारकवक्रता मानी गयी है; जैसे—

कोमल अंचल ने पोंछा मेरी गीली आँखों को ।
वायु उड़ा ले गई कहाँ रंगीन मृदुल पाँखों को ॥

यहाँ पर 'अंचल' और 'वायु' का कर्तृवाचक प्रयोग चमत्कारपूर्ण है।

(3) संख्यावक्रता— यह वचनवक्रता है। जहाँ पर एकवचन के स्थान पर बहुवचन या बहुवचन के स्थान पर एकवचन का प्रयोग किया जाय, वहाँ पर संख्यावक्रता होती है; जैसे—

अनगिन बसन्त की रंग गन्ध उठ आई ।
ऐसी मुसकान कि जैसे चाँदनियाँ छिटकीं ।
सरस द्रुमों को छूती मादक पुरवाई ।

यहाँ पर बसन्त का एकवचन और चाँदनियाँ का बहुवचन का प्रयोग चमत्कारपूर्ण है।

(4) पुरुषवक्रता— जहाँ पर पुरुषों में विपर्यय के द्वारा चमत्कार सम्पादित हो, वहाँ पर पुरुषवक्रता होती है; जैसे—

करके ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुसकाये ।
फूल उठे हैं कमल, अधर-से ये बन्धूक सुहाये ॥

अपने लिए उत्तम पुरुष का प्रयोग न करके 'इस जन' के रूप में अन्य-पुरुष का प्रयोग वक्रता उपस्थित करता है।

(5) उपग्रहवक्रता— वास्तव में आत्मनेपद और परस्मैपद धातुओं में से औचित्य के कारण किसी एक का प्रयोग करते हैं, वहाँ पर उपग्रहवक्रता है। यह संस्कृत धातुओं की विशेषता से ही सम्बन्ध रखता है, अतः हिन्दी में उदाहृत नहीं हो सकता।

(6) प्रत्ययवक्रता— छोटे-छोटे प्रत्ययों के प्रयोगों में जहाँ पर चमत्कार होता है,

वहाँ पर प्रत्ययवक्रता होती है; जैसे—

पिय सों कह्यो सँदेसड़ा, हे भौंरा हे काग।

(7) पदवक्रता— इसमें उपसर्ग और निपात (अवयवरहित अव्यय) के प्रयोग की वक्रता रहती है; जैसे—

एक दिवस अति मुदित उदधि के बीचि-बिचुम्बित तीरे ।
सुख की भाँति मिला प्राची से आकर धीरे-धीरे ॥

❑ ❑ ❑

प्रियनिराश्रिति की कठिन बाँहें नहीं ।
शिथिल पड़ती हैं प्रलोभन भार से ॥
अल्पता की संकुचित आँखें सदा ।
उमड़ती हैं अल्प भी अपनाव से ॥

❑ ❑ ❑

दीनता के ही विकम्पित पात्र में ।
दान बढ़कर छलकता है प्रीति से ॥

अन्तिम में दोनों ही प्रकार पदवक्रता के उदाहरण मिलते हैं।

वाक्यवक्रता

वाक्यवक्रता के अन्तर्गत उदार और सुन्दर वस्तु का सुन्दर और रमणीय वर्णन आता है। इसमें एक प्रकार का वर्णन तो स्वाभाविक होता है जिसे स्वभावोक्ति के रूप में कहा जाता है और दूसरा कवि की सहज और आहार्य (शिक्षाभ्यास से प्राप्त या व्युत्पत्तिजन्य) प्रतिभा द्वारा अलौकिक या विलक्षण वर्णन होता है।

यह वाक्यवक्रता मार्ग (रीति)-सम्बन्धी विशेषता (सुकुमार, मध्यम और विचित्र) से भिन्न है, गुण और अलंकार से भी यह पृथक् है। वर्ण्य वस्तुओं का स्वरूप दो प्रकार का होता है— 1. चेतन, 2. जड़। चेतन का वर्णन (जिसमें देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि का वर्णन होता है) उसके स्वभाव एवं विशेषताओं के अनुरूप और सुन्दर होना चाहिए। अचेतन या जड़ का वर्णन तथा अमुख्य (पशु-पक्षी आदि) चेतन का वर्णन रसों के उद्दीपक रूप में होना चाहिए।

कवि की अलौकिक प्रतिभा से उद्भूत जो वर्णन का विलक्षण चमत्कार है, वह अलंकार है। अलंकारों की व्याख्या कुन्तक ने अपने ढंग से दी है और अलंकारों के प्राय: वाच्य और प्रतीयमान दो भेदों के रूप में वर्णन किये हैं।

प्रकरणवक्रता

वक्रोक्ति के भीतर शब्द-प्रयोग और वाक्य-रचना की रमणीयता के अतिरिक्त

प्रकरण या प्रसंग के औचित्य और सुष्ठु रूप की विशेषता भी सम्मिलित है। प्रकरणवक्रता किसी प्रसंग के औचित्य को प्रभावशाली बनाने में है। इसके अनेक रूप हो सकते हैं। एक तो, प्रकरणवक्रता वहाँ होती है जहाँ पर कवि असीम उत्साह के साथ किसी प्रसंग को प्रकट करता है; यह उत्साह नायक की चारित्रिक दीप्ति या विशेषताओं के कारण होता है। रामचरितमानस का धनुर्भङ्ग इस सम्बन्ध का सुन्दर उदाहरण है।

दूसरे, प्रकरणवक्रता वहाँ देखी जाती है, जहाँ कवि अपनी रचना को ऊपर उठाने के उद्देश्य से अलौकिक रीति से कुछ नवीन कल्पना द्वारा प्रकरण की उद्भावना करता है। जैसे रामचरितमानस का पुष्पवाटिका-प्रसंग या 'साकेत' का वशिष्ठ द्वारा अयोध्या-वासियों को दिव्यदृष्टि प्रदान करने का प्रसंग।

तीसरे, जहाँ पर इतिहासोद्भूत कथा-प्रसंग में उलट-फेर या उनकी नवीन कल्पना की जाती है, वहाँ भी प्रकरणवक्रता होती है। उदाहरणार्थ, पद्मावत में राजा रतनसेन का अलाउद्दीन के हाथों मारे जाने के प्रसंग को हटाकर देवपाल के साथ युद्ध में मारे जाने का कथन।

चौथे, वहाँ भी प्रकरणवक्रता होती है, जहाँ पर प्रबन्ध के अनेक प्रकरण इस सौन्दर्य और कल्पना के साथ रखे जाते हैं कि एक-दूसरे के उपकारक-उपकार्य रूप में आते हैं। इस प्रकार की विशेषता नाटक में विशेष आवश्यक होती है।

पाँचवें, वहाँ भी प्रकरणवक्रता होती है, जहाँ पर किसी सामान्य या छोटे प्रसंग को कवि रसमय बनाने के उद्देश्य से, अधिक विस्तार के साथ वर्णन करता है, जैसे सूरसागर का भ्रमर-गीत प्रसंग।

छठे, जहाँ पर किसी प्रकरण के भीतर किसी विशेष प्रसंग की कल्पना की जाती है, वहाँ भी प्रकरणवक्रता होती है।

इसी प्रकार प्रकरण से सम्बन्धित अन्य अनेक वक्रताएँ हो सकती हैं।

प्रबन्धवक्रता

प्रबन्धवक्रता का सम्बन्ध पूरे प्रबन्ध से होता है। नाटक और प्रबन्धकाव्यों में ही यह वक्रता आ सकती है। यह वक्रोक्ति का एक व्यापक रूप है। यह प्रबन्धवक्रता अनेक रूपों में देखी जा सकती है। कुछ रूप यहाँ पर दिये जाते हैं।

(1) जहाँ इतिहास में प्राप्त वृत्तान्त और रस के स्थान पर कवि अधिक रमणीय कथानक एवं रस का निरूपण करता है और इस प्रकार के नवीन कथानक एवं रस के संयोजन से प्रबन्ध की शोभा और उससे प्राप्त आनन्द में वृद्धि होती है, जैसे वेणीसंहार, मेघनादवध, साकेत आदि।

(2) जहाँ पर कवि इतिहासप्रसिद्ध कथानक के एक अंश को ही, जो कि अधिक सरस होता है, चुनकर शेष कम रोचक अंश की उपेक्षा करता है, जैसे प्रियप्रवास, किरातार्जुनीय, वैदेही वनवास आदि।

(3) जहाँ प्रबन्ध का प्रारम्भ एक निश्चित उद्देश्य को लेकर होता है; परन्तु प्रबन्ध के पूरे विस्तार में नायक के व्यक्तित्व, बुद्धि-वैभव और चारित्र्य से अन्य अनेक फलों की सिद्धि सम्पन्न करता है, जैसे रामचरितमानस की प्रारम्भिक भूमिका।

(4) जहाँ पर किसी केन्द्रव्यापी विशिष्ट घटना के आधार पर नाम रखने से कोई चमत्कार सम्पन्न होता है, जैसे मुद्राराक्षस, वेणीसंहार, जयद्रथवध आदि।

(5) इसी प्रकार एक ही कथानक पर अनेक काव्य लिखे जाने पर भी यदि कोई कवि नवीन दृष्टिकोण से कथानक को प्रस्तुत करता है, वहाँ पर भी प्रबन्धवक्रता होती है।

उपर्युक्त परिचय से यह स्पष्ट हो जाता है कि वक्रोक्तिसिद्धान्त काव्य के भीतर आये हुए समस्त चमत्कार का निरूपण करता है। वर्ण-सम्बन्धी सूक्ष्म एवं बाह्य सौन्दर्य से लेकर प्रकरण और प्रबन्धवक्रता तक का विवेचन इस सिद्धान्त के क्षेत्र में है। इसके भीतर इस प्रकार, शैली की विशेषताएँ, गुण, रीति, अलंकार, ध्वनि, प्रबन्ध-संगठन, औचित्य और रस आदि का भी अंशतः समावेश हो जाता है। काव्य के चमत्कार के सूक्ष्म विश्लेषण के लिए यह वक्रोक्ति-सिद्धान्त एक सूक्ष्म, व्यापक और सर्वांगीण कसौटी का काम कर सकता है। पाश्चात्य विचारकों, जैसे अरिस्टाटिल, लांजीनस, एडिसन, क्रोचे आदि ने अपने सिद्धान्तों में वक्रोक्ति की विशेषताओं को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है; परन्तु इसका सिद्धान्तरूप में विवेचन करनेवाले कुन्तकाचार्य ही हैं।

(घ) ध्वनि-सिद्धान्त

रीति और वक्रोक्तिसिद्धान्तों की भाँति 'ध्वनि-सिद्धान्त' भी काव्य की आत्मा का अनुसंधान करनेवाला सिद्धान्त है। इसके अनुसार काव्य की आत्मा 'ध्वनि' है। ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनाचार्य ने कहा है—

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये ।
केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम् ॥1॥

जिस ध्वनि-सिद्धान्त को विद्वान् लोगों ने पहले स्वीकार किया; परन्तु आगे कुछ लोगों ने जिसकी आलोचना अभावत्व और अवर्णनीयत्व के कारण की, उसी ध्वनिसिद्धान्त का प्रतिपादन आनन्दवर्धनाचार्य ने किया। उनके स्पष्टीकरण के रहते हुए भी प्रतिहारेन्दुराज, धनंजय, धनिक, कुन्तक, भट्टनायक, महिमभट्ट, क्षेमेन्द्र आदि ने ध्वनिसिद्धान्त का विरोध किया। परन्तु, अभिनवगुप्तपादाचार्य की ध्वन्यालोकलोचन की व्याख्या और आचार्य मम्मट की काव्य-प्रकाश में स्थापना के उपरान्त ध्वनि-सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण और श्रेष्ठ काव्य-सिद्धान्त के रूप में स्वीकृत हुआ। इसके अनुसार ध्वनिकाव्य सर्वोत्तम काव्य है। गुणीभूत व्यंग्य मध्यम काव्य है तथा व्यंग्यहीन काव्य अवर या अश्रेष्ठ काव्य है।

ध्वनि-सिद्धान्त की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसने अपने क्रोड़ में काव्य से सम्बन्ध रखनेवाले समस्त सिद्धान्तों का तत्त्व समेट लिया। व्याकरण का स्फोटवाद इसके मूल में है। असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के रूप में रसध्वनि का एक भेद है। अलंकारध्वनि, वस्तुध्वनि आदि के अन्तर्गत अलंकार, वक्रोक्ति आदि की मूल बातें आ जाती हैं। इस प्रकार यह एक बड़े व्यापक काव्यसिद्धान्त के रूप में ग्रहण किया गया। ध्वनि की प्रेरणा वैयाकरणों के स्फोटवाद से मिली। पूर्ववर्ती वर्णों के उच्चारण के संस्कार के साथ अन्तिम वर्ण के उच्चारण के अनुभव से अर्थ की अभिव्यक्ति 'स्फोट' है (पूर्व पूर्व वर्णानुभवाहित-संस्कारसचिवेन अन्त्यवर्णानुभवेन अभिव्यंजते स्फोट:)। किसी भी शब्द के वर्णों के उच्चारण में पहला, दूसरा या तीसरा कोई एक वर्ण इष्टार्थ का द्योतक नहीं है। 'घटक' में घ, ट या क के अलग-अलग उच्चारण से अर्थ का संकेत करने की शक्ति किसी एक वर्ण में नहीं है। परन्तु घ और ट के उच्चारण से प्राप्त पूर्वानुभव के संस्कार के साथ अन्तिम वर्ण के उच्चारणानुभव के मिल जाने से अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार अन्तिम वर्ण के साथ पूर्वोच्चरित वर्णों के संस्कार से अर्थ का प्रस्फुटन ही स्फोट है।

जिस प्रकार शब्द से अलग-अलग वर्णों के उच्चारण से अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं होती, उसी प्रकार अभिधा या लक्षणा के द्वारा भी सम्पूर्ण अर्थ और विशेष रूप से मार्मिक अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं होती। यह मार्मिक अर्थ व्यंजना के द्वारा प्राप्त होता है। अभिधा और लक्षणा के उपरान्त व्यंजना से ध्वनित होनेवाला चमत्कारिक अर्थ ही ध्वनि है। यह ध्वनि ध्वन्यालोककार ने अनुरणन के रूप में मानी है। जिस प्रकार घण्टे पर आघात करने से पहले टंकार और फिर मधुर झंकार एक के बाद एक अधिक मधुर निकलती है, उसी प्रकार व्यंग्यार्थ भी ध्वनित होती है।[1] इस प्रकार ध्वनित होनेवाला व्यंग्यार्थ जहाँ पर प्रधान होता है, वहाँ ध्वनि मानी गयी। आनन्दवर्धन ने लिखा है—

यत्रार्थ: शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यंक्त: काव्यविशेष: स ध्वनिरिति सूरिभि: कथित:॥ 1-13॥

ध्वनिकाव्य वह विशिष्ट प्रकार का काव्य है जिसमें शब्द और अर्थ अपने स्वरूप को छिपाये हुए उस अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं जो काव्य का परम रहस्य है। अत: यह विशिष्ट प्रकार उत्तम काव्य है। आचार्य मम्मट ने स्पष्ट लिखा है कि—

इदमुत्तममतिशायिनि व्यंग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधै: कथित: ॥1-4॥

वाच्यार्थ से अधिक उत्कृष्ट व्यंग्य ही विद्वानों के द्वारा ध्वनि कही गयी है। साहित्यदर्पणकार का भी मत है कि—

वाच्यातिशायिनि व्यंग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम् ॥4-1॥

इस प्रकार वाच्यार्थ से अधिक चमत्कार व्यंग्यार्थ ध्वनिकाव्य है।

---

1. एवं घण्टानादस्थानीय: अनुरणनात्त्योपलक्षित: व्यंग्योऽप्यर्थ: ध्वनिरिति व्यवहृत:॥

—*ध्वन्यालोक-लोचन*

ध्वनिकाव्य का सम्बन्ध वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ आदि से है, अत: ध्वनि के स्वरूप को समझने के लिए 'शब्दशक्ति' का विश्लेषण यहाँ पर आवश्यक है।

शब्दशक्ति

शब्द, पद और वाक्य— महाभाष्य का कथन है कि "प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते।" अर्थात् संसार में पदार्थ की प्रतीति करानेवाली ध्वनि को शब्द कहते हैं। मोटे तौर पर शब्द का अर्थ ध्वनि, वाक्य, पद, कथन आदि भी होता है। कवि-पुंगव चिंतामणि का विचार है—

'जो सुनि परे सो शब्द है, समुझि परे सो अर्थ।' जो सुन पड़े वह शब्द है और उससे जो समझ में आवे वह अर्थ है। शब्द, सार्थक भी होते हैं और निरर्थक भी। परन्तु काव्य के भीतर कोई भी शब्द निरर्थक नहीं। शब्द या शब्दसमूह जब प्रयोग के उपयुक्त होता है या प्रयोग की योग्यता प्राप्त करता है तब वह पद कहलाता है। अत: पद, प्रयोगार्ह सार्थक शब्द या शब्दसमूह होता है। प्राय: शब्द और पद समान अर्थों में भी प्रयुक्त होता है, परन्तु प्रयोग में आया सार्थक शब्द ही पद है। वाक्य वह पद-समूह है जो पूर्ण अर्थ को प्रकाशित करता है।

शब्दशक्ति— शब्द की शक्ति असीम है। शब्द, उच्चारण के साथ ही हमारे मन, कल्पना और अनुभूति पर प्रभाव डालता है। अचार या चटनी का नाम लेते ही मुँह में पानी भर आता है। भूत या साँप शब्द का उच्चारण करते ही मन में भय का संचार होता है। यह प्रभाव अर्थगत है। अत: जिस शक्ति के द्वारा शब्द का यह अर्थगत प्रभाव पड़ता है, वही **शब्दशक्ति** कहलाती है। शब्द का अर्थ-बोध करानेवाली शक्ति ही शब्दशक्ति है। यह एक प्रकार का शब्द और अर्थ का सम्बन्ध है, शब्द का अर्थगत व्यापार है। इस शक्ति का भारतीय काव्यशास्त्र में बड़ा वैज्ञानिक विवेचन किया गया है। शब्दशक्तियाँ तीन हैं— अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। इनके सम्बन्ध से तीन प्रकार के शब्द होते हैं— वाचक, लक्षक और व्यंजक तथा तीन प्रकार के अर्थ होते हैं— वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ। यहाँ हम इन शक्तियों पर विचार करेंगे।

अभिधा

अभिधा— वह शब्दशक्ति या शब्द का व्यापार है जिसमें साक्षात् संकेतित या मुख्य अर्थ का बोध होता है। मुख्य या प्रथम अर्थ का बोध कराने के कारण इस अभिधा शक्ति को मुख्या या अग्रिमा भी कहते हैं। जिस शब्द से मुख्य अर्थ का बोध होता है, वह **वाचक** कहलाता है तथा उससे निकलनेवाला मुख्य अर्थ **वाच्यार्थ** होता है।

अभिधा शक्ति द्वारा जिन शब्दों की अर्थव्यक्ति होती है, वे तीन प्रकार के माने गये हैं— 1. रूढ़, 2. यौगिक, 3. योगरूढ़।

रूढ़— रूढ़ शब्द वे हैं जिनकी कोई व्युत्पत्ति न हो सके; जैसे— गढ़, घर, तरु, चन्द्र, घोड़ा, पशु आदि।

यौगिक— वे शब्द हैं जिनकी व्युत्पत्ति हो सकती है अर्थात् जो प्रकृति और प्रत्यय के योग से बनते हैं। उनमें अवयवार्थ सहित समुदायार्थ का बोध होता है; जैसे—

तरुजीवी, पशुतुल्य, पाचक, नरपति, घटक।

योगरूढ़— वे शब्द हैं जो यौगिक होते हैं फिर भी उनका अर्थ रूढ़ होता है। अर्थात् प्रकृति और प्रत्यय का अलग-अलग अर्थ तो निकलता है, पर उससे शब्द का वास्तविक अर्थ न निकलकर एक विशिष्ट अर्थ निकलता है; जैसे—

पंकज, पशुपति, चन्द्रमौलि, पयोद, चक्रधर आदि।

वाचक शब्द से जो संकेतित अर्थ निकलता है, वह भी चार प्रकार का माना जाता है (जैसा कि वैयाकरणों का मत है)— जातिरूप अर्थ, गुणरूप अर्थ, क्रियारूप अर्थ और यदृच्छारूप अर्थ। परन्तु मीमांसक केवल जातिरूप अर्थ ही मानते हैं। **जातिवाचक शब्द** जाति के द्योतक होते हैं, जैसे गाय, पक्षी, वृक्ष आदि। **गुणवाचक शब्द** गुण का बोध कराते हैं, जैसे सौरभ, माधुर्य आदि। **क्रियावाचक शब्द** क्रिया का बोध कराते हैं और धातु या धञ् प्रत्ययादि के निबन्धन से सम्बन्ध रखते हैं। **यदृच्छा-शब्द** संज्ञा-शब्द हैं जो द्रव्य या व्यक्ति का बोध कराते हैं, जाति या गुण का नहीं। उपर्युक्त शब्द अपने साक्षात् संकेतित अर्थबोध कराने में वाचक शब्द हैं और अभिधा शक्ति यहाँ पर काम करती है।

भट्टनायक आदि अभिधा को विशेष महत्त्व देते हैं। उनकी दृष्टि से रस की अनुभूति कराने में अभिधा शक्ति ही प्रधान है। उसके द्वारा ही अर्थबोध होता है और उसके बाद भावकत्व के द्वारा साधारणीकरण और भोजकत्व के द्वारा रसास्वादन होता है। अत: अभिधा ही मुख्य शक्ति है। हिन्दी के प्रसिद्ध आचार्य कवि देव का भी कथन है—

अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षणालीन।
अधम व्यंजना रस विरस, उलटी कहत नवीन॥

उनके मत से प्राचीनों के मत के अनुसार उत्तम काव्य अभिधा में रहता है। इससे ही रस की निष्पत्ति होती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत था कि अभिधा तथा वाच्यार्थ का महत्त्व है। असमर्थ, वाच्यार्थ, उसमें लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ निहित होने पर, अधिक प्रभावकारक होता है; उससे निकलनेवाला व्यंग्यार्थ उतना चमत्कारपूर्ण नहीं होता। वास्तव में व्यंग्यार्थ या लक्ष्यार्थ के कारण चमत्कार आता है; परन्तु वह चमत्कार होता है वाच्यार्थ में ही। अत: इस वाच्यार्थ को देनेवाली अभिधा शक्ति का अपना महत्त्व है। अभिधा के द्वारा अर्थ निश्चित रहता है; फिर भी उसमें कल्पना आदि का चमत्कार रहता है, जैसे—

सोहत ओढ़े पीत पट, स्याम सलोने गात।
मनौ नीलमनि सैल पर, आतप प-यो प्रभात॥

लक्षणा

मुख्यार्थ या वाच्यार्थ में बाधा या व्याघात होने पर रूढ़ि या प्रयोजन के सहारे,

उससे सम्बन्धित, जहाँ पर अन्य अर्थ लक्षित होता है, वहाँ पर लक्षणा शक्ति काम करती है।

इस प्रकार लक्षणा से सम्बन्धित तीन बातें हैं— (1) मुख्यार्थ या वाच्यार्थ की बाधा, (2) रूढ़ि या प्रयोजन और (3) उससे सम्बन्धित अन्य अर्थ। इन्हीं तीनों के आधार पर लक्षणा के भेदों का विस्तार हुआ है। मुख्यार्थ की बाधा का भाव यह है कि वाच्यार्थ का प्रत्यक्ष विरोध हो और जो वक्ता कहना चाहता है उसके समझने में अड़चन हो। फिर भी प्रयोग के प्रचलन से अर्थात् रूढ़ि से अथवा किसी विशेष उद्देश्य की सिद्धि अर्थात् प्रयोजन से कोई अन्य अर्थ ऐसा निकले जो वाच्यार्थ से सम्बन्ध रखता हो। उदाहरण के लिए ''मेरा कुत्ता शेर का चाचा है।'' यहाँ पर मुख्यार्थ बाधित है। कुत्ता शेर का चाचा कैसे हो सकता है? फिर भी प्रयोजन के सहारे यह अर्थ निकला कि आवाज में और भयंकरता में शेर से बढ़कर है। इसी उद्देश्य के कारण ही इस वाक्य का अर्थ निकल पाया, नहीं तो फिर अर्थ न निकलता। इसी प्रकार 'वह पूरा ऊँट है।' उस मनुष्य में ऊँट होने की बाधा है; परन्तु उसके लम्बे होने के कारण रूढ़ि के द्वारा ऊँट कहा जाता है। ऊँट के लम्बा होने के कारण लम्बे व्यक्ति को ऊँट कहा जाता है।

लक्षणा के भेद

रूढ़ि और प्रयोजन के आधार पर लक्षणा के दो भेद होते हैं— (1) रूढ़ि, रूढ़िमती, रूढ़िमूला, (2) प्रयोजनवती, प्रयोजनमूला, स्वारसिका, फललक्षणा।

रूढ़ि लक्षणा— मुख्यार्थ को छोड़कर जहाँ पर रूढ़ि या प्रचलन के कारण अन्य अर्थ ग्रहण किया जाता है वहाँ रूढ़िमती लक्षणा होती है; जैसे—

''यह तैल शीतकाल में उपयोगी है।''

तैल का अर्थ वास्तव में होता है तिल से निकला हुआ। पर यहाँ पर सरसों के तैल से तात्पर्य है। तैल, जिसका तिल से ही सम्बन्धित अर्थ है, अन्य स्नेहों के लिये प्रयुक्त करना रूढ़िगत है। इसी प्रकार—

मुँह में ताला लगाओ।

मोहन सितार बजाने में कुशल है।

दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति ।
परति गाँठ दुरजन हिये, दई नई यह रीति ॥

❑ ❑ ❑

भाग जग्यो उमगो उर आली, उदै भयो है अनुराग हमारो ।

आदि में रूढ़ि लक्षणा के उदाहरण हैं।

रूढ़ि लक्षणा में लक्षणा की विशेषता नहीं रह जाती। मुख्य अर्थ की यद्यपि बाधा होती है, परन्तु प्रचलन और प्रयोग-प्रवाह के कारण लक्ष्यार्थ इसी प्रकार निकल आता है,

जैसे कि यह मुख्यार्थ या वाच्यार्थ हो। अत: विद्वानों ने इसके भेदों का विस्तार नहीं किया। लक्षणा के भेदों को इसलिए हम प्रयोजनवती के प्रसंग में ही देखते हैं। इसके प्रमुख भेदों पर यहाँ विचार किया जाता है।

प्रयोजनवती लक्षणा के दो भेद हैं— (1) गौणी, (2) शुद्धा।

गौणी लक्षणा— जहाँ पर मुख्य अर्थ की बाधा होने पर सादृश्य सम्बन्ध के आधार पर अर्थात् समान रूप, गुण या धर्म के द्वारा अन्य अर्थ ग्रहण किया जाय, वहाँ पर गौणी लक्षणा होती है। इस लक्षणा में उपमा, रूपक जैसे सादृश्यमूलक अलंकारों की विशेषता आ जाती है। उदाहरण—

उदित उदय गिरि मंच पर, रघुबर बाल पतंग ।
विकसे संत सरोज सब, हरषे लोचन भृंग ॥

यहाँ पर मंच को उदयाचल, राम को सूर्य कहना वाच्यार्थ को बाधित करना है परन्तु रूप और गुण के सादृश्य से ही इस प्रकार से साम्य द्वारा अर्थ की संगति बैठती है। अत: यहाँ पर गौणी लक्षणा है, इसी प्रकार अन्य उदाहरण हैं—

पग पग मग अगमन परति, चरन अरुन दुति झूलि ।
ठौर ठौर लखियत उठे, दुपहरिया से फूलि ॥

❑ ❑ ❑

अरुण अधरों की पल्लव-प्रात,
मोतियों सा हिलता हिम हास
इन्द्रधनुषी पट से ढँक गात
बाल विद्युत का पावस-लास;
हृदय में खिल उठता तत्काल
अधखिले अंगों का मधुमास।

शुद्धा लक्षणा— जहाँ पर मुख्य अर्थ की बाधा होने पर सादृश्य के अतिरिक्त अन्य सम्बन्धों के द्वारा उसे ग्रहण किया जाय, वहाँ पर शुद्धा लक्षणा होती है। ये अन्य सम्बन्ध अनेक होते हैं, जैसे— सामीप्य, तात्कर्म्य, अंगांगि, आधाराधेय, कार्यकारण आदि, उदाहरण—

सामीप्य-सम्बन्ध— मेरे सिर पर क्यों बैठते हो?

पानी में घर बनाया है, तो सर्दी लगेगी ही ।

❑ ❑ ❑

आँचल में है दूध और आँखों में पानी ।

तात्कर्म्य-सम्बन्ध— वह मेरे लिये राजा है।

इस घर में नौकर मालिक है।

पितु सुरपुर सियराम लखन बन मुनि व्रत भरत गह्यो ।
हौं रहि घर-मसान पावक अब मरिबोई मृतक दह्यो ॥

अङ्गांगि-सम्बन्ध— राखी सजी पर कलाई नहीं है।

ये चरण मेरे लिए कल्याणकारी हैं।

आधाराधेय-सम्बन्ध— जंगल में मचान बोलते हैं।

सारा घर तमाशा देखने गया है।

कौसल्या के बचन सुनि, भरत सहित रनिवास ।
व्याकुल बिलखत राजगृह, मानहुं सोक निवास ॥

कार्यकारण-सम्बन्ध— सम्पत्ति ही सुख है।

घृत ही बल है।

सत्संगति ही मोक्ष है।

सारोपा-साध्यवसाना लक्षणा

आरोप—एक वस्तु का दूसरी वस्तु में भेद-ज्ञापन आरोप कहलाता है। जिस वस्तु का आरोप किया जाता है, वह विषयी या आरोप्यमाण कहलाती है और जिस वस्तु पर आरोप किया जाता है वह विषय या आरोप-विषय है। मुखचन्द्र में मुख पर चन्द्रमा का आरोप है; अतः चन्द्र आरोप्यमाण या विषयी है और मुख है आरोप-विषय।

आरोप की स्थिति दो प्रकार की है। एक तो वह जिसमें आरोप्यमाण और आरोप-विषय दोनों ही कथित होते हैं और दूसरी वह जिसमें केवल आरोप्यमाण का ही कथन होता है, आरोप-विषय का नहीं। आरोप-विषय लुप्त रहता है। प्रथम स्थिति **सारोपा** है जिसमें दोनों ही का स्पष्ट कथन रहता है और द्वितीय स्थिति **साध्यवसाना** है जिसमें एक लुप्त रहता है। अलंकार के विचार से ये दोनों स्थितियाँ **रूपक और रूपकातिशयोक्ति** अलंकारों की हैं। सारोपा-साध्यवसाना भेद, गौणी और शुद्धा, दोनों ही लक्षणाओं के होते हैं।

सारोपा गौणी लक्षणा— मुख्यार्थ के बाधित होने पर सादृश्य सम्बन्ध के आधार पर, आरोप और आरोप्यमाण दोनों ही के कथन द्वारा जहाँ पर अन्यार्थ की प्रतीति होती है, **सारोपा गौणी लक्षणा** होती है। जैसे—

तेरा मुख सहास अरुणोदय
परछाईं रजनी विषादमय
यह जागृति वह नींद स्वप्नमय
खेल खेल थक थक सोने दो
मैं समझूँगी सृष्टि प्रलय क्या!

माखन सों मन दूध सो यौवन, है दधि ते अधिकी उर ईठी ।
जा छबि आगे छपाकर छाछ, समेत सुधा बसुधा सब सीठी ।

नैनन नेह चुवै कवि 'देव' बुझावत बैन बियोग अँगीठी ।
ऐसी रसीली अहीरी अहै कहौ क्यों न लगै मनमोहनै मीठी ॥

❑ ❑ ❑

मंगल बिन्दु सुरंग, मुख ससि केसर आड़ गुरु ।
इक नारी लहि संग, रसमय किय लोचन जगत ॥

साध्यवसाना गौणी लक्षणा— मुख्यार्थ की बाधा होने पर, जहाँ सादृश्य सम्बन्ध के आधार से आरोप्यमाण के द्वारा अन्यार्थ की प्रतीति होती है, वहाँ पर **साध्यवसाना गौणी लक्षणा** मानी जाती है। जैसे—

हिलते द्रुमदल कल किसलय देती गलबाँही डाली ।
फूलों का चुंबन छिड़ती मधुपों की तान निराली ॥

❑ ❑ ❑

बैरिन कहा बिछावती, फिरि फिरि सेज कृसान ।
सुनो न मेरे प्राणधन, चहत आज कहुँ जान ॥

सारोपा शुद्धा लक्षणा— जहाँ पर मुख्यार्थ की बाधा होने पर सादृश्य को छोड़कर अन्य सम्बन्धों के सहारे आरोप और आरोप्यमाण दोनों के स्पष्ट कथन के द्वारा अन्य अर्थ की प्रतीति होती है; जैसे—

अनियारे दीरघ नयनि, किती न तरुनि समान ।
वह चितवनि औरै कछू, चेहि बस होत सुजान ॥

यहाँ पर सामान्य विशेष सम्बन्ध होने से शुद्धा, चितवन में और कुछ होने का आरोप है और दोनों का कथन है। अत: सारोपा लक्षणा है।

नागर नगर अपार महामोह तम मित्र से।
तृष्णालता कुठार, लोभ समुद्र अगस्त्य से॥

यहाँ पर तात्कर्म्य सम्बन्ध होने से शुद्धा लक्षणा है।

साध्यवसाना शुद्धा लक्षणा— मुख्यार्थ की बाधा होने पर, जहाँ सादृश्य को छोड़कर अन्य आधारों पर, केवल आरोप्यमाण के कथन द्वारा अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, वहाँ पर **साध्यवसाना शुद्धा लक्षणा** मानी जाती है; जैसे—

पेट में आग लगी है।

यहाँ पर भूख-रूपी आग में केवल आग आरोप्यमाण का कथन है और तात्कर्म्य सम्बन्ध है।

चाहे जितना अर्घ्य चढ़ाओ, पत्थर पिघल नहीं सकता ।
चाहे जितना दूध पिलाओ, अहि-विष निकल नहीं सकता ॥ (*स्वरचित*)

यहाँ पर दुःखपूर्ण आँसूरूपी अर्घ्य में केवल अर्घ्य का कठोर हृदयरूपी पत्थर में केवल पत्थर का; सज्जनता के व्यवहाररूपी दूध में केवल दूध का और दुष्टता या अत्याचाररूपी अहि में केवल अहि के कथन से अध्यवसान है। यह आरोप सादृश्य सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य सम्बन्धों, जैसे— तात्कर्म्य सामान्य-विशेष के होने से साध्यवसाना शुद्धा लक्षणा है।

गौणी लक्षणा के सारोपा-साध्यवसाना ही भेद माने गये हैं; क्योंकि सादृश्य सम्बन्ध के साथ मुख्यार्थ नितान्त छूट नहीं सकता। परन्तु शुद्धा के दो भेद हैं—उपादान और लक्षण।

उपादान लक्षणा (अजहत्स्वार्था)— जहाँ मुख्यार्थ की बाधा होने पर और वाक्यार्थ की संगति के लिए अन्य अर्थ लक्षित होने पर भी अपना निजी अर्थ न छूटे, वहाँ पर उपादान लक्षणा होती है; जैसे—

सारा घर तमाशा देखने गया है।

यहाँ पर घर का अर्थ आधाराधेय भाव से घर के लोग हैं अतः शुद्धा लक्षणा है; परन्तु घर का अपना निजी अर्थ छूटा नहीं, अतएव उपादान लक्षणा है।

'बिल्ली से दूध बचाना।' यहाँ पर बिल्ली में दूध पीनेवाले अन्य जीवों का भी भाव छिपा हुआ है। यदि कुत्ता पीना चाहे तो उससे भी रक्षा की जाती है, जो अर्थ तात्कर्म्य सम्बन्ध से हुआ। इस कारण शुद्धा लक्षणा है। इसी प्रकार—

मैं हूँ बहिन किन्तु भाई नहीं है। राखी सजी पर कलाई नहीं है।
यह घर अच्छा है। विवाह तै कर लो।

लक्षण लक्षणा (जहत्स्वार्था)— जहाँ पर मुख्यार्थ की बाधा होने पर वाक्यार्थ की सिद्धि के लिए प्रसंगानुकूल मुख्यार्थ का नितान्त त्याग कर, सादृश्य के अतिरिक्त अन्य सम्बन्धों के सहारे भिन्न अर्थ ग्रहण किया जाता है, वहाँ पर लक्षण लक्षणा होती है; जैसे—

क्या कहना है, आप पूरे पंडित हैं। यहाँ पर मूर्ख को पूरे पंडित कहना वाक्यार्थ का तिरस्कार है। सम्बन्ध है वैपरीत्य।

मोहि दीन्ह सुख सुजस सुराजू। कीन्ह कैकयी सबकर काजू।
एहि ते मोर काह अब नीका। तेहि पर देन चहहु तुम टीका ॥

❑ ❑ ❑

रोषे माषे लखन अकनि अनखौहीं बातें,
तुलसी बिनीत बानी बिहँसि ऐसी कही।
सुजस तिहारे भरे भुवननि भृगुनाथ,
प्रगट प्रताप आप कहौ सो सबै सही ॥

इन भेदों के अतिरिक्त शुद्धा लक्षणा के चार सम्मिश्रित भेद हो जाते हैं जो हैं— सारोपा शुद्धा उपादान लक्षणा, सारोपा शुद्धा लक्षण लक्षणा, साध्यवसाना शुद्धा उपादान लक्षणा और साध्यवसाना शुद्धा लक्षण लक्षणा। इनका विवरण हम आगे दे रहे हैं।

सारोपा शुद्धा उपादान लक्षणा— जहाँ मुख्यार्थ की बाधा होने पर सादृश्य को छोड़कर अन्य सम्बन्धों के आधार पर इस प्रकार आरोप हो कि आरोप-विषय और विषयी दोनों का स्पष्ट कथन हो, साथ ही शब्द का अपना मुख्यार्थ भी बना रहे, जैसे—'ये झंडे कहाँ जा रहे हैं'— यहाँ पर झंडा धारण करनेवाले पुरुषों पर झण्डे का आरोप है और दोनों का कथन है अतः आरोपा; धार्य-धारक भाव से अर्थ की अभिव्यक्ति होती है अतः शुद्धा तथा झण्डे में अपना वास्तविक या मुख्य अर्थ बना रहता है इस कारण सारोपा लक्षणा है। इसी प्रकार के उदाहरण हैं—

और भाँति कुंजन में गुंजरत भौंर भीर,
और भाँति बौरन के झौंरन के ह्वै गये ।

❑ ❑ ❑

और भाँति बिहग समाज में अवाज होति,
अबै ऋतुराज के न आज दिन द्वै गये ।
और रस और रीति और राग और रंग,
और तन और मन और बन ह्वै गये ॥

सारोपा शुद्धा लक्षण लक्षणा— इस लक्षणा में आवश्यक बातें ये हैं— मुख्यार्थ की बाधा और सादृश्य को छोड़कर अन्य सम्बन्धों से अर्थव्यक्ति; आरोप के विषय और आरोप्यमाण दोनों का कथन; मुख्य अर्थ का पूर्ण त्याग। उदाहरण—

आलस्य ही मनुष्य का महान शत्रु है। (आलस्यं ही मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः) यहाँ पर आलस्य पर शत्रुता का आरोप है और दोनों का कथन है, अतः सारोपा; शत्रु का मुख्य अर्थ पूर्ण बाधित है अतः विशेष अर्थ लिया गया हानि पहुँचानेवाला। लक्षण और सामान्य-विशेष सम्बन्ध से यह अर्थ ग्रहण किया गया है अतः शुद्धा लक्षणा है। इसी प्रकार के उदाहरण हैं—

आज भुजंगों से बैठे हैं, वे कंचन के घड़े दबाये ।
विनय हार कर कहती है, ये विषधर हटते नहीं हटाये ॥

'ये विषधर' में ये संकेत या प्रसंग से पूँजीपति के अर्थ में है। उस पर विषधर का आरोप है, दोनों कथित हैं अतः सारोपा; विषधर अपना अर्थ छोड़कर पूँजीपति का अर्थ देता है अतः लक्षण लक्षणा। काटना, दुःख देना, दोनों का कर्म है, इसलिए तात्कर्म्य सम्बन्ध से शुद्धा लक्षणा है। और उदाहरण—

तृष्णा साँपिनि काहि न खाया। को जग जाहि न व्यापी माया।

❑ ❑ ❑

अरे लोभ का घुन समाज को खा रहा,
और स्वार्थ की जोंक व्यक्ति को चूसती ।
यह चिन्ता का कीट जर्जरित कर रहा,
और रूढ़ि की चक्की उसको पीसती ॥ (*स्वरचित*)

साध्यवसाना शुद्धा उपादान लक्षणा— लक्षणा के इस भेद में ये बातें रहती हैं— मुख्यार्थ की बाधा और सादृश्य को छोड़कर अन्य सम्बन्ध से अर्थ का प्रकाशन; केवल आरोप्यमाण का कथन; शब्द का मुख्यार्थ न छोड़ना। उदाहरण—

''घटनास्थल पर लाल पगड़ी ही दिखाई पड़ती है।'' यहाँ पर सिपाही में लाल पगड़ी का आरोप है और केवल आरोप्यमाण का ही कथन है, अत: साध्यवसाना; धार्यधारक भाव होने से शुद्धा; लाल पगड़ी में मुख्य अर्थ बना रहता है, अत: उपादान लक्षणा है। अन्य उदाहरण हैं—

विद्युत की इस चकाचौंध में देख दीप की लौ रोती है ।
अरी हृदय को थाम महल के लिए झोपड़ी बलि होती है ॥

यहाँ पर 'महल' और 'झोपड़ी' में साध्यवसाना शुद्धा उपादान लक्षणा है।

साध्यवसाना शुद्धा लक्षण लक्षणा— लक्षणा के इस भेद में आवश्यक बातें ये हैं— मुख्यार्थ की बाधा और सादृश्य को छोड़कर अन्य सम्बन्धों से अर्थ का प्रकाशन; शब्द के मुख्यार्थ का पूर्ण त्याग तथा आरोप होने पर भी केवल आरोप्यमाण का कथन। उदाहरण—

रक्त पीकर लाल हैं खटमल छिपे आरामगाहों में ।
घृणा पर है भरी इनके लिए संसार की पीड़ित निगाहों में ।
लगाकर वैर की होली खड़े तो तापते हैं दूर से उनको ।
विदित हो यह, जला करते नहीं प्रह्लाद हैं अपवित्र ज्वाला में ॥ (*स्वरचित*)

यहाँ पर 'खटमल' में पूँजीपतियों का अध्यवसान है; तात्कर्म्य सम्बन्ध से शुद्धा लक्षणा और खटमल में पूँजीपति का अर्थ देने से मुख्यार्थ का पूर्ण त्याग है अत: लक्षण लक्षणा है। इसी प्रकार 'प्रह्लाद' में सत्य और अहिंसाप्रिय व्यक्ति या भारत का अध्यवसान है; तात्कर्म्य सम्बन्ध और मुख्यार्थ का पूर्ण त्याग होने से शुद्धा लक्षण लक्षणा है। लक्षणा के ये ही प्रधान भेद हैं।

व्यंजना

व्यंजना का शब्दार्थ है विशेष रूप से स्पष्ट करना, खोलना या विकसित करना। अभिधा और लक्षणा शक्तियों के अपना अर्थबोध कराने के बाद जिस शक्ति से अन्य अर्थ का बोध होता है, उसे व्यंजना कहते हैं। ऐसे शब्द को **व्यंजक** और अर्थ को **व्यंग्यार्थ** कहा जाता है।

इसका एक प्रसिद्ध उदाहरण है, 'गंगा में गाँव'। इसका अर्थ देने में अभिधा असमर्थ है; क्योंकि गंगा में गाँव नहीं हो सकता। लक्षणा से अर्थ निकला, गंगा के समीप गाँव, परन्तु इसके बाद भी इसका अर्थ 'पवित्र, शीतल गाँव' यह अर्थ व्यंजना शक्ति के द्वारा ही सम्भव है। एक उदाहरण है—

मीत तिहारे बदन पर, मूरखता दरसात ।
मम मुख दर्पन बिमल है, आज बिदित यह बात ॥

मुख-दर्पण में अभिधा असमर्थ है। सारोपा लक्षणा से यह अर्थ हुआ कि मेरे मुख में तुम्हारा मुख दीखता है। इसके बाद भी वांछित अर्थ नहीं निकला, जो व्यंजना द्वारा ही निकलता है; वह यह कि मूर्खता जो तुम्हें दिखाई देती है, वह तुम्हारी ही है जो मेरे दर्पण के समान मुख में प्रतिबिम्बित होती है; क्योंकि तुम सामने खड़े हो। वास्तव में मैं मूर्ख नहीं, तुम मूर्ख हो।

यहाँ पर एक बात और स्मरण रखने की यह है कि यह व्यंजना द्वारा प्रकट अर्थ अभिधाशक्ति से अनेकार्थी शब्दों द्वारा निकलनेवाले अर्थ से भिन्न है। अभिधाशक्ति से अनेकार्थी शब्दों में जिन व्यापारों से एक अर्थ का निश्चय होता है, वे निम्नांकित हैं—

संयोग— जैसे 'परसुराम मन बिस्मय भयेऊ'
शंख चक्रजुत हरि।

असंयोग— धूमहीन धनंजय; नग सूनो बिनु मुँदरी।
सोहत नाग न मद बिना, तान बिना नहिं राग॥

साहचर्य— बेनीमाधव, बेनी और माधव के अनेक अर्थों में भी दोनों के साहचर्य से तीर्थराज प्रयाग में स्थित विष्णु अर्थ हुआ।

विरोध— राहु ग्रस्यो द्विजराज।

प्रयोजन— भवखेद छेदने के लिए क्यों स्थाणु को भजते नहीं। स्थाणु के ठूँठ और शंकर दो अर्थों में प्रयोजन की सिद्धि शंकर से होती है, ठूँठ से नहीं।

प्रकरण— 'सैंधव लाओ।' यहाँ पर प्रसंग के अनुसार ही सैंधव का घोड़ा या नमक अर्थ होगा।

''वृक्ष जानिये दल झरे, दल साजे नृप जानि।''

लिङ्ग — व्याकरण चिह्नों से जैसे— 'बानी बैठो हाट' में बानी का अर्थ सरस्वती न होकर बनिया होगा।

काहे को सोचति सखी, काहे होत बिहाल ।
बुधि छल बल करि राखिहैं, तेरी पति नव बाल ॥

यहाँ पति का अर्थ मर्यादा है, स्वामी नहीं।

सामर्थ्य— 'व्याल वृक्ष तोरचो' में व्याल का अर्थ हाथी होगा, साँप नहीं।

औचित्य— 'तरु पर द्विज बैठो।' में द्विज का अर्थ ब्राह्मण न होकर पक्षी होगा।

देश— 'मरु में जीवन दूरि है।' यहाँ पर जीवन का अर्थ देश के कारण पानी होगा।

ज्यों बिहरत घनश्याम नभ, त्यों बिहरत ब्रज राम।

काल— 'कुबलय निसि फूल्यो' में कुबलय का अर्थ काल के कारण कोकाबेलि होगा, कमल नहीं।

अभिनय— 'इती देखियत देहरी, इते देखियत बार।' यहाँ बार का अर्थ संकेत से द्वार होगा, बाल नहीं।

उपर्युक्त प्रकार के व्यापारों से अनेकार्थी शब्दों में एक अर्थ का निश्चय हो जाता है। यह कार्य व्यंजना का नहीं है। यह अभिधा ही करती है। व्यंजना, इस प्रकार से एक अर्थ निश्चित हो जाने पर, फिर अन्य अर्थ का संकेत करती है।

अभिधा और लक्षणा का सम्बन्ध केवल शब्द से है, परन्तु व्यंजना का सम्बन्ध केवल शब्द से ही नहीं, वरन् अर्थ से भी है। अर्थ से भी अर्थ निकलता है। अतः व्यंजना शाब्दी और आर्थी— दोनों प्रकार की होती है। व्यंजना को समझने के लिए प्रतिभा की निर्मलता, चतुर व्यक्तियों का सत्संग तथा प्रसंगज्ञान आवश्यक है।

व्यंजना के भेद

शब्द और अर्थ दोनों ही का व्यापार व्यंजना में रहता है, इस कारण व्यंजना के दो रूप हैं— शाब्दी व्यंजना और आर्थी व्यंजना। शब्द और अर्थगत ये दो भेद कहने को हैं; क्योंकि आर्थी में भी शब्द है और शाब्दी में भी अर्थ है। और जब दोनों में शब्द अर्थ है, तो फिर शाब्दी और आर्थी भेद क्या महत्त्व रखते हैं? वास्तव में ये भेद सुविधा के कारण किये गये हैं। जहाँ पर शब्द की प्रधानता है अर्थात् जहाँ पर शब्दविशेष के कारण व्यंग्यार्थ निकलता है और उस शब्द के स्थान पर अन्य शब्द रखने से अर्थ न निकले वहाँ पर **शाब्दी व्यंजना** माननी चाहिए। परन्तु जहाँ पर कोई भी शब्द क्यों न हो, अर्थ में अन्तर नहीं पड़ता, वहाँ पर **आर्थी व्यंजना** मानी जाती है। शाब्दी व्यंजना के दो भेद हैं—(1) अभिधामूला शाब्दी व्यंजना, (2) लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना।

अभिधामूला शाब्दी व्यंजना— अभिधा शक्ति द्वारा अनेकार्थी शब्द में एक अर्थ निश्चित हो जाने पर जिस शक्ति के द्वारा अन्यार्थ का ज्ञान होता है, उसे **अभिधामूला शाब्दी व्यंजना** कहते हैं; जैसे—

चिर जीवौ जोरी जुरै, क्यों न सनेह गँभीर ।
को घटि ये **वृषभानुजा**, वे **हलधर के बीर** ॥

यहाँ पर वृषभानुजा और हलधर के बीर का अभिधा से राधा और कृष्ण अर्थ निश्चित हो जाता है, इसके बाद जो अर्थ निकलता है कि यह जोड़ी बिलकुल एक दूसरे के उपयुक्त है, यह शाब्दी व्यंजना का व्यापार है। इसमें जो हास्य-व्यंग्य है, वह भी इन्हीं शब्दों के कारण है।

लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना— जहाँ पर मुख्यार्थ की बाधा होने पर लक्षणा शक्ति से अन्य अर्थ निकलता है, परन्तु उसके बाद भी दूसरा अर्थ प्राप्त होता है, वहाँ पर **लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना** होती है; जैसे—

फली सकल मन कामना, लूट्यो अगनित चैन ।
आजु अँचै हरि रूप सखि, भये प्रफुल्लित नैन ॥

यहाँ पर फली, लूट्यो, अँचै में लक्षणा से अर्थ निकलता है, पूरे का व्यंग्यार्थ हुआ कि दर्शन से हमें बड़ा आनन्द मिला। इसी प्रकार—

भयो अपत कै कोपयुत, कै बौरो यहि काल ।
मालिन आजु कहै न क्यों, वा रसाल को हाल ॥

❑ . ❑ ❑

कूकती क्वैलिया कानन लौं नहिं जात सह्यो जिनकी सु अवाजैं ।
भूमि ते लैके अकाश लौं फूले पलास दवानल की छबि छाजैं ।
आयो वसन्त नहीं घर कन्त, लगी सब अन्त की होन इलाजैं ।
बैठि रही हमहूँ हिय हारि, कहाँ लगि **टारिये हाथन गाजैं** ॥

यहाँ पर 'हाथन गाजैं टारने' में विरह व्यथा के दूर करनेवाले उपचारों का साध्यवसान है। शुद्धा साध्यवसाना से लक्ष्यार्थ निकला, परन्तु व्यंग्यार्थ यह है कि वेदना अत्यधिक है जो प्रिय से भेंट के बिना दूर न होगी।

आर्थी व्यंजना

इस व्यंजना में अर्थ शब्द पर निर्भर नहीं होता अत: व्यंग्य आर्थ होता है, शाब्द नहीं।

जो शब्दशक्ति वक्ता, बोद्धव्य, वाक्य, अन्यसन्निधि, वाच्य, प्रकरण, देश, काल, काकु, चेष्टा आदि की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराती है, वह आर्थी व्यंजना कही जाती है। इन विशेषताओं में से कुछ उदाहरण यहाँ पर दिये जाते हैं।

वक्ता की विशेषता से, जैसे—

'सागर कूल मीन तड़पत है हुलसि होत जल पीन'— यह कथन सामान्यत: कोई महत्त्व नहीं रखता, परन्तु जब इस बात का पता चल जाता है कि इसको कहनेवाली गोपिकाएँ हैं, तब इसका यह अर्थ निकलता है कि हम कृष्ण के समीप होते हुए भी, मछली के समान तड़प रही हैं। कृष्ण के दर्शन से हमें वैसा ही आनन्द प्राप्त होगा, जैसा कि मछली को पानी में जाने से होता है। इसी प्रकार के उदाहरण हैं—

वाच्यार्थ से— पति देवता सुतीय महँ, मातु प्रथम तव रेख ।
महिमा अमित न कहि सकहिं, सहस सारदा सेष ॥

इसमें सीता के कहने के कारण व्यंग्यार्थ महत्त्वपूर्ण है।

जिहि निदाघ दुपहर रहै, भई माघ की राति।
तिहि उसीर की रावटी, खरी आवटी जाति॥

दूती कहनेवाली है, अत: इसका महत्त्वपूर्ण व्यंग्यार्थ निकलता है। यहाँ पर व्यंग्यार्थ किसी शब्द पर निर्भर न होने से आर्थी व्यंजना है।

लक्ष्यार्थ से— पावक झर तें मेह झर, दाहक दुसह बिसेषि ।
दहै देह वाके परस, याहि दृगन ही देखि ॥

यहाँ पर कहनेवाली नायिका है, अतः व्यंग्यार्थ यह है कि सुखदायक वस्तुएँ भी विरह की दशा में दुःखदायी हैं। वर्षा के देखने में जलने का वाच्यार्थ बाधित है, अतः लक्ष्यार्थ है कि जलने के समान दुःखदायी है।

बोद्धव्य की विशेषता से, जैसे—

नंद ब्रज लीजै ठोंकि बजाय।
देहु बिदा मिलि जाहिं मधुपुरी जहँ गोकुल के राय॥

नन्द से कही गयी बात होने के कारण इसका व्यंग्यार्थ हुआ कि तुम्हें ब्रज से बड़ा मोह है। यशोदा की झुँझलाहट भी व्यंग्य है।

काकु की विशेषता से, जैसे—

मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू। तुमहिं उचित तप मों कहँ भोगू ॥

हम लखिहैं मधु चन्द्रिका, सुनिहैं कल धुनि कान।
रहिहैं मेरे प्राण तन, प्रीतम करै प्रयान॥

देश-काल-चेष्टा आदि से, जैसे—

खरी दुपहरी हरी-भरी फरी कुंज मंजु,
गुंज अलि पुंजन की 'देव' हियो हरि जात ।
सीरे नदनीर तरु सीतल गहीर छाँह,
सौवैं परे पथिक पुकारैं पिकी करि जात ।
ताही में किसोरी भोरी कोरी कुँभिलाने मुख,
पंकज से पाँय धरा धीरज सों धरि जात ।
सौहैं घनस्याम मग हेरति हथेरी ओट,
ऊँचे धाम बाम चढ़ि आवति उतरि जात ॥

यहाँ पर काल से निर्जनता, देश से मिलनोपयुक्तता, वाच्य (सोये पड़े होने) से तथा प्रकरण से सन्नाटा, पुकारैं पिकी करि जात से यह कि साधारण शोर से किसी का ध्यान आकृष्ट नहीं होता तथा चेष्टा से उत्कंठा आदि व्यंग्य है। यहाँ पर इस पद में अनेक विशेषताओं द्वारा व्यंग्यार्थ प्रकट होता है, अतः आर्थी व्यंजना का सुन्दर उदाहरण है।

ध्वनि

व्यंजना की प्रधानता के आधार पर ध्वनिसिद्धान्त के अन्तर्गत काव्य के तीन भेद किये गये हैं— ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य और अवर। जिस काव्य में वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारपूर्ण व्यंग्यार्थ होता है, वह **ध्वनि-काव्य** है। यह उत्तम काव्य माना जाता है। जहाँ पर वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ गौण या कम चमत्कारक होता है, वह **गुणीभूत**

व्यंग्य काव्य होता है। यह मध्यम श्रेणी का काव्य माना जाता है। जहाँ पर व्यंग्यार्थ नहीं होता, वह काव्य **साधारण** या **अवर** माना जाता है। यह वर्गीकरण अधिकांश ध्वनिवादी आचार्यों को स्वीकार है; परन्तु पण्डितराज जगन्नाथ का मत भिन्न है। वे व्यंग्यार्थ के किसी प्रकार भी होने पर उसे उत्तम कोटि में ही रखते हैं। इस प्रकार उनके मतानुसार उत्तमोत्तम—ध्वनिकाव्य, उत्तम— गुणीभूत व्यंग्य, मध्यम— अन्य अर्थालंकार काव्य तथा अवर— शब्दालंकार चित्रकाव्य होता है। इस प्रकार ध्वनि व्यंग्यार्थ पर निर्भर है।

व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ पर आश्रित रहता है अत: ध्वनि भी अभिधा और लक्षणा पर आधारित है। ध्वनि के मुख्य दो भेद हैं— लक्षणामूला ध्वनि (अविवक्षित वाच्यध्वनि) और अभिधामूला ध्वनि (विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि)।

लक्षणामूला ध्वनि या अविवक्षित वाच्यध्वनि— अधिक चमत्कारक व्यंग्यार्थ में जहाँ पर वाच्यार्थ की विवक्षा या प्रयोजन नहीं रहता, वहाँ पर अविवक्षित वाच्यध्वनि होती है। यहाँ व्यंग्यार्थ लक्ष्यार्थ पर आश्रित रहता है, अत: यह लक्षणामूला ध्वनि कहलाती है। इसके दो भेद हैं— (1) अर्थान्तरसंक्रमित, (2) अत्यन्ततिरस्कृत।

अर्थान्तरसंक्रमित वाच्यध्वनि— जिस ध्वनि में वाच्यार्थ अपना पूर्ण तिरोभाव न करके अपना अर्थ रखते हुए भी अन्य अर्थ में संक्रमण करता है, वह अर्थान्तरसंक्रमित वाच्यध्वनि है; जैसे—

'यह घर अच्छा है', यहाँ पर घर का तात्पर्य केवल घर ही नहीं, कुल, समृद्धि, सम्पत्ति आदि सबसे है, जो उपादान लक्षणा से निकलता है। व्यंग्यार्थ हुआ कि सम्बन्ध करने लायक है। इसी प्रकार—

सीता हरन तात जनि, कहेउ पिता सन जाय।
जौ मैं राम तौ कुल सहित, कहिहि दसानन आय॥

यहाँ पर 'राम' शब्द का अर्थ शंकर का धनुष तोड़नेवाले, राक्षकों का नाश करनेवाले, अद्‌भुत पराक्रमी है; व्यंग्यार्थ हुआ कि रावण का नाश भी शीघ्र ही होगा। यह व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारपूर्ण होने से **अर्थान्तरसंक्रमित वाच्यध्वनि** है। इस ध्वनि में व्यंग्यार्थ उपादान लक्षणा पर आधारित है।

अत्यन्ततिरस्कृत वाच्यध्वनि— जिस ध्वनि में वाच्यार्थ का सर्वथा तिरस्कार या त्याग हो जाता है, वह **अत्यन्ततिरस्कृत वाच्यध्वनि** है। यह लक्षण लक्षणा पर आधारित है। उदाहरणार्थ—

अवसि हौं आयसु पाय रहौंगो।
जनमि कैकयी कोखि कृपानिधि! क्यों कछु चपरि कहौंगो॥
भरत भूप सिय राम लखन बन, सुनि सानंद सहौंगो।
पुर परिजन अवलोकि मातु सब, सुख सन्तोष लहौंगो॥

यहाँ पर भरत का सानन्द सहना और सुख-सन्तोष लहना, पूर्णतया बाधित है। व्यंग्यार्थ यह हुआ कि मुझे इन सभी कार्यों से बड़ा दु:ख होगा, फिर भी आपकी आज्ञा है

तो मैं इसे भी झेलूँगा। इसी प्रकार—

बाउ कृपा मूरति अनुकूला। बोलत बचन झरत जनु फूला ॥
जो पै कृपा जरै मुनि गाता। क्रोध भये तन राख बिधाता ॥
मातहिं पितुहिं उरनि भये नीके। गुरु रिन रहा सोच बड़ जीके ॥
सो जनु हमरे माथे काढ़ा। दिन चलि गये ब्याज बहु बाढ़ा ॥

❑ ❑ ❑

कौंहरु सी एड़ीन की, लाली देखि सुभाइ ।
पाइ महावर देन को, आपु भई बेपाइ ॥

उपर्युक्त पंक्तियों में बड़े अक्षरोंवाले पदों में अत्यन्ततिरस्कृत वाच्यध्वनि है।

अभिधामूला (विवक्षितान्यपरवाच्य) ध्वनि

जिस ध्वनि में वाच्यार्थ की विवक्षा हो अर्थात् वाच्यार्थ वांछनीय और प्रयोजनीय हो और वह अन्यपरक या व्यंग्यनिष्ठ हो, वह **विवक्षितान्यपरवाच्य** ध्वनि है। इस ध्वनि में व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ पर आश्रित रहता है। इस ध्वनि के दो भेद हैं— (1) संलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि, (2) असंलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि।

संलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि— वाच्यार्थ का स्पष्ट बोध होने पर जहाँ उसके बाद व्यंग्यार्थ के प्रकट होने का क्रम रहता है, वहाँ पर संलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि होती है। इसे **अनुरणन ध्वनि** भी कहा जाता है, क्योंकि जिस प्रकार घण्टे पर चोट करने से टंकार के बाद झंकार सूक्ष्म से सूक्ष्म स्पष्ट सुनाई पड़ती है, उसी प्रकार इस ध्वनि में वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ भी स्पष्ट होता है। उसके तीन प्रधान भेद माने जाते हैं—

(1) शब्दशक्ति-उद्भव अनुरणन ध्वनि।
(2) अर्थशक्ति-उद्भव अनुरणन ध्वनि।
(3) शब्दार्थोभयशक्ति-उद्भव अनुरणन ध्वनि।

1. शब्दशक्ति-उद्भव अनुरणन ध्वनि— जहाँ वाच्यार्थ के बाद व्यंग्यार्थ के बोध कराने की शक्ति किसी शब्द-विशेष में ही होती है, उसके अन्य पर्यायवाची शब्द में नहीं, वहाँ शब्दोद्भव अनुरणन ध्वनि मानी जाती है। यह अधिकांश समासोक्ति के रूप में होती है। उदाहरणार्थ—

चाहे फटा फटा हो मेरा अम्बर अशून्य है आली ।
आकर किसी अनिल ने यहाँ धूलि तो डाली ॥

यहाँ पर 'अम्बर' और 'अशून्य' दो शब्दों के कारण वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ निकलता है। हमारा फटा अम्बर (वस्त्र) अशून्य है, क्योंकि इस पर धूल है जो प्रिय के सन्देश के रूप में है। इसमें स्मृतियाँ सुरक्षित हैं। अतः हमें वह स्वच्छ वस्त्र नहीं चाहिए, जो बिलकुल शून्य हो। इस अर्थ में यह मेरा वस्त्र उस सुनसान (शून्य) अम्बर (आकाश) से

बढ़कर है, जो न फटा है और न धूलियुक्त है। ये अर्थ 'अम्बर' और 'अशून्य' पर्यायों से नहीं निकलते। यह पदगत अलंकार ध्वनि है, क्योंकि इन पदों से व्यतिरेक अलंकार व्यंग्य है।

शब्दोद्भव अनुरणन ध्वनि के चार भेद हैं— पदगत वस्तुध्वनि, वाक्यगत वस्तुध्वनि, पदगत अलंकारध्वनि, वाक्यगत अलंकारध्वनि। इस प्रकार—

जो पहाड़ को तोड़-फोड़कर राह बनाता ।
जीवन निर्मल वही, सदा जो आगे बढ़ता ॥

पहाड़ से निकलनेवाला जीवन (पानी) निर्मल होता है— यह वाच्यार्थ हुआ। जीवन शब्द के श्लिष्ट होने से यह व्यंग्यार्थ निकला कि वही मनुष्य पवित्र और गतिशील होता है, जो पहाड़ जैसी आपत्तियों को झेलकर आगे बढ़ता है। यहाँ वस्तु से वस्तुव्यंग्य है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण हैं।

2. अर्थशक्ति-उद्भव अनुरणन ध्वनि— जहाँ पर वाच्यार्थ निकलने पर फिर व्यंग्यार्थ का बोध होता है। इसके तीन भेद हैं— स्वतःसम्भवी, कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध, कविनिबद्धमान पात्रपौढ़ोक्तिसिद्ध। इनमें से प्रत्येक के चार भेद होते हैं— वस्तु से वस्तु, वस्तु से अलंकार, अलंकार से वस्तु, अलंकार से अलंकार। इसके बाद भी प्रत्येक के, पदगत, वाक्यगत, प्रबन्धगत— ये तीन भेद हैं। इनमें से कुछ के उदाहरण यहाँ पर दे रहे हैं—

(अ) कोटि मनोज लजावन हारे। सुमुखि! कहहु को अहहिं तुम्हारे ।
सुनि सनेह मय मंजुल बानी। सकुचि सीय मन मँह मुसुकानी ॥

यहाँ पर वाच्यार्थ यह है कि स्त्रियों के पूछने पर कि वे करोड़ों कामदेवों को लजानेवाले तुम्हारे कौन हैं, सीता संकोच में पड़ीं और मन में मुसुकाईं। संकोच और मुसुकाने से 'राम' का पति होना व्यंग्य है। अतः यहाँ पर वाक्यगत स्वतःसम्भवी वस्तु से वस्तुध्वनि है।

(आ) दमकत दरपन दरप दरि, दीप सिखा दुति देह ।
वह दृढ़ इक दिसि दिपति, यह मृदु दस दिसनि सनेह ॥

इसमें प्रथम पंक्ति के, दीप सिखा दुति देह— पद के उपमा अलंकार और इसके बाद इसके सहारे तीसरे-चौथे पद में व्यतिरेक अलंकार और प्रथम में प्रतीप अलंकार है। इन अलंकारों से सौन्दर्य व्यंग्य है। अतः यहाँ पर स्वतःसम्भवी, पदगत अलंकार से वस्तुध्वनि है।

(इ) सिय बियोग दुख केहि बिधि, कहौं बखानि ।
फूल बान से मनसिज, बेधत आनि ॥

'फूल बान' पद से कविप्रौढ़ोक्ति द्वारा विरह की दशा और प्रेम का आधिक्य व्यंग्य है। अतः यहाँ पर कविप्रौढ़ोक्ति द्वारा पदगत वस्तु से वस्तुध्वनि है।

यहाँ पर पूरे प्रबन्ध से यह ध्वनि है कि कृष्ण को प्रेम ऐसा रंग दिया कि वे फिर होली खेलने के लिए आने का नाम न लेंगे। यह स्वत:सम्भवी प्रबन्धगत वस्तु से वस्तुध्वनि है।

(ई) फागु की भीर अभीरन की गहि गोविन्द लै गई भीतर गोरी ।
भाई करी मन की पदमाकर ऊपर नाइ अबीर की झोरी ।
छोरि पितम्मर कम्मर सें सु बिदा दई मीड़ि कपोलन रोरी ।
नैन नचाय कही मुसुकाइ लला फिरि आइयो खेलन होरी ॥

(उ) धूम धुँआरे काजर कारे, हम ही मतवारे बादर ।
मदनराज के बीर बहादुर, पावस के उड़ते फणधर ।

यहाँ पर मदनराज के वीर और उड़ते फणधर ये दोनों कवि-कल्पित पात्र हैं। इनसे उद्दीपनगत काम-वेदना व्यंग्य है। अत: कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिसिद्ध, वस्तु से वस्तु व्यंग्यध्वनि है।

असंलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि या रसध्वनि— जहाँ पर वाच्यार्थ ग्रहण करने का क्रम लक्षित नहीं होता, हम यह अनुभव नहीं करते कि यह वाच्यार्थ है और उसके बाद यह व्यंग्यार्थ है, वहाँ यह ध्वनि होती है। इसमें वाच्यार्थ-व्यंग्यार्थ के आगे-पीछे का ज्ञान नहीं रहता। वाच्यार्थ के ग्रहण करते ही हम व्यंग्यार्थ से अभिभूत हो जाते हैं।

यों, कहने के लिए तो क्रम सर्वत्र रहता ही है, पर असंलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि में हम भाव या रस से आक्रान्त हो जाते हैं। नैयायिकों के 'शतपत्रभेदनन्याय' से इसे स्पष्ट किया जाता है। कमल की सौ पँखुड़ियों को हम एक साथ ही सूई से वेध सकते हैं और हम नहीं लक्षित कर पाते कि कब 60वीं और कब 75वीं पँखुड़ी विधी। इसी प्रकार इस ध्वनि की विशेषता मानी गयी है।

भाव-भेद से असंलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि आठ प्रकार की मानी गयी है— रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावशान्ति और भावशबलता।

रसध्वनि— जहाँ वर्णन से रस व्यंग्य हो, वहाँ पर रसध्वनि होती है, जैसे—

पलँग पीठ तजि गोद हिंडोरा। सिय न दीन पग अबनि कठोरा ॥
जिवन मूरि जिमि जोगवत रहेऊँ। दीप बाति नहिं टारन कहेऊँ ॥
सो बन बसिहि तात केहि भाँती। चित्र लिखित कपि देखि डेराती ॥
सो सिय भवन रहै कह अंबा। मो कहँ होय बहुत अवलम्बा ॥

यहाँ पर वाच्यार्थ के साथ ही व्यंग्यार्थ रूप रस का प्रभाव प्रकट है। आलम्बन सीता है। उद्दीपन उनकी सुकुमारता, स्निग्धता, भीरुता, अल्पवयस्कता आदि हैं। स्थायी, प्रिय के अनिष्ट के कारण 'शोक' है। संचारी चिन्ता, मोह, स्मरण, तर्क, दैन्य आदि हैं। अनुभाव आशंका, दैवनिन्दा, कथन आदि हैं। इस प्रकार 'करुण' रस की अभिव्यक्ति यहाँ है।

भावध्वनि— जहाँ पर अपुष्ट स्थायी अथवा प्रमुखता से प्रकट संचारी भाव का प्रकाशन होता है, वहाँ भावध्वनि है; जैसे—

कर कुठार मैं अकरुन कोही। आगे अपराधी गुरु द्रोही ॥
उतर देत छाँड़ौं बिनु मारे। केवल कौसिक सील तुम्हारे ॥
नतु यहि काटि कुठार कठोरे। गुरुहिं उरिन होतेउँ श्रम थोरे ॥

यहाँ पर आलंबन, अनुभाव, संचारी आदि के होते हुए भी विश्वामित्र के शील के कारण क्रोध स्थायी उद्बुद्धमात्र होकर रह गया; उद्दीप्त होकर पूर्ण परिपाक को प्राप्त नहीं हो सका। इसी प्रकार—

सटपटाति सी ससिमुखी, मुख घूँघट पट ढाँकि ।
पावक झर सी झमकि कै, गई झरोखे झाँकि ॥

यहाँ पर आलम्बनगत 'लज्जा' संचारी का तथा आश्रयगत 'स्मरण' संचारी का प्रमुखता से वर्णन है।

रसाभास— जहाँ रस का परिपाक होते हुए भी सहृदय जनों की दृष्टि से उसमें किसी प्रकार का अनौचित्य हो, वहाँ पर रसाभास होता है। जैसे श्रृंगार में पर-स्त्री-प्रेम, पर-पुरुष-प्रेम, बहुनायक में प्रेम, निरिन्द्रिय वस्तुओं का रतिभाव, एकांगी प्रेम, पशुपक्षी आदि का प्रेम-वर्णन। यह रसदोष है; परन्तु आभास रूप में भी आनन्ददायक होने के कारण इसे ध्वनि के भीतर माना जाता है। निराला की 'जूही की कली', बालकाण्ड में शंकर की तपस्या भंग करने में काम के प्रभाव का वर्णन ऐसे ही उदाहरण हैं। इसी प्रकार अन्य रसों में भी अनौचित्य आ जाने से रसाभास होता है। जैसे वीर रसाभास का एक उदाहरण है—

उठि उठि पहिरि सनाह अभागे। जहँ तहँ गाल बजावन लागे ॥
लेहु छुड़ाय सीय कह कोऊ। धरि बाँधौ नृप बालक दोऊ ॥
तोरे धनुष काज नहिं सरई। जीवत हमहिं कुँवरि को बरई ॥
जौ बिदेह कछु करहिं सहाई। जीतहु समर सहित दोउ भाई ॥

यहाँ पर धनुष को न उठा सकनेवाले पराजितों का यह राम के प्रति युद्ध करने का उत्साह अनुचित है अतः रसाभास है।

भावाभास— जहाँ पर भाव में कोई अनौचित्य हो, वहाँ भावाभास माना जाता है, जैसे—

दरपन में निज छाँह सँग, लखि प्रियतम को छाँह ।
खरी ललाई रोस की, ल्याई अँखियन माँह ॥

यहाँ पर क्रोध का भाव व्यर्थ ही आने से भावाभास है।

भावोदय— जहाँ पर किसी प्रसंग में भाव के उदय होने में आकर्षण हो, वहाँ भावोदय होता है, जैसे—

देखि री देखि अली! सँग जाइ धौं कौन है का घर में बतराति है ।
आनन मोरि कै नैनन जोरि अबै गई ओझल कै मुसकाति है ।
दाप जू जा मुख जोति लखे ते सुधाधर जोति खरी सकुचाति है ।
आगि लिये चली जाति सु मेरे हिये बिच आगि दिये चली जाति है ॥

यहाँ पर उत्कंठा और स्मरण के बाद प्रेमभाव का उदय चमत्कारपूर्ण है।

भावसंधि— जहाँ पर दो भावों के सम्मिलन के कारण चमत्कार आ जाता हो, वहाँ पर भावसन्धि होती है, जैसे—

पिय बिछुरन को दुसह दुख, हरष जात प्यौसार ।
दुरजोधन लौं देखियत, तजत प्रान यहि बार ॥

यहाँ पर सुख और दुःख, हर्ष और विरह दोनों ही भावों की सन्धि से चमत्कार है। इसी प्रकार—

प्रभुहिं चितै पुनि चितै महि, राजत लोचन लोल ।
खेलत मनसिज मीन जुग, जनु बिधु मंडल डोल ॥

भावशांति— जहाँ पर किसी उठे हुए भाव की समाप्ति में विशेषता देखी जाती है वहाँ पर भावशांति होती है, जैसे—

अतीव उत्कंठित ग्वाल बाल हो,
सवेग आते रथ के समीप थे ।
परन्तु होते अति ही मलीन थे,
न देखते थे जब वे मुकुन्द को ।

यहाँ पर उद्धव को आता देखकर ब्रजवासियों के हर्ष का भाव विषाद भाव में (कृष्ण को न देखने पर) शान्त हो जाता है।

भावशबलता— जहाँ पर एक के बाद अनेक भावों के आने से एक ही साथ अनेक भावों के सम्मिलन का सौन्दर्य हो, वहाँ भावशबलता होती है। उदाहरण—

जब ते कुँवर कान्ह रावरी कला निधान
कान परी वाके कछु सुजस कहानी सी ।
तब ही ते देव देखी देवता सी हँसति सी,
रीझति सी खीझति सी रूठति रिसानी सी ।
छोही सी छली सी, छीन लीनी सी, छकी सी छिन
जकी सी टकी सी लगी थकी थहरानी सी ।
बींधी सी, बँधी सी, बिष बूड़ति, बिमोहति सी,
बैठी बाल बकति बिलोकति बिकानी सी ॥

गुणीभूत व्यंग्य

जहाँ पर वाच्यार्थ की तुलना में व्यंग्यार्थ प्रधान या अधिक महत्त्वपूर्ण न होकर

गौण होता है, वहाँ पर गुणीभूत व्यंग्य माना जाता है। पंडितराज जगन्नाथ के विचार से यह उत्तम काव्य के अन्तर्गत है, क्योंकि व्यंग्यार्थ का अस्तित्व इस काव्य में है। चमत्कार चाहे व्यंग्यार्थ में हो चाहे वाच्यार्थ में, उसका अस्तित्व होने से काव्य उत्तम कोटि का होता है। मध्यम काव्य व्यंग्यनिष्ठ रहता है और अवर या अधम काव्य में व्यंग्यार्थ बिलकुल नहीं दिखलाई देता, वह चित्र-काव्य मात्र है। गुणीभूत व्यंग्य के आठ भेद हैं— 1. अगूढ़ व्यंग्य, 2. अपरांग व्यंग्य, 3. वाच्यसिद्ध्यंग व्यंग्य, 4. अस्फुट व्यंग्य, 5. संदिग्धप्राधान्य व्यंग्य, 6. तुल्यप्राधान्य व्यंग्य, 7. काक्वाक्षिप्त व्यंग्य और 8. असुन्दर व्यंग्य।

अगूढ़ व्यंग्य— जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ के समान स्पष्ट प्रतीत होता है वहाँ पर अगूढ़ व्यंग्य होता है, जैसे—

गोधन गजधन बाजिधन, और रतनधन खान ।
जब आवत संतोष धन, सब धन धूरि समान ॥

यहाँ पर 'सब धन धूरि समान' में मुख्यार्थ की बाधा है, पर अर्थ यह निकलता है कि सब धनों का महत्त्व समाप्त हो जाता है, जब सन्तोष आ जाता है। व्यंग्यार्थ यह निकलता है कि सन्तोष ही आवश्यक है; उसके सामने और धन व्यर्थ हैं। यह व्यंग्यार्थ अत्यन्त स्पष्ट है।

अपरांग व्यंग्य— जहाँ पर रस, भाव, भावाभास आदि एक-दूसरे के अंग हो जाते हैं, वहाँ पर अपरांग व्यंग्य होता है; जैसे—

डिगत पानि डिगुलात गिरि, लखि सब ब्रज बेहाल ।
कंप किसोरी दरस तें, खरे लजाने लाल ॥

यहाँ पर सात्त्विक भाव 'कंप' द्वारा व्यंजित रति स्थायी या शृंगार रस 'लज्जा' संचारी का अंग हो गया है। अतः अपरांग व्यंग्य है।

वाच्यसिद्ध्यंग व्यंग्य— जहाँ पर निकलनेवाले व्यंग्यार्थ से ही पूरे पद के वाच्यार्थ की सिद्धि होती है, वहाँ पर वाच्यसिद्ध्यंग व्यंग्य होता है; जैसे—

पँखुड़ियों में ही छिपी रह कर न बातें व्यर्थ ।
ढूँढ़ कोषों में न प्रियतम नाथ का तू अर्थ ।
हटा घूँघट पट न मुख से मत उझककर झाँक ।
बैठ पर्दे में दिवानिसि मोल अपनी आँक ।
कर कभी मत किसी सुन्दर का निवेदन ध्यान ।
री सजनि वन की कली नादान ।

यहाँ पर व्यंग्य मुग्धा नायिका है, जो कली से व्यंग्य है। इस व्यंग्यार्थ के स्पष्ट होने पर ही वाच्य की सिद्धि होती है, अतः यहाँ पर वाच्यसिद्ध्यंग व्यंग्य है। 'जूही की कली' (निराला) में भी यही व्यंग्य है।

अस्फुट व्यंग्य— जहाँ पर व्यंग्य गूढ़ हो और बहुत प्रयत्न करने पर समझा जावे और स्पष्ट न समझा जावे, वहाँ पर अस्फुट व्यंग्य होता है; जैसे—

खिले नव पुष्प जग प्रथम सुगन्ध के
प्रथम वसन्त में गुच्छ गुच्छ ।

यहाँ पर वर्णन प्रकृति का लगता है। इससे यह व्यंग्यार्थ बड़ी कठिनाई से ही निकल पाता है कि युवावस्था के आगमन में अनेक प्रकार की नवीन आशाएँ प्रकट हुईं।

संदिग्धप्राधान्य व्यंग्य— जहाँ पर सन्देह बना रहे कि अर्थ में वाच्यार्थ प्रधान है अथवा व्यंग्यार्थ, वहाँ पर संदिग्धप्राधान्य व्यंग्य होता है; जैसे—

मानहुँ बिधि तन अच्छ छबि, स्वच्छ राखिबे काज ।
दृग पग पोंछन को कियो, भूषन पायंदाज ॥

यहाँ पर वाच्यार्थ से उत्प्रेक्षालंकार है कि आभूषण मानो नेत्र के पैरों को पोंछने के लिए पायंदाज है और व्यंग्यार्थ यह है कि आभूषण उनके शरीररूपी भवन में पायंदाज के समान है अर्थात् आभूषण की शोभा शरीर की शोभा के सामने नगण्य है। दोनों ही अर्थात् वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ चमत्कारपूर्ण हैं। कौन प्रधान है, यह कहना कठिन है, सन्देह ही इस सम्बन्ध में बना रहता है, अत: सन्दिग्धप्राधान्य व्यंग्य है।

असुन्दर व्यंग्य— जहाँ पर वाच्यार्थ से निकलनेवाले व्यंग्यार्थ में कोई चमत्कार न हो, वहाँ पर असुन्दर व्यंग्य होता है; जैसे—

बिहँग सोर सुनि सुनि समुझि, पछ्वारे की बाग ।
जाति परी पियरी खरी, प्रिया भरी अनुराग ॥

इस वाच्यार्थ में व्यंग्य है कि प्रिय से मिलने के लिए प्रिया अत्यन्त व्याकुल है, जो वाच्यार्थ से भी स्पष्ट है और कोई चमत्कार नहीं रखता।

तुल्यप्राधान्य व्यंग्य— जहाँ पर वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों ही समान चमत्कार के हों, वहाँ पर तुल्यप्राधान्य व्यंग्य होता है; जैसे—

आज बचपन का कोमल गात। जरा का पीला पात ।
चार दिन सुखद चाँदनी रात। और फिर अंधकार अज्ञात ॥

इस वाच्यार्थ का व्यंग्यार्थ यह हुआ कि सभी के दिन एक समान नहीं जाते। यह वाच्यार्थ के समान ही चमत्कारपूर्ण है, अत: तुल्यप्राधान्य व्यंग्य है।

काक्वाक्षिप्त व्यंग्य— जहाँ पर काकु (कण्ठगत विशेष ध्वनि) के द्वारा व्यंग्य प्रकट होता है, वहाँ पर काक्वाक्षिप्त व्यंग्य होता है; जैसे—

हैं दससीस मनुज रघुनायक ।
जिनके हनूमान से पायक ॥

यहाँ पर काकु से यह व्यंग्यार्थ निकलता है कि राम मनुज नहीं हैं, अत: काक्वाक्षिप्त व्यंग्य है।

अवर काव्य

अवर काव्य में अलंकार चित्रकाव्य रहता है। इसमें व्यंग्यार्थ नहीं रहता; अलंकार, शब्द-योजना आदि का ही सौन्दर्य ऐसी रचना में देखा जाता है। ध्वनि की दृष्टि से इस काव्य का सबसे कम महत्त्व है। उदाहरण—

रुनित भृंग घंटावली, झरत दान मद नीर ।
मंद मंद आवत चल्यो, कुंजर कंज समीर ॥

यहाँ पर रूपक अलंकार है; परन्तु व्यंग्यार्थ कुछ भी न होने से अवर काव्य की कोटि में रखा जायेगा। इसी प्रकार—

बिघन-बिदारण बिरदबर, बारन बदन बिकास ।
बर दे बहु बाढ़े बिसद, बाणी बुद्धि बिलास ॥

इसमें वर्णावृत्ति का ही चमत्कार है।

संक्षेप में ऊपर ध्वनिसिद्धान्त का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। इस सिद्धान्त का मुख्य रूप ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, रसगंगाधर, काव्यनिर्णय, काव्यदर्पण आदि ग्रन्थों के आधार पर है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि ध्वनिसिद्धान्त की सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि इसने अपने अन्तर्गत रस, अलंकार, वक्रोक्ति, रीति आदि समस्त काव्यसिद्धान्तों के मूल तत्त्वों का समावेश कर लिया। इसके साथ ही इसका प्रतिपादन भी विस्तार के साथ हुआ और खंडन-मंडन द्वारा यह अत्यन्त पुष्ट होकर एक सर्वमान्य काव्यसिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। ऐसा व्यापक काव्यसिद्धान्त विश्व के साहित्य में नहीं मिलता। इसी कारण इस सिद्धान्त का इतना महत्त्व है। इसके असंख्य भेद-प्रभेद हैं और यह काव्य की व्यापक-से-व्यापक और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विशेषताओं को अपने भीतर समेट लेता है।

(ङ) रस

तैत्तिरीय उपनिषद् की मान्यता है कि 'रसो वै सः', रस आनन्दस्वरूप ब्रह्म है। रस की धारणा बड़ी प्राचीन है और रस की महिमा बड़ी व्यापक। रस की आवश्यकता और महत्ता के सम्बन्ध में चाहे हम जागरूक न हों, पर जीवन की गति यह प्रकट करती है कि रस जीवन का सार है और जीवन रस के लिए है। जितने भी क्रिया-कलाप हैं उनकी प्रेरणा और लक्ष्य, उनका प्रारम्भ और अन्त रस में ही है, चाहे उसके मध्य में हम बहल भले ही जायँ। जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास ने कहा कि "डासत ही गई बीति निसा सब, कबहुँ न नाथ नींद भरि सोयो" अपने लक्ष्य-पूर्ति के साधन जुटाने ही में हम समस्त जीवन नष्ट करते हैं और लक्ष्य का आनन्द प्राप्त नहीं कर पाते। साधनावस्था भी रस की अवस्था है इसमें सन्देह नहीं, यदि हम उसको इस रस-रूप में परिणत कर सकें। परन्तु इसमें अनेक मत नहीं हैं कि रस जीवन में आवश्यक है। भरतमुनि ने तो यहाँ तक कहा है कि **'न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।'** वास्तव में यह तथ्य है कि जीवन को

जीवन बनाने के लिए रस अनिवार्य है। इसको छोड़कर जीवन का कोई उद्देश्य नहीं चलता है।

प्रश्न यह होता है कि रस है क्या? अनेक विद्वानों ने इसका अनेक प्रकार से उत्तर दिया है और ये उत्तर इतने रूढ़ हो गये हैं कि हम उन्हें अपने अनुभव के साथ मिला नहीं पाते। रस की धारणा को स्पष्ट करने का कुछ इतना बौद्धिक प्रयास हुआ है कि हम उसको अत्यन्त शास्त्रीय, टेक्निकल और दुरूह वस्तु समझने लगे हैं। इसमें हम सन्देह नहीं करते कि रस को लेकर गम्भीर विवेचना विद्वानों ने की है और उस सबका शास्त्रीय महत्त्व है, परन्तु साधारण जीवन के लिए रस की ये सब व्याख्याएँ 'मधवामूल विडौजा टीका' की कहावत चरितार्थ करती है। इसका परिणाम यह हुआ है कि जो रस जीवन का आनन्द है, जिसकी हमें, आत्मा के विकास, सामूहिक उल्लास, व्यापक संवेदनशीलता के प्रसार और मानसिक संस्कार के लिए अनिवार्य आवश्यकता रही है वह एक दुरूह, शास्त्रीय और व्यवहार से दूर की वस्तु-सा जान पड़ता है।

परन्तु रस की मूलभूत धारणा में ऐसी कोई बात नहीं। रस को हम छोड़ नहीं सकते और जब हम उसे छोड़ देंगे, तब जीवन जीवन नहीं रह जायेगा। कहा गया है कि जिस प्रकार नाना पदार्थों से तैयार किये हुए व्यंजन से रस की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार अनेक प्रकार के भावों के समावेश से रस की निष्पत्ति होती है। जिस प्रकार अनेक प्रकार के व्यंजनों से युक्त अन्न का भोग करते हुए स्वस्थ पुरुष आनन्द की प्राप्ति करते हैं, उसी प्रकार विभाव, अनुभाव, संचारी भावों से सम्पन्न स्थायीभावों का आस्वादन करते हुए सहृदयजन रस का आनन्द लेते हैं। प्रथम आस्वाद की प्रक्रिया स्थूल है और दूसरे की सूक्ष्म। नाट्यशास्त्र में भरतमुनि का उल्लेख है—

यथा बहुद्रव्य-युतैर्व्यजनैर्वहुभिर्युतम् ।
आस्वादयन्ति भुंजाना भुंक्ते भुक्तविदो जनाः ।
भावाभिनयसंयुक्ताः स्थायिभावास्ततो बुधाः ।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः ॥

थोड़ा विश्लेषण करके हम देख सकते हैं कि दोनों प्रक्रियाओं में बहुत बड़ा साम्य है। जिस प्रकार अनेक द्रव्यों के मिलने से व्यंजन सुस्वादु होता है, उसमें इस बात की आवश्यकता होती है कि एक विशेष अनुपात और अन्दाज से वस्तुएँ डाली जायँ, तभी उसमें स्वाद आयेगा, उसी प्रकार स्थायीभाव को पूर्णतया आस्वाद के लिए उद्बुद्ध करने के हेतु विशेष प्रकार के और यथावश्यक विभावों और अनुभावों का संयोग होना चाहिए। इसी प्रकार भाव और रस का परस्पर सम्बन्ध है। साथ ही एक और आवश्यक बात यह है कि व्यंजन चाहे कितना सुस्वादु बना हो, पर यदि आस्वादक स्वस्थ शरीर और मन का नहीं है तो उसे आनन्द नहीं मिल सकता; उसी प्रकार नाटक या काव्य चाहे कितना अच्छा हो उसके दर्शन और पठन से आनन्द तभी प्राप्त हो सकता है, जबकि दर्शक या पाठक संवेदनशील स्वस्थ मनवाला हो।

प्रारम्भ में रसों की संख्या नौ ही मानी गयी थी। भरत ने तो नाटक में आठ ही रस माने हैं, पर काव्य में नौ रस माने गये। आगे चलकर दस रस हुए और फिर ग्यारह।

आचार्य मम्मट ने जिन्हें ''रतिर्देवादिविषया'' सूत्र में भाव कहकर टाल दिया था, वे हिन्दी साहित्य की भक्ति-काव्यधारा के प्रवाह से सरसित होकर वात्सल्य और भक्ति रस के रूप में प्रतिष्ठित हुए। यों वात्सल्य और भक्तिरस के रूप साहित्य-दर्पणकार को भी मान्य है, पर मध्ययुग में जो अजस्र गम्भीर धारा व्रजभूमि में प्रकट हुई उसे भक्ति रस की कालिन्दी के रूप में स्वीकार करना पड़ा और इस प्रकार श्रृंगार, वीर, करुण, अद्‌भुत, हास्य, भयानक, वीभत्स, रौद्र और शान्त के साथ वात्सल्य और भक्ति रस की एकादशी प्रतिष्ठित हो गयी। फिर भी प्रमुखतया शास्त्रीय विधि से मान्य पूर्वोक्त नव रस ही हैं। इन नव रसों के सोदाहरण विश्लेषण के साथ हम वात्सल्य और भक्ति रस का भी विवेचन करेंगे।

काव्य में रस के महत्त्व के सम्बन्ध में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। आलंकारिकों ने भी रस को रसवदादि अलंकार के रूप में स्वीकृत किया; परन्तु काव्य में रस की वह प्रारम्भिक धारणा थी, क्योंकि नाट्य में रस को सब कुछ स्वीकार किया गया था। आगे चलकर रस के महत्त्व को अधिकांश आचार्यों ने स्वीकार किया। ध्वनि, जो सर्वव्यापक सिद्धान्त के रूप में गृहीत हुआ, रस को प्रधान स्थान देनेवाला है। रस-ध्वनि के रूप में तो रस को सर्वश्रेष्ठ ध्वनिकाव्य माना गया ही; काव्य की आत्मा भी रस को किसी-न-किसी रूप में कहा गया है; जैसा ध्वन्यालोक में प्रकट है—

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवे: पुरा।
क्रौंचद्वन्द्ववियोगोत्थ: शोक: श्लोकत्वमागत: ॥ 1, 5॥

इस प्रकार अभिधावादी भट्टनायकादि भी रस को महत्त्व देते हैं और व्यंजनावादी आचार्य आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्तादि भी। हिन्दी के आचार्यों ने तो रस को प्रधान महत्त्व दिया ही है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तो रस की स्थिति को हृदय की मुक्तावस्था के रूप में मानते हैं और काव्य उसी के लिए किया हुआ शब्दविधान है, ऐसा प्रतिपादित करते हैं। रस-सिद्धान्त को केवल पूर्णतया निष्पन्न रस के रूप में ही स्वीकार न करके भावमात्र के प्रतिपादन तक इसका विस्तार मानने से कुछ विद्वान् ऐसा भी अनुभव करते हैं कि काव्य का यह अनिवार्य तत्त्व है और उसकी आत्मा के रूप में समस्त प्रकार के कार्यों में व्याप्त है। इसी प्रकार रस का आधुनिक मनोविज्ञान और सौन्दर्यशास्त्र से भी स्पष्टीकरण किया जाता है। इसका संक्षिप्त विवेचन दृश्यकाव्य के प्रसंग में रसानुभूति की प्रक्रिया के अन्तर्गत किया जा चुका है। नाटक का प्रमुख तत्त्व रस है इसलिए रसांगों का भी विवेचन उसी अध्याय में हो चुका है। अतएव यहाँ पर हम रसों का विश्लेषण उनके उदाहरणों के साथ करेंगे।

श्रृंगार रस

श्रृंगार को रसराज कहा गया है जिसका प्रमुख कारण यह है कि इसके भीतर न केवल अधिकांश संचारी भाव, वरन् अन्य सभी रस भी संचारी रूप में समाविष्ट हो जाते हैं। यह बात केशव, देव आदि आचार्यों ने अच्छी तरह प्रतिष्ठित की है। भोजराज तो श्रृंगार को ही रस मानते हैं। उनके विचार से यही एक पूर्ण रस है। अन्य रस तो इसकी सम्पूर्णता

की मध्यवर्ती स्थितियाँ हैं। भोज ने अपने ग्रन्थ 'शृंगारप्रकाश' में लिखा है—

शृंगारवीरकरुणाद्भुतहास्यरौद्र,
बीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः।
आम्नासिषुर्दश रसान् सुधियो वयन्तु
शृंगारमेव रसनाद्रसमामनाम॥

शृंगार का प्रभाव तुरन्त पड़ता है। शृंगार का वर्ण श्याम, देवता विष्णु माने गये हैं। शृंगार के संयोग और वियोग दो भेद हैं। इसमें समस्त संचारी, विभाव, अनुभाव आ सकते हैं। इस रस का स्थायी भाव रति है, आलम्बन नायक-नायिका, उद्दीपन ऋतु-सौन्दर्य आदि हैं। संचारी और अनुभाव अनेक हैं।

संयोग शृंगार

जहाँ पर रति स्थायी, प्रिय के संयोग से परिपुष्ट होकर विविध अनुभावों और संचारियों द्वारा प्रकट होता है। उदाहरणार्थ—

आजु की छबीली छबि छटा चित्त बेधि रही,
कही नहिं जाति कछू कौन गति भई है।
नवल नबेली हँसि चितवत ठाढ़ी पास,
मानों तिहि उर नई नेह बेलि बई है।
हित ध्रुव नीरज से नीर भरे ढरे नैन,
बोलत न कछू बैन चित्र सी ह्वै गई है।
नैन छाइ लीने रूप परी जब प्रेम-कूप,
वाकी गति जानै सोई जिहि अस भई है॥

यहाँ पर कृष्ण या नायक आलम्बन है और राधा या नायिका आश्रय। सुन्दर रूप शोभा (छवि छटा) उद्दीपन है। हँसना, पास खड़े देखना, आँसू ढारना, जड़वत् हो जाना आदि अनुभाव हैं। हर्ष, जड़ता आदि संचारी भाव हैं। इनसे पुष्ट स्थायी रति शृंगार रस के रूप में प्रकट है।

विप्रलम्भ या वियोग शृंगार

जहाँ पर रतिस्थायी स्वप्न, चित्र, प्रत्यक्ष, श्रवण आदि से प्रकट होता है; परन्तु प्रिय से संयोग न होने से और भी तीव्र होता रहता है अथवा मिलन के बाद फिर बिछोह के अवसर पर मान, प्रवास आदि के समय विभिन्न दशाओं में प्रकट होता है, वहाँ पर वियोग शृंगार होता है। इसकी स्थितियाँ या रूप हैं— पूर्वराग, मान, प्रवास।

पूर्वराग— मिलन से प्रथम, प्रत्यक्ष, श्रवण, चित्र या स्वप्नदर्शन से जो प्रीति होती है, वह पूर्वराग है। उदाहरण—

दीठ परचौ जौतैं तौतैं नाहिन टरहि छवि,
आँखिन छ्यो री छिन छिन छालि छालि उठै।

बाजि बाजि उठत मिठैहैं सुर बंसी भोर,
ठौर ठौर ढीली गरबीली चालि चालि उठै ।
कहरि कहरि उठै पीरे पटुका को छोर,
साँवरे की तिरछी चितौनि सालि सालि उठै ।
डोलि डोलि कुण्डल उठत वेई बार बार,
एरी! वह मुकुट हिये में हालि हालि उठै ॥

मान— आशा के प्रतिकूल अपराधजनित प्रणयकोप को मान कहते हैं। यह लघु, मध्यम और गुरु तीन प्रकार का होता है। उदाहरण—

बैस ही की थोरी पै न भोरी है किसोरी यह,
याकी चित चाह रह और की मझैयो जनि ।
कहे 'पदमाकर' सुजान रूप खान आगे,
आनबान आन की सु आनि कै चलैयो जनि ।
जैसे तैसे करि सत सौंहनि मनाय ल्याई,
पै इक हमारी बात एती बिसरैयो जनि ।
आजु की घरी तें लै सु भूलिहूँ भले हो स्याम !
ललिता को लै कै नाम बाँसुरी बजैयो जनि ॥

प्रवास— प्रिय के विदेशगमन के समय जो प्रेम की दुःखमयी स्थिति होती है, वह प्रवास विरह कहलाती है। जैसे—

चैत चारु चाँदनी चिता सी चमकति, चन्द,
अनिल की डोलनि अनल हूँ ते ताती है ।
कहैं कवि 'दूलह' ये बौरे हैं रसाल, ताप
कूकि उठै क्वैलिया मधुर मधुमाती है ।
औधि अधिकानी हरि हू की बात जानी,
अब काहे न छ्टूक ह्वै दरकि जाति छाती है ।
गुनो आनि आवनो, बसन्त री बितावनो यों,
सुनो आनि आवनो, बहुरि आई पाती है ॥

दस दशाएँ— वियोग की दस दशाएँ मानी गयी हैं— अभिलाष, चिन्ता, स्मरण, गुणकथन, उद्वेग, उन्माद, प्रलाप, व्याधि, जड़ता और मरण। इन सबमें वियोग शृंगार पुष्ट होता है। एक अवस्था का उदाहरण है—

साँसन ही सों समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि ।
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तनु की तनुता करि ।
'देव' जियै मिलिबेई की आस कि आसहु पास आकास रह्यो भरि ।
जा दिन ते मुख फेरि हरे हँसि हेरि हियो जू लियो हरि जू हरि ॥

यहाँ पर हरि आलम्बन; उनका हँसना, मुख फेरना आदि उद्दीपन; आँसू बहाना,

दुर्बल होना, विवर्ण होना आदि अनुभाव; विषाद, उत्कण्ठा, कृशता, व्याधि आदि संचारी और रति स्थायी है। अत: विप्रलम्भ-शृंगार की मरण दशा का संकेत है।

वीर रस

वीर, प्रधान रसों में से है। इस रस का देवता महेन्द्र माना गया है और इसका वर्ण, सोने के समान गौर है। वीर का स्थायी भाव उत्साह होता है। मानसिक वृत्तियों में इसका सम्बन्ध युयुत्सा से माना जा सकता है। इसका आलम्बन शत्रु, ऐश्वर्य, साहसिक कार्य, यश आदि हैं। उद्दीपन चेष्टा, प्रदर्शन, ललकार, आदि। अनुभाव आँखों का लाल होना, भुजाओं या अंगों का सञ्चालन, सैन्य को प्रेरित करना आदि हैं। इसके संचारी गर्व, उग्रता, धैर्य, तर्क, असूया, मति आदि हैं।

वीर रस के चार भेद माने गये हैं— युद्धवीर, दानवीर, दयावीर और धर्मवीर। यहाँ पर हम इनके अलग-अलग उदाहरण देकर रसांगों का विश्लेषण करेंगे।

युद्धवीर

डहडहे डंकन को सबद निसंक होत
बहबही सत्रुन की सेना जोर सरकी।
'हरिकेस' सुभट घटान की उमंडि उत
चम्पति को नन्द कोप्यो उमँग समर की।
हाथिन की मन्द मारू राग की उमंड त्यों
त्यों लाली झलकत मुख छत्रसाल बर की ।
फरकि फरकि उठैं बाहैं अस्त्र बाहिबे को
करकि करकि उठैं करी बखतर की ॥

ऊपर के छन्द में उत्साह स्थायी भाव है। यह उत्साह युद्ध के लिए है, इसलिए 'युद्ध' वीर रस है। इसका आलम्बन शत्रु है। डंकों का बजना और शत्रु की सेना का आगे बढ़ना उद्दीपन है। इस उत्साह का आश्रय चम्पतराय का पुत्र छत्रसाल है। मुख पर लालिमा और अस्त्र उठाने के लिए भुजाओं का फड़क उठना अनुभाव है। क्रोध, रोमांच, उग्रता आदि संचारी भाव हैं। इस प्रकार वीर रस पूर्ण हुआ है।

दानवीर

संपति सुमेर की कुबेर की जो पावै ताहि,
तुरत लुटवत बिलम्ब उर धारै ना ।
कहै 'पदमाकर' सो हेम हय हाथिन के,
हलके हजारन के बितर बिचारै ना ॥
गंज गजबकस महीप रघुनाथ राव,
पाइ गज धोखे कहूँ काहू देइ डारै ना ।

याही डर गिरिजा गजानन को गोइ रही,
गिरि तें गरे तें निज गोद तें उतारै ना ॥

इस छन्द में याचक आलम्बन है। धन, सम्पत्ति, हाथी, घोड़े आदि उद्दीपन हैं; हाथियों आदि का दान अनुभाव है तथा हर्ष संचारी भाव है।

दयावीर

सुनि 'कमलापति' विनीत बैन भारी तासु,
आसु चलिबे की लखी गति यों दराज की ।
छोड़ि कमलासन पिछोड़ि गरुड़ासन हूँ,
कैसे कै बखानों दौर दौरे मृगराज की ।
जाय सरसी में यों छुड़ाय गज ग्राह ही तें,
ठाढ़े आये तीर इमि सोभा महाराज की ।
पीत पट लै लै कै अंगौछ्त सरीर,
कर कंजन तें पोंछ्त भुसुण्ड गजराज की ॥

इस छन्द में आलम्बन हाथी है। उद्दीपन उसके विनीत बैन। अनुभाव आसन छोड़कर पैदल दौड़ना, शरीर अँगौछना, सूँड़ पोंछना आदि हैं। दया के लिए उत्साह स्थायी भाव है। चिन्ता, चपलता आदि संचारी भाव हैं।

धर्मवीर

तृण के समान धन धाम राज त्याग करि,
पाल्यौ पितु वचन जो जानत जनैया है ।
कहै 'पदमाकर' बिबेक ही की बानी बीच,
साचो सत्य बीर धीर धीरज धरैया है ।
सुमृति पुरान बेद आगम कह्यो जो पंथ,
आचरत सोई सुद्ध करम करैया है ।
मोह मति मन्दर पुरन्दर मही को, धनी,
धरम धुरन्धर हमारो रघुरैया है ॥

यहाँ पर धर्म के कार्य आलम्बन; वेद, पुराण आदि का वचन उद्दीपन; कार्य और आचरण अनुभाव हैं तथा धैर्य, मति-दृढ़ता आदि संचारी भाव हैं।

करुण रस

करुण रस अत्यन्त प्रभावशाली है। इसमें सभी को तुरन्त द्रवित करने की शक्ति होती है। भोज ने जिस प्रकार शृंगार को ही एक रस के रूप में स्वीकार किया था, भवभूति उसी प्रकार करुण को ही एकमात्र रस मानते थे। उन्होंने कहा भी है—"एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्।" करुण ही एक रस है, अन्य रस तो भेद के कारण हैं।

करुण रस के भीतर 'शोक' स्थायी भाव परिपुष्ट होकर रसत्व को ग्रहण करता है। इसके देवता यम माने गये हैं और इसका वर्ण कपोतवत् कहा गया है। करुण रस का आलम्बन प्रिय व्यक्ति या वस्तु का अनिष्ट, हानि या विनाश है। उद्दीपन दुःखपूर्ण, अस्त-व्यस्त दशा का वर्णन या श्रवण है। अनुभाव रुदन, वैवर्ण्य, विलाप, भाग्य या दैव को कोसना, शरीर का शिथिल हो जाना आदि हैं। संचारी भाव चिन्ता, ग्लानि, विषाद, स्मृति, व्याधि, निर्वेद, मरण माने गये हैं। उदाहरण—

बस यहीं दीप निर्वाण हुआ। सुत विरह वायु का बाण हुआ ॥
धुँधला पड़ गया चन्द्र ऊपर। कुछ दिखलाई न दिया भू पर ॥
अति भीषण हाहाकार हुआ। सूना सा सब संसार हुआ ॥
अर्धाङ्ग रानियाँ शोक कृता। मूर्च्छिता हुईं या अर्द्धमृता ॥
हाथों से नेत्र बन्द करके। सहसा यह दृश्य देख उर के ॥
'हा स्वामी' कह ऊँचे स्वर से। दहके सुमन्त्र मानों दव से ॥
अनुचर अनाथ से होते थे। जो थे अधीर सब रोते थे ॥

यहाँ पर राजा दशरथ आलम्बन हैं। उनका मृत शरीर और हाहाकार आदि उद्दीपन हैं। विलाप, मूर्च्छा, आँखें बन्द करना, रोना आदि अनुभाव हैं। निर्वेद, जड़ता, विषाद, चपलता, भय आदि संचारी भाव हैं।

हाथ मींजिबो हाथ रह्यो।
लगी न संग चित्रकूटहु ते ह्याँ कहा जात बह्यौ ।
पति सुरपुर सिय राम लखन बन, मुनि ब्रत भरत गह्यौ ।
हौं रहि घर मसान पावक ज्यों, मरिबोई मृतक दह्यौ ।
मेरोइ हिय कठोर करिबे कहँ, बिधि कहुँ कुलिस लह्यौ ।
तुलसी बन पहुँचाइ फिरी सुत, क्यों कछु परत कह्यौ ॥

यहाँ पर राम का वन जाना आलम्बन है। राजा दशरथ का मरण, भरत का संन्यास उद्दीपन है। हाथ मलना, पश्चात्ताप, विधाता को कोसना, आत्मनिन्दा आदि अनुभाव हैं। वैराग्य, ग्लानि, मोह, स्मृति आदि संचारी हैं। अतः करुण रस परिपुष्ट है।

अद्भुत रस

अद्भुत रस का स्थायी भाव विस्मय या आश्चर्य है। इसके अधिष्ठाता ब्रह्मा माने जाते हैं। इस रस का आलम्बन अलौकिक चरित्र, दृश्य अथवा विचित्र वस्तु है। ऐसे चरित्र या वस्तु के सम्बन्ध में सुनना या उन पर बार-बार विचार करना उद्दीपन है। आँखें फाड़कर देखना, रोमांच, स्तब्ध हो जाना, अवाक् हो जाना, आदि अनुभाव हैं। भ्रम, हर्ष, औत्सुक्य, चंचलता, प्रलाप आदि संचारी भाव हैं। उदाहरण—

केसव कहि न जाय का कहिये ।
देखत तव रचना बिचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिये ॥

सून्य भीति पर चित्र रंग नहिं तनु बिन लिखा चितेरे ।
धोये मिटै न मरै भीति दुख पाइय यहि तनु हेरें ॥
रवि-कर नीर बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माहीं ।
बदनहीन सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं ॥
कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल कोउ मानै ।
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै ॥

यहाँ पर यह जगत् आलम्बन है। उसकी विचित्रता, व्यापार-विलक्षणता और अद्‌भुत कार्य उद्दीपन है। अवाक् रह जाना, भ्रम में पड़ना आदि अनुभाव तथा विषाद, भ्रम, तर्क, मति आदि संचारी भाव हैं।

हास्य रस

हास्य रस का स्थायी भाव हास है। इसके देवता प्रमथ (शंकर के गण) माने जाते हैं और वर्ण श्वेत है। हास्य रस का आलम्बन विकृत रूप, आकार, वेशभूषा, विचित्र अनर्गल वचन, विलक्षण चेष्टाएँ हैं। विचित्र अंगभंगिमा, क्रियाकलाप आदि उद्दीपन हैं। आँखों और मुख का विकसित होना, खिलखिलाना आदि अनुभाव हैं। चपलता, हर्ष, गर्व आदि संचारी भाव हैं। हास्य के भेद— स्वनिष्ठ, परनिष्ठ तथा स्मित, हसित, विहसित, अवहसित, अपहसित और अतिहसित माने गये हैं। उदाहरण—

हँसि-हँसि भाजैं देखि दूलह दिगम्बर को,
पाहुनी जे आवैं हिमाचल के उछाह मैं ।
कहै 'पदमाकर' सु काहू सों कहै को कहा,
जोई जहाँ देखै सो हँसेई तहाँ राह मैं ।
मगन भयेई हँसैं नगन महेस ठाढ़े,
और हँसैं एऊ हँसि-हँसि के उमाह मैं ।
सीस पर गंगा हँसै, भुजनि भुजंगा हँसै,
हास ही को दंगा भयौ नंगा के बिबाह मैं ॥

यहाँ पर दिगम्बर शंकर आलम्बन; उनका विकृत विलक्षण वेश उद्दीपन; भगना, हँसना, खड़ा रह जाना आदि अनुभाव हैं। हर्ष, भय, चपलता, संचारी भाव हैं। इसी प्रकार—

बार-बार बैल को निपट ऊँचो नाद सुनि,
हुंकरत बाघ बिरुझानो रस रेला मैं ।
'भूधर' भनत ताकी बास पाय सोर करि,
कुत्ता कोतवाल को बगानो बगमेला मैं ।
फुंकरत मूषक को दूषक भुजंग तासों,
जंग जुरिबे को झुक्यो मोर हद हेला मैं ।

आपुस में पारषद कहत पुकारि, कछु,
रारि सी मची है त्रिपुरारि के तबेला मैं ॥

भयानक रस

इस रस का स्थायी भाव भय है। हिंस्र स्वभाववाले जीव तथा उग्र स्वभाव और आचरणवाले व्यक्ति इसके आलम्बन हैं। विकृत और उग्र ध्वनि तथा भयावह चेष्टाएँ, निर्जनता आदि उद्दीपन हैं। हाथ-पैर का काँपना, आँखों का फाड़ना, रोंगटे खड़े हो जाना, विवर्णता, कण्ठावरोध, चिल्लाना, भागना, गिड़गिड़ाना आदि अनुभाव हैं। शंका, मोह, दैन्य, आवेग, चिन्ता, त्रास, चपलता, मरण, जुगुप्सा, आदि संचारी भाव हैं। भयानक रस का वर्ण कृष्ण या काला माना जाता है और इसके देवता कालदेव हैं। इसकी प्रवृत्ति संकोच की है, प्रसार की नहीं। उदाहरण—

हाहाकार हुआ क्रन्दनमय कठिन वज्र होते थे चूर;
हुए दिगन्त बधिर भीषण रव बार-बार होता था क्रूर ।
दिग्दाहों से घूम उठे या जलधर उठे क्षितिज तट के;
सघन गगन में भीम प्रकंपन झंझा के चलते झटके ।
धँसती धरा धधकती ज्वाला ज्वालामुखियों के निश्वास;
और संकुचित क्रमशः उसके अवयव का होता था ह्रास ।
घनीभूत हो उठे पवन, फिर श्वासों की गति होती रुद्ध;
और चेतना थी बिलखाती दृष्टि विकल होती थी क्रुद्ध ॥

इस वर्णन में प्रलय आलम्बन है। भयंकर बादल, झंझावात, ज्वालामुखियों का आग उगलना आदि उद्दीपन हैं। हाहाकार, क्रन्दन, बधिर हो जाना आदि अनुभाव तथा त्रास, विकलता, मूर्च्छा, चञ्चलता आदि संचारी भाव हैं। इसी प्रकार—

गगडि गड़गड़ान्यो खंभ फाट्यो चरचराय
निकस्यो नर नाहर को रूप अति भयानो है ।
ककटि कटकटयवै, डाढ़ै, दसन लपलपावै जीभ
अधर फरफरावै मुच्छ व्योम व्यापमानो है ।
भभरि भरभराने लोग, डडरि डरपराने धाम
थथरि थरथराने अंग चितै चाहत खानो है ।
कहत 'रघुनाथ' कोपि गरजे नृसिंह जबै
प्रलै को पयोधि मानों तड़पि तड़तड़ानो है ॥

इस छन्द की शब्दावली भी भय के भाव को उद्दीप्त करनेवाली है। आलंबन नृसिंह का भयावना रूप है। उद्दीपन खम्भ का गड़गड़ाकर फटना, नृसिंह का दाँत कटकटाना, जीभ लपलपाना, ओंठ का फड़फड़ाना आदि हैं। लोगों का भरभराकर भागना, अंगों का थरथराना आदि अनुभाव हैं। त्रास, विषाद, शंका आदि संचारी भाव हैं। इस प्रकार भयानक रस का पूर्ण परिपाक है।

वीभत्स रस

वीभत्स रस का स्थायी भाव जुगुप्सा या घृणा है। इसके देवता महाकाल माने जाते हैं और रंग नीलवर्ण है। इस रस का आलम्बन फूहड़पन, रुधिर, मांस, सड़ी-गली तथा दुर्गन्धिमय वस्तुएँ हैं। उद्दीपन, इस प्रकार की वस्तुओं की चर्चा करना, देखना आदि हैं। थूकना, मुँह फेरना, नाक सिकोड़ना, कम्प आदि अनुभाव तथा भय, आवेग, व्याधि, अपस्मार आदि संचारी भाव हैं। उदाहरण—

ओझरी की झोरी काँधे, आँतन की सेल्ही बाँधे,
मूड़ को कमण्डल खपर कियो कोरि कै ।
जोगिनी झुटुङ्ग झुण्ड झुण्ड बनी तापसी सी,
तीर-तीर बैठी हैं समर-सरि खोरि कै ।
सोनित सों सानि-सानि गूदा खात सेतुवा से,
प्रेत एक पियत बहोरि घोरि-घोरि कै ।
तुलसी बैताल भूत साथ लिये भूतनाथ,
हेरि-हेरि हँसत हैं हाथ-हाथ जोरि कै ॥

यहाँ पर युद्ध का दृश्य आलम्बन; जोगिनी, भूत-प्रेतों के क्रियाकलाप उद्दीपन हैं। हँसना, सिहरना, मुँह बिचकाना आदि अनुभाव हैं तथा भय, त्रास आदि संचारी हैं। इसी प्रकार—

सासु के विलोके सिंहनी सी जमुहाई लेति,
ससुर के देखे बाघिनी सी मुँह बावती ।
ननद के देखे नागिनी-सी फुफकारै बैठी,
देवर के देखे डाकिनी-सी डरपावती ।
भनत 'प्रधान' मोछैं जारति परोसिन की,
खसम के देखे खाँव-खाँव करि धावती ।
कर्कसा कसाइनि कुलच्छिनी कुबुद्धिनी ये,
करम के फूटे घर ऐसी नारि आवती ॥

यहाँ कर्कशा का वर्णन घृणा के भाव का व्यंजक है।

रौद्र रस

रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध है। इसके देवता रुद्र माने जाते हैं और रंग लाल वर्ण का माना गया है। आलम्बन शत्रु या कपटी, दुराचारी व्यक्ति होता है। उद्दीपन अपमान और निन्दा से भरे वचन होते हैं। अनुभाव भौंहें तानना, दाँत पीसना, ललकारना, काँपना, मुँह लाल हो जाना, हाथ चलाना आदि हैं। संचारी गर्व, अमर्ष, चपलता, आवेग आदि हैं। उदाहरण—

बारि टारि डारौं कुम्भकर्नहिं बिदारि डारौं,
मारौं मेघनादै आजु यों बल अनन्त हौं ।

कहै 'पदमाकर' त्रिकूट ही को ढाय डारौं,
डारत करेई जातुधानन को अन्त हौं।
अच्छहिं निरच्छ कपि ऋच्छहिं उचारौं इमि,
तोसे तुच्छ तुच्छन को कछुवै न गन्त हौं।
जारि डारौं लंकहिं उजारि डारौं उपवन,
मारि डारौं रावन को तौ मैं हनुमन्त हौं॥

इस छन्द में रावण, कुम्भकर्ण आदि शत्रु आलम्बन हैं। उनके कटु वचन उद्दीपन हैं। विविध प्रकार से अपनी वीरता वर्णन करना, अनुभाव तथा गर्व, अमर्ष, उग्रता आदि संचारी भाव हैं। इसी प्रकार—

बौरौं सबै रघुवंश कुठार की धार में बारन बाजि सरत्थहिं।
बान की बाय उड़ाय कै लच्छन लच्छ करौं अरिहा समरत्थहिं।
रामहिं बाम समेत पठै बन कोप के भार में भूजौं भरत्थहिं।
जो धनु हाथ गहैं रघुनाथ तौ आजु अनाथ करौं दसरत्थहिं॥

इसमें परशुराम के क्रोध से रौद्र रस की निष्पत्ति हुई है।

शान्त रस

शृंगार, वीर और शान्त की गणना प्रधान रसों में होती है; क्योंकि ये उदात्त वृत्तियों के प्रेरक हैं और महाकाव्य में इनमें से एक प्रधान या अंगी रस के रूप में प्रतिष्ठित होता है। शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद है। इसके देवता विष्णु माने गये हैं। इसका रंग कुन्द पुष्प या चन्द्रमा के समान शुक्ल माना गया है। आलम्बन संसार की असारता और क्षणभंगुरता है। उद्दीपन सत्संग, श्मशान या तीर्थदर्शन, मृतक आदि हैं। अनुभाव रोमांच, अश्रु, पश्चात्ताप, ग्लानि आदि हैं। संचारी भाव हर्ष, धृति, मति, स्मरण, बोध आदि हैं। उदाहरण—

हाथी न साथी न घोरे न चेरे न गाँव न ठाँव को नाँव बिलैहै।
तात न मात न मित्र न पुत्र न बित्त न अंग के संग रहै है।
'केशव' काम को राम बिसारत और निकाम ते काम न ऐहै।
चेत रे चेत अजौं चित अन्तर अन्तक लोक अकेलोइ जैहै॥

यहाँ पर अनित्य सांसारिक वैभव आलम्बन है। हाथी, घोड़े, मित्र-पुत्र आदि का शरीर के साथ छूट जाना उद्दीपन है। यह कथन अनुभाव है तथा बोध, शंका, तर्क आदि संचारी भाव हैं। इसी प्रकार—

मिलि जैहै धूरि में धराधर धरातल हूँ,
काल कर सागर सलिल को उलीचिहै।
बड़े-बड़े लोकपाल बिपुल बिभव वारे,
पल में बिलैहैं ज्यों बिलाति बारि बीचिहै।

'हरिऔध' कहा बात तुच्छ तनधारिन की,
कबौं मेदिनी हू मीच भै ते आँख मीचिहै ।
सरस बसन्त ह्वै बिरस सरसैहै नाहिं,
बरसि सुधाकर सुधारस न सींचिहै ॥

वात्सल्य रस

संस्कृत के अधिकांश आचार्यों ने इसे अलग रस न मानकर शृंगार के भीतर ही परिगणित किया है। मम्मट ने ''रतिर्देवादविषया'' कहकर इसे भाव के रूप में ही स्वीकार कर लिया है। इसी प्रकार अन्य कुछ आचार्यों का मत है कि वात्सल्य, भक्ति आदि शृंगार के भीतर ही हैं। परन्तु इसे स्वतन्त्र रस के रूप में स्वीकार करनेवाले भोज, भानुदत्त, विश्वनाथ, हरिश्चंद्र आदि हैं। इस रस को पूर्णता से प्रतिष्ठित करनेवाले आचार्य विश्वनाथ हैं, जिन्होंने 'साहित्यदर्पण' में लिखा है—

स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः ।
स्थायी वत्सलता स्नेह पुत्राद्यालंबनं मतम् ॥
उद्दीपनादि तच्चेष्टा विद्या शौर्यदयादयः ।
आलिंगनांगसंस्पर्श शिरश्चुम्बनमीक्षणम् ॥
पुलकानन्दवाष्पाद्या अनुभावाः प्रकीर्तिताः ।
संचारिणोऽनिष्टशंका हर्षगर्वादयो मताः ॥

इस प्रकार स्पष्ट चमत्कार के कारण वात्सल्य की रसत्व रूप में प्रतिष्ठा होनी चाहिए। इसका स्थायी भाव पुत्रस्नेह है। पुत्रादि आलंबन हैं; उनकी चेष्टाएँ तथा विद्या, दया आदि उद्दीपन हैं। आलिंगन, अंगस्पर्श, सिर चूमना, निहारना आदि अनुभाव तथा शंका, हर्ष, गर्व आदि संचारी भाव हैं। सूरदास और तुलसीदास की रचनाओं में वात्सल्य रस के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। उदाहरण—

जसोदा हरि पालने झुलावै ।
हलरावै दुलराइ मल्हावै जोइ सोई कछु गावै ॥
मेरे लाल की आउ निदरिया काहे न आनि सुवावै ।
तू काहे न बेगि सों आवै, तोकों कान्ह बुलावै ॥
कबहुँ पलक हरि मूँदि लेत हैं कबहुँ अधर फरकावैं ।
सोवत जानि मौन ह्वै रहि रहि करि करि सैन बतावै ॥
इहि अन्तर अकुलाय उठे हरि जसुमति मधुरे गावै ।
जो सुख 'सूर' अमर मुनि दुर्लभ सो नँदभामिनि पावै ॥

इस पद में कृष्ण आलम्बन और यशोदा आश्रय हैं। कृष्ण का पलकें मूँदना, अकुला उठना आदि उद्दीपन हैं। यशोदा का हलराना, मल्हाना, गाना, संकेतों से बात करना अनुभाव हैं तथा शंका, हर्ष आदि संचारी भाव हैं। इस प्रकार वात्सल्य रस पूर्ण है। इसी प्रकार—

धूरि भरे अति सोभित स्याम जू तैसी बनी सिर सुन्दर चोटी ।
खेलत खात फिरैं अँगना पग पैंजनी बाजत पीरी कछोटी ।
वा छबि को रसखानि बिलोकत वारत काम कलानिधि कोटी ।
काग के भाग कहा कहिये हरि हाथ सों लै गयो माखन रोटी ।
कबहूँ ससि माँगत आरि करैं कबहूँ प्रतिबिम्ब निहारि डरैं ।
कबहूँ करताल बजाइ कै नाचत, मातु सबै मन मोद भरैं ।
कबहूँ रिसियाय कहैं हठि कै पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैं ।
अवधेस के बालक चारि सदा, तुलसी मन-मंदिर में बिहरैं ॥

भक्ति रस

आचार्य विश्वनाथ के समान, संस्कृत के धुरन्धर आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ ने भक्ति के स्वतन्त्र रसत्व पर अपने विचार प्रकट किये हैं। उन्होंने लिखा है—

कथमेत एव रसाः? भगवदालंबनस्य रोमांचाश्रुपातादिरनुभावितस्य हर्षादिभिः पोषितस्य भागवतादिपुराणश्रवणसमये भगवद्भक्तैरनुभूयमानस्य भक्तिरसस्य दुरपह्नवत्वात्। भगवदनुरूपा भक्तिश्चात्र स्थायिभावः। न चासौ शान्तरसेऽन्तर्भावमर्हति, अनुरागस्य वैराग्यविरुद्धत्वात्। *(रसगंगाधर)*

इस प्रकार स्थायीभाव भगवत्प्रेम; आलम्बन ईश्वर या उसका कोई रूप; पुराणादि का श्रवण उद्दीपन; रोमांचादि अनुभाव तथा हर्ष, दैन्य आदि संचारी भाव हैं। रसतरंगिणीकार भानुदत्त ने भी भक्ति को अलौकिक रस के रूप में स्वीकार किया है। भक्ति को शान्त के भीतर नहीं रखा जा सकता; क्योंकि शान्त निर्वेद या वैराग्य पर आश्रित है और भक्ति अनुराग पर।

भक्ति को रस-रूप में प्रतिष्ठित करनेवाले, मधुसूदन सरस्वती और रूप गोस्वामी हैं। इनके अनुसार भक्ति परमरसरूपा है। 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' में भक्ति रस दो प्रकार का माना गया है, प्रथम— मुख्य भक्ति रस, द्वितीय— गौण भक्ति रस। मुख्य भक्ति रस पाँच प्रकार का है— शान्त, प्रीति, प्रेम, वत्सल और मधुर तथा गौण रस सात प्रकार का है— हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक, वीभत्स। इनमें से प्रीति और प्रेम क्रमशः दास्य और सख्य भाव हैं। भक्ति का यह विवेचन आलम्बन के अलौकिकत्व के कारण है। फिर ईश्वर के प्रति भक्ति की भावना स्थायी भाव के रूप में मानव-संस्कार में प्रतिष्ठित होने से, भक्ति रस लौकिक दृष्टि से भी मान्य हो सकता है। उदाहरण—

तू दयालु दीन हौं तू दानि हौं भिखारी ।
हौं प्रसिद्ध पातकी तू पाप पुंज हारी ॥
नाथ तू अनाथ को अनाथ कौन मोसो ।
मों समान आरत नहिं आरति हर तोसो ॥
ब्रह्म तू हौं जीव हौं तू ठाकुर हौं चेरो ।
तात मातु गुरु सखा तू सब बिधि हित मेरो ॥

मोंहि तोंहि नाते अनेक मानिये जो भावै ।
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु चरन सरन पावै ॥

यहाँ पर ईश्वर के प्रति अनुराग, स्थायी भाव है। राम या ईश्वर आलम्बन हैं। उनकी दानशीलता, दयालुता, करुणा आदि उद्दीपन हैं। कथन, विनय आदि अनुभाव हैं। दैन्य, हर्ष, गर्व आदि संचारी भाव हैं। इस प्रकार यह भक्ति-रस का परिपाक है। इसी प्रकार—

बसौ मोरे नैनन में नँदलाल।
मोहिनी मूरति साँवरी सूरति, नैना बने बिसाल ।
अधर सुधारस मुरली राजति, उर बैजंती माल ।
छुद्रघंटिका कटि तट सोभित, नूपुर सब्द रसाल ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, भक्तबछ्ल गोपाल ॥

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि उत्कृष्ट कोटि के काव्य में इसका परिपाक अथवा भाव की सुन्दर अभिव्यक्ति है। रस-सिद्धान्त के भीतर भाव और कला दोनों ही पक्षों का सामंजस्य रसत्व की परिणति के लिए आवश्यक है। जिन कवियों ने अपनी रचनाओं से रसवृष्टि की है वे रससिद्ध कवि हैं जिनके लिए कहा गया है—

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः करीश्वराः ।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम् ॥

(च) औचित्य तत्त्व

भारतीय दृष्टिकोण से जिन पूर्वगामी मानदण्डों का विवेचन किया गया है उनके बीच तथा उन सबमें 'औचित्य' का विशिष्ट योग आवश्यक है। अनुचित अलंकार प्रयोग, अनुचित रीति, अनुचित उक्ति, अनुचित अर्थ तथा रस में अनुचित वर्णन— इन सबका सौष्ठव नष्ट कर देत हैं। अतः इन सिद्धान्तों में औचित्य का समावेश आवश्यक है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने इसी कारण औचित्य मत का प्रतिपादन कर उसे काव्य के प्राण के रूप में प्रतिष्ठित किया। उनका कथन है—

अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा ।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ॥

(*औचित्य विचारचर्चा*, पृ० 115)

इससे स्पष्ट होता है कि अलंकार और गुण तो अलग तत्त्व हैं, पर रससिद्ध काव्य की स्थिरता औचित्य तत्त्व पर ही निर्भर करती है, अतः औचित्य प्राण है। जब शरीर में प्राण है, तभी अलंकारों और गुणों की शोभा टिकती है तथा उसमें रस का संचार हो सकता है; पर प्राणों से रहित होकर उसमें उपर्युक्त कोई भी विशेषता नहीं रह जाती है। अतः मूल तत्त्व औचित्य है जिसके होने पर काव्य में अन्य विविध गुणों और चमत्कारों का विकास होता है। इसी बात को और पुष्ट करते हुए क्षेमेन्द्र ने इसे अतिसूक्ष्म तत्त्व के

रूप में प्रतिष्ठित किया है। वे कहते हैं—

महाकवेरप्यतिसूक्ष्मतत्त्व-विचार-हर्षप्रदमेतदुक्तम्॥

(*सुवृत्त तिलकम्*, 3। 39)

अतः औचित्य काव्य का अन्तरंग तत्त्व है। इसके बिना अन्य कोई गुण या विशेषता महत्त्वहीन हो जाती है।

इस औचित्य तत्त्व से रहित होने के कारण ही महाकवि कालिदास के द्वारा 'कुमारसंभव' महाकाव्य में 'शंकर-पार्वती' के श्रृंगार-वर्णन की निन्दा की गयी और गोस्वामी तुलसीदास को लिखना पड़ा—

जगत मातुपितु संभु भवानी। तेहि सिंगार न कहहुँ बखानी ॥

इसी औचित्य तत्त्व की अवहेलना करने पर केशवदासकृत रामचन्द्रिका के प्रकृति-वर्णन तथा वस्तुवर्णन तीव्र आलोचना के पात्र बने और उन्हें 'हृदय-हीन' कवि की उपाधि मिली। उन्होंने अपने चमत्कार के फेर में पड़कर राम के लिए कह डाला कि—''वासर की सम्पति उलूक ज्यों न चितवत'' अर्थात् विरह-व्यथित राम को उल्लू बना डाला। इतना ही नहीं प्रातःकालीन सूर्य का वर्णन करते हुए जहाँ उसे 'कमलिनी-प्राणनाथ,' लालमणि की किरणों के तागों से बुना हुआ इन्द्र का छाता, प्राची दिशारूपी सुन्दरी के मस्तक में 'सिन्दूर तिलक' कहा, वहीं उसे खून से भरा हुआ कापालिक काल का खप्पर भी कह डाला। सुन्दर वर्णन के बीच यह वीभत्स रूप अनुचित है। अतः औचित्य का ध्यान न रखने के कारण 'केशवदास' लांछित हो गये। पद्माकर की अनेक पंक्तियाँ अनुप्रास के अनुचित मोह के कारण शोभा-हीन हो जाती हैं। उदाहरणार्थ ''कूलन में केलि में कछारन में कुंजन में क्यारिन में कलिन कलीन किलकन्त है। कहै 'पदमाकर' परागन में पौनहू में पानन में पीकन पलाशन पगंत है।'' यहाँ 'पीकन' शब्द अलंकार के मोहवश है। उसका अर्थ औचित्यपूर्ण नहीं लगता।

आधुनिक युग के काव्य में भी इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं जहाँ औचित्य का ध्यान नहीं रखा गया और काव्य फीका पड़ गया है। मैथिलीशरणजी ने 'साकेत' में सूर्योदय का वर्णन करते हुए नवम सर्ग में लिखा है—

''सखि नील नभस्सर में उतरा यह हंस अहा! तरता तरता ।
अब तारक मौक्तिक शेष नहीं निकला जिनको चरताचरता ॥''

यहाँ पर 'नभस्सर' शब्द से निकलनेवाली ध्वनि अनुचित लगती है। इसी प्रकार हंस मोती चरता नहीं है, चुगता है। पशु घास चरते हैं, पक्षी दाना चुगते हैं, चरते नहीं।

इसी प्रकार 'नयी कविता' में शब्द-प्रयोग, लय, बिम्ब आदि की स्वच्छन्दता के कारण अनेक रूपों में अनौचित्य का बोलबाला है। कहीं रुचि को विकृत करनेवाले प्रसंग हैं, कहीं फूहड़ बिम्बों की योजना है और कहीं शब्दों के अनुचित प्रयोग। आज औचित्य पर जैसे विचार ही नहीं किया जाता। ग्राम्यत्व, अश्लीलत्व, विकृति आदि का चित्रण जैसे भरा पड़ा है। यथार्थवाद के नाम पर यह सब चल रहा है। यों जीवन में बदबू

भी है और खुशबू भी— यह सत्य है; पर हम बदबू को दूर रखना या हटाना चाहते हैं, अपनाना नहीं। सुन्दर और सुरुचि को ही हम जीवन में व्याप्त करना चाहते हैं। अत: कविता में उसी का आधिक्य होना चाहिए। कुरूप और वीभत्स का चित्रण साभिप्राय होना चाहिए। ऐसा न होने से औचित्य की भरमार आज की रचनाओं में दीखती है। यहाँ कुछ उदाहरण दे रहे हैं—

(1) सिर पर सूर्य
टीकाटीक दोपहरी
लू लपट बहुत ही गहरी।

यहाँ पर टीकाटीक के स्थान पर 'ठीकोठीक' होना चाहिए तथा 'गहरी' शब्द का प्रयोग लू लपट के लिए उचित विशेषण नहीं। 'दोपहरी' से तुक मिलाने के लिए 'गहरी' का प्रयोग किया गया है। लू लपट तीव्र, तेज या प्रखर हो सकती है।

(2) मुझ पर पत्थर रख दो
या पहाड़ से लुढ़का दो
मेरी जड़ में मट्ठे की नदियाँ इति कर दो।

यहाँ 'इति कर दो' पद उचित नहीं है। इसके स्थान पर 'उड़ेल दो', 'बहा दो' या 'रीती कर दो' जैसे मुहावरे चल सकते हैं।

इसी प्रकार कवि अपनी प्रेयसी के अधेड़ हो जाने पर उससे विकर्षण का अनुभव करता हुआ चित्रित करता है—

अब तुम— लो सुनो
रसोई में खदबदाती दाल तुम्हें बुला रही
आँगन में चिचियाती मुन्नी पुकार रही
जाओ भी
कुर्सी के पीछे से ऊपर लदो ना यों
जी मिचलाता है, गंध आती है
आटे-पसीने की।

यह वर्णनौचित्यहीन है। जो एक बार प्रिय हो चुकी है उसके प्रति यह भाव उचित नहीं कहा जा सकता। जीवन का यह पक्ष तो सदा ही रहता है, पर 'प्रेयसी' का पक्ष दूसरा है जो इसके साथ-साथ चलता है। उसे कवि ने चित्रित नहीं किया। इस पक्ष का चित्रण औचित्यपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

काव्य के सही रूप में प्रभावशील होने के लिए ही उसके विविध तत्त्वों में औचित्य का समावेश होना आवश्यक है। यों तो आचार्य भरत, भामह, दण्डी, रुद्रट, कुन्तक, आनन्दवर्धन आदि ने भी अपने काव्यशास्त्रीय विचारों में औचित्य की चर्चा की है, पर व्यापक और व्यवस्थित रूप से औचित्य तत्त्व का विवेचन आचार्य क्षेमेन्द्र ने ही किया है। आचार्य क्षेमेन्द्र के विचार से औचित्य की बड़ी व्यापकता है। इस तथ्य पर

प्रकाश डालते हुए उनका कथन है—

पदे, वाक्ये प्रबन्धार्थे गुणेऽलंकरणे रसे ।
क्रियायां कारके लिंग-वचने च विशेषणे ॥
उपसर्गे निपाते च काले देशे कुले व्रते ।
तत्त्वे सत्त्वेऽप्यभिप्राये स्वभावे सारसंग्रहे ॥
प्रतिभायामवस्थायां विचारे नाम्न्यथाऽशिषि ।
काव्यस्यांगेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम् ॥

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि औचित्य की व्याप्ति पद से लेकर प्रबन्ध और विचार तक हो सकती है। क्षेमेन्द्र के विचार से औचित्य के भेद हैं— पद, वाक्य, प्रबन्ध, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल, देश, कुल, व्रत, तत्त्व, सत्त्व, अभिप्राय, स्वभाव, सारसंग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम, आशीष के औचित्य-संयोजन-रूप। आज के संदर्भ में उपर्युक्त अनेक भेद व्यर्थ हो गये हैं— विशेष रूप से ये भेद संस्कृत काव्य में सार्थक थे, हिन्दी काव्य के क्षेत्र में सभी रूप सार्थक नहीं। अतः आज की दृष्टि से औचित्य को हम निम्नांकित प्रमुख भेदों में देख सकते हैं— पदौचित्य, वाक्यगत, प्रबन्धगत, अलंकारगत, रसगत, क्रियागत, विशेषणगत, देशकालगत, नामगत, प्रसंगगत, बिम्बगत और विचारगत औचित्य। इन भेदों पर हम संक्षेप में सोदाहरण विचार करेंगे।

पदगत औचित्य— जहाँ किसी पद के प्रयोग में विशेष औचित्य प्रगट होता है उसे पदगत औचित्य कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ—

अवधि-शिला का उर पर था गुरुभार ।
तिल-तिल काट रही थी दृग जलधार ॥

यहाँ पर अवधि-शिला, गुरुभार, तिल-तिल, जलधार— पद में चमत्कार है। 'धार' पद के प्रयोग में विशेष औचित्य है, क्योंकि काटने के लिए पैनी धार का भी अर्थ इससे फूटता है। इसी प्रकार—

बतरस लालच लाल के, मुरली दई लुकाय ।
सौंह करै, भौंहन हँसे, दैन कहै नटि जाय ॥

वाक्यगत— जहाँ किसी काव्य में वाक्य के प्रयोग का विशेष चमत्कार होता है, वहाँ वाक्यगत औचित्य है। यथा—

फागु की भी अभीरन में गहि गोविन्द लै गयी भीतर गोरी ।
भाई करी मन की पदमाकर ऊपर नाई अबीर की झोरी ।
छीनि पितम्मर कम्मर ते सु बिदा दई मीड़ि कपोलन रोरी ।
नैन नचाइ कही मुसकाइ लला फिरि आइयो खेलन होरी ॥

इसमें अन्तिम वाक्य का विशेष औचित्य है जिसका यह अर्थ निकलता है कि अब फिर होली खेलने का नाम न लेना। उपर्युक्त छन्द प्रबन्धगत औचित्य का भी उदाहरण है।

इसी प्रकार का उदाहरण है—

छीमियाँ दाना-रहित-सा साल पिछला दुबक गुजरा,
और सूखे सन्तरे सा, यह नया आया है पास ।
फट गया हो तला जिसका, वह सजीली टेकरी है ।
छूटती भी नहीं तीखी मिर्च-सी यह नौकरी ॥

प्रबन्धगत— जहाँ किसी कथा-प्रबन्ध के बाँधने के कारण विशिष्ट चमत्कार उत्पन्न होता है वहाँ प्रबन्धगत औचित्य मानना चाहिए। यथा—

आदमी-अँधेरा
दोनों ही साथ-साथ जनमे,
कितनी ही बातें दोनों के मन में?
किन्तु उन्हें कौन जान पाता?
आदमी अँधेरे का बड़ा अजब नाता!
रोशनी में आदमी को
झिझक बड़ी होती,
सोचता है क्या पहने पैंट या धोती?
रोशनी में सँभल-सँभल चलो
बात नहीं बनती,
लाज-शरम, विधि-निषेध
शिरा-शिरा तनती।

यहाँ पर आदमी का अँधेरे से अधिक गहरा नाता है, इस बात को सिद्ध करने के लिए प्रबन्ध बाँधा गया है। इसी प्रकार नीचे के उदाहरण में प्रात: काल के घाटी के दृश्य को मानवीय घटनाचक्र के प्रबन्ध में बाँधकर प्रस्तुत किया गया है—

प्रातधूप की जरतारी ओढ़नी लपेटे
अभी-अभी जागी
खुमार से भरी
नितान्त कुमारी घाटी
इस कामातुर मेघधूम के
औचक आलिंगन में पिसकर
रतिश्रांता-सी मलिन हो गई।

अलंकारगत— जहाँ अलंकार प्रयोग के द्वारा कोई वस्तु, भाव या विचार विशेष रूप से प्रभावशील हो उठता है वहाँ अलंकारौचित्य मानना चाहिए। उदाहरणार्थ—

वत्सल छाती सी पहाड़ियाँ
दूध पिलाने आतुरा
बच्चे-सा सूरज सो जाता
लेकर मुँह में आँचरा।

यहाँ पर उपमा और रूपक अलंकारों के कारण प्रकृति का मानवीकरण हो गया है जिससे काव्य में विशेष चमत्कार उपस्थित हो गया है। इसी प्रकार एक रूपक अलंकार का चमत्कार निम्नांकित पंक्तियों में देखा जा सकता है—

साँझ के सेंदुर लिये आकाश में
सरक आया क्षुधित बादल-व्याल
लपलपाती दीर्घ विद्युत जीभ जिसकी
तुहिन शिखरों पर विसुध सोयी हुई
स्वप्न-डूबी हर किरन को
चाट जाना चाहती है।

रसगत— जहाँ किसी रस के प्रयोग से काव्य की पंक्तियाँ विशेष रूप से प्रभावकारिणी हो जाती हैं वहाँ रसगत औचित्य मानना चाहिए। उदाहरण के लिए निम्नांकित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

ये फूल सेज के चरणों पर धर देने दो
मुझको आँचल में हरसिंगार भर लेने दो,
मिटने दो आँखों के आगे का अँधियारा
पथ पर पूरा-पूरा प्रकाश हो लेने दो
यह ठंडी-ठंडी रात उनींदा सा आलम
मैं नींद भरी सी चले नहीं जाना बालम।

उपर्युक्त पंक्तियों में शृंगार रस का चमत्कार है। इसी प्रकार करुण रस के चमत्कार से युक्त नीचे लिखी पंक्तियाँ देखिए—

दाने-दाने को तरस गयीं अगणित आँखें
दो बूँद दूध के लिए ललक
हिचकी लेकर हो गये मौन,
माताओं की छाती विदीर्ण, अवरुद्ध कंठ रह गयी कलख
बेबरसे बिखर गये कितनी साधों के घन
कृमि कीट सदृश
फुटपाथों पर
मनु की प्यारी संतान मिट गयी बिलख-बिलख।

क्रियागत— जहाँ पर क्रियापदों के प्रयोग से काव्य में विशेष चमत्कार और प्रभाव आ जाता है, वहाँ क्रियागत औचित्य माना जाता है। उदाहरणार्थ—

बता सखी अब क्या करूँ, रुपी रात से रार ।
भय खाऊँ, आँसू पिऊँ, मन मारूँ झख मार ॥

यहाँ पर अनेक क्रियापदों के प्रयोग से काव्य में चमत्कार आ गया है। इसी प्रकार—

अम्बर से बरस रहे रिमझिम
मनहरण निमंत्रण, आलिंगन, मीठी मनुहारें, विष चुम्बन।
कुंजों में छिप-छिप छेड़ रहा दोशीज़ा कलियों को फागुन॥

विशेषणगत औचित्य— जहाँ विशेषण पदों के प्रयोग से काव्य-पंक्तियों में विशेष चमत्कार उद्भासित हो जाये, वहाँ विशेषणौचित्य मानना चाहिए। आज की कविता में इसका विशेष प्रयोग देखने को मिलता है। इसके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

1. दुल्हन सा सजा हुआ ड्राइंग रूम
2. सीने में बीती यादों का दर्द ले—
   मैफ़िल के सूने फ़र्श सा मैं पड़ा हूँ।
   लहराती गाती टहनियाँ, चहचहाते बसेरे
   महकते फूलों को साथ ले आँधी तो चली गयी
   धरा पर असहाय ठूँठ सा मैं पड़ा हूँ।

देशकालगत औचित्य— जहाँ देश और काल के वर्णन से विषय में विशेष चमत्कार आ जाता हो वहाँ देशकाल-औचित्य होता है, यथा—

काले जंगल काले खेत, काली मिट्टी साँवरी
धूप फूल—दोनों ले आतीं, रातें ओढ़े कामरी।
सूरजमुखी हुआ दिन छूकर, मिट्टी लाल पठार की
साँझ पहिनती दिन डूबे, फरिया सपनों के तार की।
ऊपर धरती की छाती पर, फूल चूनर की लालिमा
बीज कोख में रखने वाली, नीचे रसमय कालिमा।
लुगड़ा छापेदार लाल, हँसली की चमके बीजरी
लहँगा स्याह कमर में पहिने, श्याम बरन की गूजरी॥

बिम्बगत औचित्य— जहाँ बिम्बों के संयोजन से उनके औचित्य द्वारा काव्य में विशेष चमत्कार आ जाता है वहाँ बिम्ब औचित्य माना जाता है। उदाहरणार्थ—

दूध से भीगे अभी तक चाँदनी के गात,
देह से चिपका बरफ-सा श्वेत शीत दुकूल,
नखत-वेणी में रहे उलझे जुही के फूल,
बहाये कुछ लहरियों के साथ दूर अकूल,
और यह शशि भेंट कमला ने किया जल-जात!
क्षीर सागर में नहाकर लौट आयी रात।

नाम औचित्य— जहाँ किसी विशिष्ट नाम के कारण अर्थ की विशेष व्यंजना होती हो वहाँ नाम औचित्य होता है। उदाहरण के लिए निम्नांकित पंक्तियाँ दी जाती हैं—

1. अमराई में दमयन्ती सी
   पीली पूनम काँप रही है।

2. आदम का पुत्र बहुत भटका अँधेरों में
चंगेजी न्यायों के खून भरे घेरों में।
3. द्रौपदी सी चीखती हैं नारियाँ निर्वस्त्र
जिनके चीर दु:शासन कहीं पर
फेंक आया खींचकर।

विचारगत औचित्य— जहाँ किसी विचार के कारण काव्य में विशेष चमत्कार आता है वहाँ विचारगत औचित्य होता है, ज़ैसे—

आज मुझे लगता संसार खुशी में डूबा
माँ ने पाया अपना धन ज्यों
बहुत दिनों का खोया
बहुत बड़ी कुँवारी लड़की को
सुघर मिला हो दूल्हा
मैल भरी दीवारों पर राजों ने फेरा चूना
किसी भिखारिन के घर में
बहुत दिनों पीछे, मन्द जला हो चूल्हा।

प्रसंगगत औचित्य— जहाँ किसी प्रसंग के संयोजन से अर्थ में चमत्कार आता है वहाँ प्रसंगगत औचित्य होता है, यथा—

1. लगता आज भी यह तेज चिनगारी
गिरी थी ज्यों उदास 'अशोक वन में'
मुद्रिका प्यारी।
2. क्या सुदामा के स्मरण से
कृष्ण की भी बात तुमको याद आई है?
और यदि हाँ,
तो भला फिर आज भी क्या रुक्मिणी काँपी नहीं।

ऊपर औचित्य के प्रमुख भेदों पर विचार किया गया है जो आधुनिक काव्य के संदर्भ में अधिक उपयोगी हैं। इनमें और इसी प्रकार हम अनेक रूपों में काव्य के अन्तर्गत औचित्य तत्त्व का समावेश देख सकते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि काव्य की कोई भी विशेषता या गुण क्यों न हो उसके सम्पादन में तथा उसे प्रभावशील बनाने में औचित्य का निर्वाह परमावश्यक है। इसीलिए भारतीय साहित्य में औचित्य का महत्त्व स्वीकार किया गया है। पाश्चात्य आलोचना के क्षेत्र में यद्यपि औचित्य का अलग से सिद्धान्त रूप में विवेचन नहीं हुआ है फिर भी प्राय: समस्त आचार्यों ने औचित्य का महत्त्व स्वीकार किया है। अरस्तू ने दृश्य, घटना, काल, भाषा के प्रयोग में औचित्य को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। लांजाइनस ने शब्द-प्रयोग के औचित्य को काव्यकला का प्राण माना है। होरेस ने भी घटना, छंद, भाषा आदि के औचित्य को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। इसी प्रकार दान्ते, पोप, मैथ्यू आर्नल्ड, आई० ए० रिचर्ड्स आदि ने भी औचित्य को अपने-अपने ढंग से स्वीकार किया है। अतएव काव्य में औचित्य का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है।

■■

7

साहित्यालोचन के मानदण्ड

(2) पाश्चात्य

[illegible]

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

विचारगत औचित्य— जहाँ किसी विचार के कारण काव्य में [illegible] आता है वहाँ विचारगत औचित्य होता है, जैसे—

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

[illegible] औचित्य— जहाँ किसी [illegible] के [illegible] वहाँ [illegible] औचित्य होता है, जैसे—

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

[illegible] औचित्यों के [illegible] पर विचार किया गया है वह आधुनिक [illegible] से अधिक उपयोगी है। इनमें और इसी प्रकार अन्य अनेक रूपों में काव्य [illegible] औचित्य तत्त्व का [illegible] देख सकते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि [illegible] विशेषता या गुण क्यों न हो उसके सम्पादन में तथा उसे प्रभावशाली बनाने में औचित्य [illegible] निर्वाह परमावश्यक है। इसीलिए भारतीय साहित्य में औचित्य का [illegible] विवेचन किया गया है। पाश्चात्य आलोचना के क्षेत्र में यद्यपि औचित्य का [illegible] निरूपण नहीं हुआ है फिर भी प्रायः समस्त आचार्यों ने औचित्य का [illegible] किया है। अरस्तू ने [illegible] भाषा के प्रयोग में औचित्य को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। [illegible] ने शब्द-प्रयोग के औचित्य की आवश्यकता का [illegible] औचित्य को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। [illegible] आदि ने भी औचित्य [illegible] किया है। [illegible] में औचित्य का पालन नितान्त आवश्यक है।

अध्याय 7

साहित्यालोचन के मानदंड : (2) पाश्चात्य

साहित्यालोचन के भारतीय मानदंडों के रूप में जिन विभिन्न काव्यसिद्धान्तों का वर्णन किया गया है वे काव्य की, शुद्ध कवित्व की दृष्टि से कसौटी प्रस्तुत करते हैं। इनके द्वारा हम अभिव्यक्ति की उत्कृष्टता या सौष्ठव को परख सकते हैं, परन्तु इनके अन्तर्गत आलोचना के लिए काव्य का रूपवादी पक्ष ही आया है, वस्तुगत या वस्तुवादी पक्ष की कसौटी इनके अन्तर्गत नहीं मिलती। इसका एक कारण है। इन सिद्धान्तों के प्रवर्तक आचार्यों ने कवित्व की शुद्ध स्थिति इसी रूपवादी पक्ष में ही देखी। उनके दृष्टिकोण से वस्तुगत विशेषता काव्य की विवेच्य वस्तु न होकर शास्त्र अथवा दर्शन की विवेच्य वस्तु है। उदाहरण के लिए यदि किसी काव्य-ग्रन्थ में भक्ति, शैवाद्वैत अथवा सामाजिक साम्य या राजनीति-कौशल का प्रतिपादन है, तो उसकी विवेचना हम इन विषयों से सम्बन्धित दर्शनों या शास्त्रों के आधार पर कर सकते हैं। उनके विश्लेषण में काव्यगत विशेषताओं का विश्लेषण संस्कृत के आचार्यों ने स्वीकार नहीं किया। हाँ, रस-सिद्धान्त के अन्तर्गत रसों और भावों के विश्लेषण में चारित्रिक विशेषता एवं सामाजिक पृष्ठभूमि का स्थान स्वीकार किया गया।

संस्कृत काव्यशास्त्र के इस रूपवादी या अभिव्यक्तिवादी पक्ष के आग्रह के कारण हिन्दी के भक्त-कवियों का दृष्टिकोण काव्य के प्रति भिन्न प्रकार से स्पष्ट होता है। कबीर चमत्कारी अत्युक्तिपूर्ण उक्तियों के कारण कवि को क़ोई महत्त्व नहीं देते। वे सत्य के उपासक और स्वानुभूति के प्रस्तुतकर्ता हैं, पर यह स्वानुभूति शाश्वत सत्य की है। वह मानव-मानव के ही नहीं, वरन् समग्र प्राणिमात्र के ऐक्य की खोज से सम्बन्ध रखती है। कबीर का अभिव्यंजना-चमत्कार लक्ष्य न रहने पर, हम उन्हें उनके वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन के आधारभूत सत्यान्वेषण के कारण कवि मानते हैं। इसी अर्थ में हमारे लिए वैदिक मन्त्रों के उद्‌गाता ऋषि भी कवि हैं।

गोस्वामी तुलसीदास ने भी भाषा और अभिव्यंजनापक्ष की अपेक्षा उसमें निहित वस्तुपक्ष को ही अधिक महत्त्व दिया है। उसका स्पष्ट कथन है—

भनिति भदेस बस्तु भलि बरनी। रामकथा मुद मंगल करनी ॥
कबित बिबेक एक नहिं मोरे। सत्य कहौं लिखि कागद कोरे ॥

साथ ही—

हरिहर जस सुरनर गिरहु, बरनत सुकवि समाज ।
हाँड़ी हाटक घटित चरु, राँधे स्वाद सुनाज ॥

उपर्युक्त सभी बातों से यह स्पष्ट होता है कि इन भक्तकवियों का मुख्य उद्देश्य जीवन

के सत्य से सम्बन्धित कुछ बातें कहना था; अत: उन्होंने अभिव्यक्ति की चमत्कृति की चिन्ता नहीं की। फिर भी अभिव्यंजना-कौशल इनकी रचनाओं में स्वत: सन्निविष्ट है।

अत: हमारे सामने किसी भी कृति के वास्तविक मूल्यांकन के हेतु आलोचना के मानदंड के रूप में दो पक्ष स्पष्ट होते हैं। एक तो अभिव्यंजना-सौष्ठव को देखता है और दूसरा उसमें प्रकट विचार, वस्तु अर्थात् वस्तुपक्ष (content) देखता है, और तीसरा उसमें व्यक्त भावपक्ष को। जिन महाकवियों— कालिदास, बाण, श्रीहर्ष, माघ, भारवि आदि— की रचनाओं को सामने रखकर संस्कृत के आचार्यों ने काव्यसिद्धान्तों का अन्वेषण किया है, उन कवियों की कृतियों में अभिव्यक्ति-सौष्ठव के साथ-साथ महान् विचार, भाव, चारित्र्य, सामाजिक स्थिति आदि का समावेश है। अत: उनकी महानता का मूलाधार वह वस्तुपक्ष या भावपक्ष है जो सुन्दर अभिव्यक्ति से मण्डित होकर इन महान् काव्यकृतियों के रूप में प्रकट हुआ है। अत: इस वस्तुपक्ष की नितान्त अवहेलना हम साहित्यालोचन के मानदंडों का विचार करते समय नहीं कर सकते हैं।

भारतीय कवियों और काव्य-शास्त्रियों ने काव्य-विवेचन के प्रसंग में वस्तुपक्ष का स्वतंत्र विवेचन नहीं किया। प्रबन्ध-काव्यों में भी कथा के संगठन का ही महत्त्व उनके विवेचन में है जो कला या रूपवादी पक्ष है; पर कथा का क्या संदेश है, उसका क्या सामाजिक या सांस्कृतिक महत्त्व है, उसमें जीवनगत कौन-सा महान् उपदेश देने की क्षमता है? इन विषयों का विवेचन हमें नहीं मिलता। कम-से-कम काव्य-विवेचन के सिद्धान्तों के अन्तर्गत इस पक्ष का अधिक विस्तार से उल्लेख प्राप्त नहीं होता। हाँ, भावपक्ष का विवेचन रस के प्रसंग में हुआ है।

पाश्चात्य साहित्य के अन्तर्गत विवेचना के क्षेत्र में कलावादी या रूपवादी तथा उपयोगितावादी या वस्तुवादी— दोनों ही विचारधाराओं का प्रवाह मिलता है। परन्तु, हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र में इन दोनों पक्षों से सम्बन्धित कोई भी काव्यसिद्धान्त इतना परिपूर्ण और विस्तृत रूप से स्पष्ट नहीं है जैसा कि भारतीय काव्यसिद्धान्त अलंकार, रस, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि हैं जिनमें काव्य-कला की सूक्ष्मातिसूक्ष्म बारीकियों पर विचार किया गया है। इतना ही नहीं, ये सिद्धान्त व्यापक रूप से काव्य की कसौटी या आलोचना के मानदण्ड के रूप में स्वीकृत और व्यवहृत किये गये हैं। ऐसा गौरव अरस्तू के काव्यसिद्धान्त को छोड़कर शायद अन्य किसी को प्राप्त नहीं हुआ है। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि काव्य या साहित्य की आलोचना के लिए रूपवादी और वस्तुवादी—दोनों ही परिपाटियों का सम्यक् विकास पाश्चात्य आलोचना के इतिहास में हमें मिल जाता है।

आलोचना के इन दोनों ही पक्षों में किसी भी सिद्धान्त का वैसा व्यापक विकास नहीं हुआ जैसा कि भारतीय काव्य-सिद्धान्तों का। फिर भी दोनों ही पक्षों में मानदण्ड के रूप में कुछ 'वाद' और सिद्धान्त ऐसे हैं जिन्हें आलोचना के मानदण्ड के रूप में आंशिक सम्मान साहित्य के क्षेत्र में प्राप्त हुआ। इनमें से ही हम प्रमुख वादों का परिचय यहाँ प्रस्तुत करेंगे। इनमें रूपवादी या कलावादी पक्ष के मानदण्ड के रूप में महत्त्वपूर्ण हैं— (क) बिम्बवाद, (ख) प्रतीकवाद, (ग) अभिव्यंजनावाद तथा वस्तुवादी पक्ष के मानदंड के रूप में मुख्य हैं— प्रगतिवादी यथार्थवाद या समाजवाद। और भाववादी पक्ष के अन्तर्गत काव्य-सम्बन्धी मनोवैज्ञानिक मत रखे जा सकते हैं।

(अ) कलावादी मानदण्ड

(क) बिम्बवाद (Imagism)

बिम्ब-रचना काव्य का मुख्य व्यापार है। बिम्बों के द्वारा कवि वस्तु, घटना, व्यापार, गुण, विशेषता, विचार आदि साकार तथा निराकार पदार्थों और मानसक्रियाओं को प्रत्यक्ष एवं इन्द्रियग्राह्य बनाता है। काव्य अपने इसी व्यापार में अन्य शास्त्रों या विज्ञानों से भिन्न है। बिम्ब को स्पष्ट करते हुए James R. Kreuzer ने अपने ग्रन्थ एलीमेण्ट्स आफ् पोइट्री (Elements of Poetry) में लिखा है—

The sensory appeals in poetry which we have been considering are usually referred to as images, an image being understood to be the mental or imagined representation of anything not actually present to the senses. (p. 119)

इससे स्पष्ट होता है कि बिम्ब किसी अप्रस्तुत वस्तु का मानसिक या काल्पनिक रूप है। काव्य सदैव अप्रस्तुत वस्तुओं का कल्पनागत वर्णन प्रस्तुत करता है अतः काव्य के अन्तर्गत रूपसृष्टि इसी बिम्बयोजना की क्रिया है। हम कह सकते हैं कि वस्तु, भाव या विचार को कल्पना एवं मानसिक क्रिया के माध्यम से इन्द्रियगम्य बनानेवाला व्यापार ही बिम्बविधान है। इस प्रकार काव्य के प्रसंग में किसी भाव या विचार को तथा किसी वस्तु, व्यक्ति या पदार्थ की विशेषताओं या रूपगुणों को इंद्रियगोचर एवं हृदयंगम बनाने के हेतु जो संप्रेषक स्पष्ट अप्रस्तुत रूपयोजना की प्रणाली अपनायी जाती है वह बिम्बवाद है। बिम्बयोजना काव्य का प्रधान व्यापार होने से, काव्य की कसौटी इसी के आधार पर बननी चाहिए, यह बिम्बवाद का आग्रह है। बिम्बयोजना की सफलता ही कवि की सफलता का मानदण्ड है। इस दृष्टि से यह बिम्बवाद साहित्यालोचन का एक मानदंड प्रस्तुत करता है, इसमें सन्देह नहीं।

किसी वस्तु, भाव या विचार को इन्द्रियगोचर बनाने के मूल व्यापार के साथ-साथ बिम्बयोजना अन्य कार्य भी सिद्ध करती है। उसके व्यापार निम्नलिखित प्रकारों में देखे जा सकते हैं—

(1) काव्यार्थ को पूर्णतया स्पष्ट करना[1]

वास्तव में किसी भी बात को समझने के लिए हमारा प्रारम्भिक कार्य उसे अपनी कल्पना में प्रत्यक्ष करना है। कोई भी गूढ़, दुरूह विचार हमें समझ में कठिनाई से ही आता है; पर यदि उसे रूपायित कर दिया जाय अर्थात् उसकी मुख्य विशेषता को स्पष्ट

---

1. Louis Macneice ने अपने ग्रंथ *Modern Poetry* में पृ० 90 पर लिखा है—
But often the image, as in Dante, is there to clarify or run home the meaning.

देखिये, *Elements of Poetry*, पृ० 20।

करनेवाली अप्रस्तुत वस्तुओं को प्रस्तुत कर उसके माध्यम से उसे समझाया जाय, तो वह शीघ्र और भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है। महान् कवि सूक्ष्म अनुभूति एवं कल्पनावाले होते हैं। अपने सूक्ष्म विचारों को प्रभावशाली रूप में सबको समझाने के हेतु वे बिम्बसृष्टि करते हैं और इस प्रकार हम भी उसकी सूक्ष्मता को समझ सकते हैं। जीवन क्षणभंगुर है, इस अर्थ को स्पष्ट करने के लिए जायसी ने रहटघटी का अप्रस्तुत विधान चुना। वे कहते हैं—

मुहमद जीवन जल भरन, रहट घटी कै रीति ।
घरी जो आई जल भरी, ढरी जनम गा बीति ॥

रहटघटी के व्यापार से जीवन का प्राण-सम्पन्न होना और उससे रहित हो जाने में प्राणहीन होने के व्यापार में समय की अल्पता को भलीभाँति स्पष्ट किया गया है। इसी प्रकार जयशंकर प्रसाद ने जीवन में सुख-दुःख दोनों की सहस्थिति को समझाते हुए लिखा है—

"लिपटे सोते थे मन में सुख दुख दोनों ही ऐसे ।
चन्द्रिका अँधेरी मिलती मालती कुंज में जैसे ।" (*आँसू*)

इस प्रकार बिम्बयोजना से अर्थ का स्पष्टीकरण होता है।

(2) भाव को संप्रेषित एवं उत्तेजित करना

अर्थ की स्पष्टता के समान ही, भाव की संप्रेषणा एवं उत्तेजना में बिम्बविधान का मुख्य हाथ रहता है। वास्तव में कवि अपने अन्तस् की तीव्र भावानुभूति को उसी तीव्रता के साथ दूसरों तक भी पहुँचाने के लिए व्याकुल हो उठता है। इसी छटपटाहट की स्थिति में वह बिम्ब-सृष्टि करता है[1]। उसकी सफलता इसी में है कि वह दूसरों के हृदयों में भी अपनी आग लगा दे, अन्यों को उत्तेजित कर दे। आध्यात्मिक साधना के लिए निर्वेद के तीव्र भाव जगाने के निमित्त कबीर कहते हैं—

कबिरा खड़ा बजार में, लिये लुकाठा हाथ ।
जो घर जालै आपना, चले हमारे साथ ॥

यहाँ लुकाठा की कल्पना से भाव की तीव्रानुभूति प्राप्त होती है।

इसी प्रकार कैकेयी के कुकृत्य की भर्त्सना करते हुए उसके प्रति घृणा के भाव को तीव्र करने के लिए भरत कहते हैं—

बर मागत मन भई न पीरा। गरि न जीह मुँह परे न कीरा ॥
जो पै कुरुचि रही अति तोही। जनमत काहे न मारेसि मोही ॥
पेड़ काटि तैं पालव सींचा। मीन जियन हित बारि उलीचा ॥

यहाँ बिम्ब-विधान से ही भाव की कटुता और तीव्रता हृदय में प्रवेश कर जाती है।

---

1. Macneice : Modern Poetry, पृष्ठ 111

(3) वस्तु या घटना को प्रत्यक्ष कराना

बिम्बयोजना का सबसे अधिक प्रभावी कार्य वस्तु या घटना को प्रत्यक्ष कराना है। इस कार्य द्वारा कल्पना तथा मन पर तुरन्त प्रभाव पड़ता है और वस्तु या घटना उस रूप में हमारे सामने उपस्थित हो जाती है जिस रूप में कवि उसे प्रत्यक्ष कराना चाहता है। बिम्बयोजना का यह एक सहज रूप है। इसी प्रक्रिया से कवि किसी चरित्र के व्यक्तित्व का भी प्रत्यक्षीकरण कराता है। जैसे—

कनक भूधराकार सरीरा। कुंभकरन आवत रनधीरा॥

यहाँ पर कुम्भकर्ण के व्यक्तित्व का प्रत्यक्षीकरण हुआ है। इसी प्रकार वस्तु के प्रत्यक्षीकरण का उदाहरण निम्नांकित है—

चारु चन्द्र की चञ्चल किरणें छिटक रही थीं जल-थल में ।
विमल चाँदनी बिछी हुई थी अवनि और अम्बरतल में ।
पुलक प्रकट करती थी धरती हरित तृणों की नोकों से ।
मानो झीम रहे थे तरु भी मंद पवन की झोंकों से ॥

यहाँ पर चाँदनी रात में प्रकृति का प्रत्यक्षीकरण प्रतिचित्रात्मक है। इसके अतिरिक्त दूसरे प्रकार के बिम्बरूप में भी हम इस प्रसंग में देख सकते हैं। उदाहरणार्थ—

आज हैं केसर रँगे वन,
रंजित शाम भी फागुन की खिली पीली-कली सी,
केसर के वसनों में छिपा तन,
सोने की छाँह सा,
बोलती आँखों में
पहिले वसन्त के फूल का रंग है। (*गिरिजाकुमार माथुर*)

यहाँ पर वन तथा तन और आँखों का बिम्बात्मक प्रत्यक्षीकरण है और यह बिम्बयोजना की दृष्टि से अधिक पूर्ण है।

(4) रूप, सौन्दर्य या गुण को हृदयंगम बनाना

रूप, सौन्दर्य और गुण का चित्रण काव्य में सर्वाधिक मिलता है। इस चित्रण के हेतु बिम्बविधान अत्यन्त सहायक होता है। प्राचीन काल से कवि इसका प्रयोग करते आये हैं। बिम्बयोजना की नव्यता इन चित्रणों में एक ताजगी भर देती है। इसके कुछ उदाहरण निम्नांकित हैं—

कुन्दन को रँग फीको लगै झलकै असि अंगन चारु गोराई ।
आँखिन में अलसानि चितौनि में मंजु बिलासनि की मधुराई ।

को बिनुमोल बिकात नहीं मतिराम लखे अँखियान लुनाई ।
ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि त्यों-त्यों खरी निकरे ह्वै निकाई ।
(*मतिराम*)

अरुण अधरों की पल्लव-प्रात
मोतियों सा हिलता-हिम-हास
इन्द्रधनुषी पट से ढँक गात
बाल विद्युत् का पावस-लास;
हृदय में खिल उठता तत्काल
अधखिले अङ्गों का मधुमास
तुम्हारी छवि का कर अनुमान। (*पन्त*)

वर्ण-सौन्दर्य का चित्रण देखिये—

अरुन बरन बरनि न परै, अमल अधर दल माँझ ।
कैधौं फूली दुपहरी, कैधौं, फूली साँझ ॥ (*मतिराम*)

गुण का चित्रण निम्नांकित पंक्तियों में देखा जा सकता है—

कोमल किशोर सुन्दरता की मैं करती रहती रखवाली;
मैं वह हलकी-सी मसलन हूँ जो बनती कानों की लाली । (*कामायनी*)

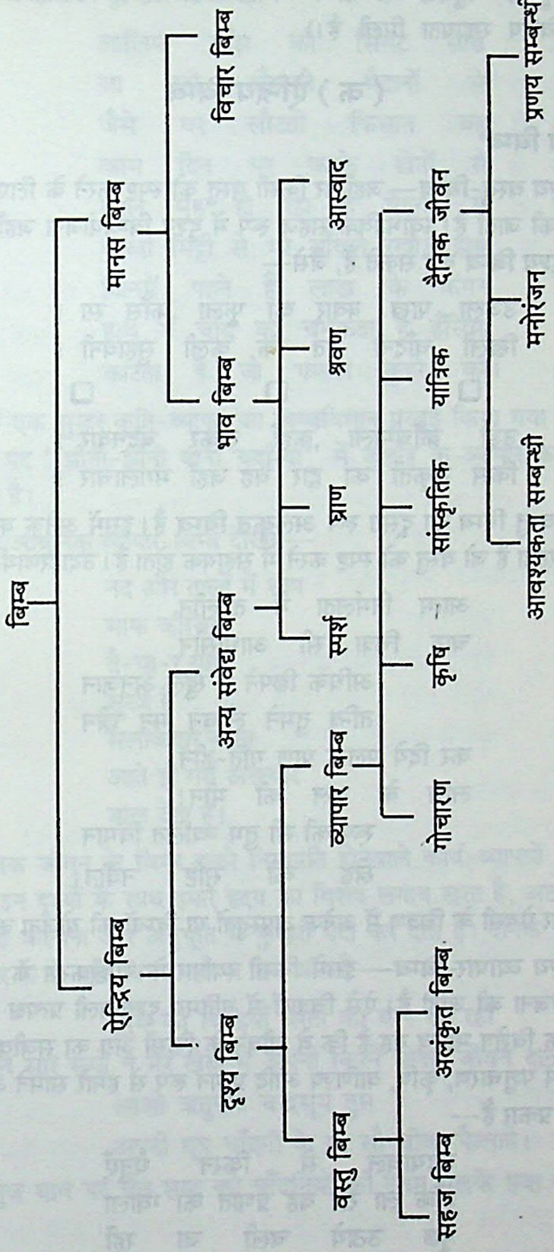
रामसखहिं गुरु बरबस भेंटा। ज़नु महि लुठत सनेह समेटा । (*मानस*)

यहाँ प्रथम में लज्जा और द्वितीय उदाहरण में नम्रता के गुण का प्रत्यक्षीकरण कराया गया है।

ऊपर बिम्बयोजना के प्रमुख कार्यों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। बिम्ब की विशेषता को प्रमुखतया मानसिक या ऐन्द्रिय किन्तु काल्पनिक अनुभूति के रूप में ही देखा गया है[1]। इस प्रकार की अनुभूति के अन्तर्गत दृश्य, श्रव्य, घ्राण्य, स्वाद्य, स्पर्श्य तथा अन्य मानस अनुभूतियों से सम्बन्धित सभी प्रकार के बिम्बों का समावेश हो सकता है। यद्यपि पाश्चात्य बिम्बवाद के अन्तर्गत ठीक इसी प्रकार का बिम्ब-विस्तार नहीं हुआ जैसा कि यहाँ पर दिया जा रहा है; फिर भी काव्य-रचना के भीतर सम्भव बिम्ब-विस्तार का मोटे तौर पर यह रूप हो सकता है—

---

1. Image is a revival, a reproduction by memory, in the mind, of some sensuous experience undergone in the past, including the visual, auditive, tactile and other impressions associated with it. –*Ronald Peacock : The Art of Drama*, पृष्ठ 96।


बिम्ब
मानस बिम्ब
ऐन्द्रिय बिम्ब
विचार बिम्ब
भाव बिम्ब
अन्य संवेद्य बिम्ब
दृश्य बिम्ब
आस्वाद
श्रवण
घ्राण
स्पर्श
व्यापार बिम्ब
वस्तु बिम्ब
दैनिक जीवन
यांत्रिक
सांस्कृतिक
कृषि
गोचारण
अलंकृत बिम्ब
सहज बिम्ब
प्रणय सम्बन्धी
मनोरंजन
आवश्यकता सम्बन्धी

यहाँ पूर्वोक्त बिम्बरूपों को स्पष्ट करने के लिए हम उदाहरण दे रहे हैं। (डॉ० शम्भूनाथ चतुर्वेदी के ग्रन्थ 'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता' से उदाहरण छाँटने में विशेष सहायता मिली है।)

(क) ऐन्द्रिय बिम्ब

(अ) दृश्य बिम्ब

1. दृश्य वस्तु-बिम्ब— जहाँ पर किसी वस्तु को स्पष्ट करने के लिए दृश्य बिम्बों की योजना की जाती है। स्वाभाविक सहज रूप में दृश्य बिम्बयोजना जहाँ पर होती है, उसे **सहज दृश्य बिम्ब** कह सकते हैं, जैसे—

उजला पाख क्वार का फूला काँस सा।
खिली चाँदनी रात कि कली सुहावनी।

❑ ❑ ❑

उड़ी क्रौंचमाला कहाँ लेकर बंदनवार।
किस सुकृती का द्वार वह जहाँ मंगलाचार॥

दृश्य वस्तु बिम्ब का दूसरा रूप **अलंकृत बिम्ब** है। इसमें अनेक कल्पनाओं का जमघट-सा रहता है जो वस्तु को स्पष्ट करने में सहायक होता है। उदाहरणार्थ—

आत्म निर्मलता में तल्लीन
चारु चित्रा सी आभासीन
अधिक छिपने में खुल अनजान
तन्वि तुमने लोचन मन छीन
कर दिये पलक प्राण गति-हीन
लाज के जल की मीन।
रूप की सी तुम ज्वलित विमान
स्नेह की सृष्टि नवीन। *(गुंजन)*

यहाँ पर प्रेयसी के चित्रण में अनेक अप्रस्तुतों या बिम्बों की योजना की गयी है।

2. दृश्य व्यापार-बिम्ब— इसमें किसी व्यापार के स्पष्टीकरण के लिए व्यापार बिम्ब की योजना की जाती है। ऐसे चित्रणों में गतिमय दृश्यावली प्रत्यक्ष होती है। इन दृश्यों का एक विशेष महत्त्व यह है कि वे जीवन के किसी अंग का सजीव चित्र प्रस्तुत करते हैं। इनमें पशुचारण, कृषि, वाणिज्य आदि प्रधान रूप से हमारे सामने आते हैं। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

उदयाचल से किरन धेनुएँ
हाँक ला रहा वह प्रभात का ग्वाला
पूँछ उठाये चली जा रहीं
क्षितिज जंगलों से टोली *(नरेश मेहता)*

यह गोचारण से सम्बन्धित व्यापार-बिम्ब है। इसी प्रकार कृषि से सम्बन्धित व्यापार-बिम्ब देखिये। दृश्य संध्या का है—

लालिमा साँझ की सिमट सारी
जा रही सँवलते मैदानों से
जैसे घर लौटती किसान बहू
काम दिन भर करके खेतों से
लाल मुँह हो रहा है मेहनत से
कच्ची मिट्टी से भरे साँवले रखौड़े हाथ
जिनमें पहने हैं लाख के कंगन
हाथ में चाँद का चमकता है हँसिया
काटता है जो फसल कुहरे की। (*धूप के धान*)

यहाँ एक सुन्दर कृषि-व्यापार का बिम्बविधान प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार कबीर के पद ''झीनी-झीनी बीनी चदरिया'' में जुलाहे के व्यापार का बिम्ब प्रस्तुत किया गया है।

एक आधुनिक व्यापार-बिम्ब देखिये—

नद और तालों में भाप
माफ कीजिये
तै-या-र यह
सूरज है
सलीकेदार ब्वाय
आते ही गर्म अखबार
डाल देता है।

दैनिक जीवन के बिम्ब हमारे नित्यप्रति होनेवाले कार्य-व्यापारों के दृश्य प्रस्तुत करते हैं। इन दृश्यों के साथ हमारे हृदय का विशेष लगाव रहता है, अत: उनका संकेत मात्र हमारी कल्पना और अनुभूति में फुरहरी पैदा कर देता है। दैनिक जीवन-सम्बन्धी इसी प्रकार के दो-एक बिम्ब यहाँ पर दिये जाते हैं—

धुँये की चिड़ियाँ धरती का धान खा रहीं
पिछले सारे सूर्यों ने मेरे खेतों में अपनी किरनें बोकर जीवन दान दिया था।
आओ ऋतुपति चन्द्रसूर्य तुम
अपनी धूप चाँदनी के सौ सौ चीवर फैलाते।
मनुज घाव पर चैत शरद की चाँदनियों की रेशम पलकें हवा कर सकें।
(*नरेश मेहता*)

❑ ❑ ❑

ऐसे ही चूल्हे जलें, राख यह रहे गरम
ऐसे ही भोग लगाते रहें महाबीरा
ऐसे ही उबले दाल, बटोई उफनाये
ऐसे ही चक्की पर गाये घर की मीरा,
ऐसे ही बदली छाये, कजली अकुलाये
ऐसे ही बिरहा बोल सुनाये साँवरिया
ऐसे ही होली जले दिवाली मुसकाये
ऐसे ही खिले-फले हरियाये हर बगिया।
इसलिए शपथ है तुम्हें तुम्हारे ही सर की
जिस रोज एशिया पर कोई बादल छाये,
वह शीश तुम्हारे ही हों जो सबसे पहले
दुश्मन के हाथों की तलवार मोड़ आये। *(नीरज)*

3. सांस्कृतिक बिम्ब— सांस्कृतिक बिम्ब अपनी निजी विशेषता रखते हैं। इनमें किसी व्यापार को स्पष्ट करने के लिए सांस्कृतिक क्रियाकलापों के चित्र प्रस्तुत किये जाते हैं। इन सांस्कृतिक बिम्बों का प्रभाव बड़ा ही पावन और उदात्त होता है। ये प्रसन्न बिम्ब एक स्वस्थ वातावरण प्रस्तुत करते हैं। उदाहरण के लिए—

धीरे धीरे
किसी मन्दिर की सीढ़ियों से बहाया हुआ,
भोले पानी पै तैरता चला आया उषा का दीपक,
पूर्व में भीड़ सितारों की लगी दबने। *(रघुवीर सहाय)*

समय देवता!
वही अजन्ता, जिसकी पत्थर की पलकों में अभी तलक भी,
एक आँख में भोग, एक में मुक्ति योग के सपने हँसते।
यह इमली का देश,
जहाँ कावेरी को वे लहर चूड़ियाँ सिन्धु पिन्हाता
अन्तरीप पर बैठी पत्नी पारबती वह ज्वार मृदंगम बजा रही है।
(नरेश मेहता)

(आ) अन्य संवेद्य बिम्ब

ऊपर दृश्य बिम्बों का परिचय दिया गया है। काव्य में प्रायः दृश्य बिम्बों की ही प्रधानता रहती है, परन्तु साथ ही साथ अन्य संवेद्य बिम्ब भी बराबर मिलते हैं जिनका सम्बन्ध नेत्र के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों से है। इनके अलग-अलग कुछ उदाहरण मात्र यहाँ दिये जाते हैं।

स्पर्श बिम्ब

ऊन सी यह धूप की गर्मी मुलायम
है खिला पाती न जीवन फूल को (माथुर)

❑ ❑ ❑

मानहु अगिन के उठहिं पहारा ।
औ झरि लागहिं अंग अँगारा ॥ (जायसी)

घ्राण बिम्ब

तपती जिन्दगी की उदास दोपहरी में
तुम खस की खुशबू की तरह
कमरे में आई थी । (नरेश मेहता)

जेहि यश परिमत मत्त, चंचरीक चारण फिरत ।
दिश विदिशन अनुरक्त, तु तौ मल्लिकापीड़ नृप ॥ (केशवदास)

श्रवण बिम्ब

हौले हौले की पदचाप
दबी पवन के साथ सुनाई पड़ती
तन्द्रिल अलकों का अटकाव
सुलझना फिर फिर साफ सुनाई पड़ता
चुप सोयी इस नयी चमेली के नीचे
नूपुर किसके मन्द लजीले बज उठते हैं
इतनी रात गये। (शकुन्तला माथुर)

सनसनाती साँझ सूनी
वायु का कठला खनकता
झींगुरों की खँजड़ी पर
झाँझ सा बीहड़ झनकता।
(धूप के धान—गिरिजाकुमार)

(ख) मानस बिम्ब

अभी तक हमने ऐन्द्रिय बिम्बों पर विचार किया है; पर बहुत-से ऐसे बिम्ब भी हैं जिनमें ऐन्द्रिय बिम्ब की उपस्थिति रहते हुए भी उनका प्रभाव इन्द्रियगत न होकर मन या चित्त पर अधिक होता है। ऐसी दशा में इन्हें मानस बिम्ब कहना अधिक उपयुक्त है। इन्द्रियगत बिम्बों के साधन से इनमें विचार-प्रेरणा अथवा भाव-संचार की प्रधानता रहती

है। इसी विशेषता के कारण इनमें वैचारिक या भावात्मक अनुभूति प्रमुख रहती है। उदाहरणार्थ एक मानस बिम्ब देखिये—

जल रहीं प्राचीनताएँ बाँध छाती पर मरण का एक क्षण।
इस अँधेरे की पुरानी ओढ़नी को बेधकर
आ रही ऊपर नये युग की किरण। (*हरिनारायण व्यास*)

इसी प्रकार—

यह सितारों से जड़ा नीलम नगर
बस तमाशा है सुबह की धूप का,
यह बड़ा-सा मुस्कराता चन्द्रमा
एक दाना है समय के सूप का। (*नीरज*)

उपर्युक्त विचार-बिम्ब आये हैं। अब आगे दो-एक भावबिम्बों के उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

मौन गगन मूक धरा
डोलती नहीं है हवा
प्रकृति पर छाया एक भेद भरा संताप
माँ जैसे बैठी हुई बेटे का छिपाये पाप। (*बच्चन*)

पकी निबौरी, हरे हो गये पीले पत्ते आम के,
लिये बादलों ने हाथों में हाथ झुलसती घाम के
भरे सरोवर कूप लग गईं नदियाँ सागर के गले,
खिले बाग के फूल, मिले आ पथिक सुबह के शाम के,
कैसे तुमसे मिलूँ मगर मैं जनम जनम के मीत ओ!
चुन रक्खा है मुझे साँस ने मिट्टी की दीवार में!
चुनरी तक का रंग उड़ गया सावन के त्यौहार में। (*नीरज*)

इसमें प्रेम और विरह का भाव बिम्बित हुआ है। इसी प्रकार—

जो भी दीप जला संध्या के आँगन में,
नहीं सुबह से उठकर नजरें मिला सका,
जो भी फूल खिला उपवन की डाली पर
नहीं साँझ को झूला हँसकर झुला सका,
मुझे न कोई नजर यहाँ ऐसा आता,
सुबह शाम के आगे जो बढ़कर गाता,
जिसने भी छेड़ा सितार यह साँसों का
गुंजन बन आया, क्रन्दन बन चला गया।

मेरे जीवन का सुख, दुख की दुनिया में
बचपन बन आया यौवन बन चला गया ॥ (नीरज)

उपर्युक्त पद में विषाद और करुणा को उभारनेवाले बिम्बों को सँजोया गया है, अत: इन्हें भावबिम्ब कहना ही अधिक उपयुक्त है।

इन भेद-प्रभेदों के आधार पर हम देख सकते हैं कि बिम्बवाद वास्तव में अप्रस्तुत योजना पर आधारित है; अत: इसका सम्बन्ध अलंकार-योजना से भी रहता है। काव्य में अप्रस्तुत-योजना का महत्त्व अत्यन्त व्यापक है। कविता का सारा आकर्षण इसी अप्रस्तुत विधान के सहारे ही एकत्र होता है। परन्तु बिम्बवाद में अप्रस्तुत योजना उद्देश्य है। इसका मुख्य सम्बन्ध अप्रस्तुत के द्वारा संप्रेषित प्रभाव से रहता है और उसी प्रभाव की परिधि या क्षेत्र के आधार पर बिम्ब के भेद-प्रभेदों का निरूपण किया जाता है। अप्रस्तुत बाहर के होते हैं फिर भी मन और इन्द्रियों से उनका सम्बन्ध है। अत: जहाँ पर बिम्ब-विभाजन बाह्य क्षेत्र-चयन के आधार पर है, वहाँ पर भी अलग-अलग मानस क्रिया-कलापों तथा संस्कारों से उनका सम्बन्ध रहता है।

अभिव्यंजनावाद की तुलना में हम बिम्बवाद को प्रभाववाद (Impressionism) से सम्बन्धित देख सकते हैं। अतएव मानस प्रभाव की विशेषता के कारण आज के मनोविश्लेषण-प्रधान साहित्य की भूमिका में भी हम इसे रख सकते हैं। बिम्ब-विश्लेषण इस प्रकार काव्यालोचना का एक मानदण्ड प्रस्तुत करता है।

(ख) प्रतीकवाद

प्रतीक— अपने रूप, गुण, कार्य या विशेषताओं के सादृश्य एवं प्रत्यक्षता के कारण जब कोई वस्तु या कार्य किसी अप्रस्तुत वस्तु, भाव, विचार, क्रियाकलाप, देश, जाति, संस्कृति आदि का प्रतिनिधित्व करता हुआ प्रकट किया जाता है, तब वह प्रतीक कहलाता है। यह प्रतीक-पद्धति सामान्य जीवन और व्यापक व्यवहार-क्षेत्र में भी प्रयुक्त होती है। राष्ट्रीय या धार्मिक झण्डा, सिक्का, लिपि, वृक्ष, फल, व्यक्ति आदि प्रतीक अर्थ में प्रतीक होते हैं। उदाहरणार्थ, तिरंगा झण्डा भारतीय राष्ट्र का, रुपया भारतीय सिक्के का, वटवृक्ष विद्या का, कमल भारतीय संस्कृति का तथा नागरी भारतीय लिपि का प्रतीक है। इसी प्रकार जयचन्द देशद्रोही का, शिवाजी स्वातन्त्र्य-संग्राम-सेनानी का, कालिदास कवि का, मीरा भक्त का, बृहस्पति ज्ञान का और गांधी शान्ति का प्रतीक है। यह प्रतीक-पद्धति सभी देशों और सभी कालों में प्रचलित रही है और किसी भी देश और काल के लिए नयी नहीं है, परन्तु यूरोपीय प्रतीकवाद 19वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में वहाँ की कला एवं साहित्य के अन्तर्गत एक विशिष्ट प्रवृत्ति के रूप में प्रकट हुआ। यह स्वयं प्रतिक्रिया-स्वरूप आया और इसकी भी प्रतिक्रिया हुई।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में यूरोप की वैज्ञानिक उन्नति के परिणामस्वरूप उस युग में यथार्थवादी दृष्टिकोण का तीव्रता से विकास हुआ। इस दृष्टिकोण का प्रभाव कला और साहित्य के क्षेत्र में सबसे अधिक दिखाई देता है। फ्रान्स

में कला के क्षेत्र में प्रभाववाद (Impressionism) और साहित्य के क्षेत्र में यथार्थवाद (Realism) तथा प्राकृतवाद (Naturalism) का प्रचार हुआ। अत: इन यथार्थवादी प्रवृत्तियों की आदर्शवादी प्रतिक्रिया के रूप में सन् 1870 और सन् 1885 ई० के बीच कला और साहित्य के क्षेत्र में प्रतीकवादी आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ। इसके परिणामस्वरूप कवियों और चित्रकारों ने बाह्य जगत् और जीवन का यथातथ्य चित्रण छोड़कर प्रतीकात्मक सन्दर्भों तथा अलंकरणों के द्वारा अपनी कल्पना के स्वप्निल आदर्शों को व्यक्त करना प्रारम्भ किया।

सन् 1886 ई० में कवि 'जीन मोरेआस' ने 'फिगारो' नामक पत्र में प्रतीकवाद का एक घोषणापत्र प्रकाशित कराया जिसमें उसने यह कहा कि प्रतीकवाद ही एक ऐसा शब्द है जो कला में सर्जनात्मक प्रवृत्ति को भलीभाँति व्यक्त करता है। विचार या भाव को संवेदनात्मक रूप प्रदान करना ही कला का प्रयोजन है। इस भावना को लेकर अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ। इसके उपरान्त अलबर्ट ओरिएंट ने 1891 में प्रकाशित एक लेख में प्रतीकवाद को स्पष्ट किया। उसने लिखा कि किसी भी कलाकृति के लिए निम्नांकित पाँच बातें आवश्यक हैं— (1) वह भावात्मक हो, क्योंकि उसका प्रयोजन एक भाव को व्यक्त करना है, (2) वह प्रतीकात्मक हो, क्योंकि वह भाव को रूपाकार के माध्यम से प्रकट करेगी, (3) वह संश्लेषात्मक हो, क्योंकि वह उन रूपाकारों को सामान्य प्रेषणीय उपकरण के रूप में घटित करेगी, (4) वह विषयीपरक हो, क्योंकि उसमें विषय, विषय के रूप में न आकर कलाकार द्वारा गृहीत भावसंकेत के रूप में होगा और (5) वह अलंकरणात्मक हो, क्योंकि उपर्युक्त विशेषताएँ ही आलंकारिक कला की विशेषताएँ हैं जैसा कि प्राचीन यूनानी, मिस्री आदि लेखक उसे समझते थे। इस प्रकार प्रतीकवाद ने एक आन्दोलन का रूप कला और साहित्य के क्षेत्र में ग्रहण किया।

यह प्रतीकवादी आन्दोलन हीगेल और शापेनहावर के आदर्शवादी दर्शनों से प्रभावित है। इसके प्रचारकों एवं समर्थकों में मुख्य कवि और कलाकार थे— एडगर ऐलन पो, वोदलेयर, बलैन, मलार्मे, रिम्बो आदि। इस प्रतीकवाद का प्रभाव जर्मनी, रूस, इंगलैण्ड और अमेरिका पर भी पड़ा। प्रसिद्ध आयरिश कवि ईट्स (W.B. Yeats) भी इससे प्रभावित हुआ था।

प्रतीक-विधान के अन्तर्गत दो बातें विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण मानी गयी हैं— एक विभिन्न अनुभूतियों या संवेदनाओं के बीच चुनाव करने की प्रक्रिया का ज्ञान और दूसरी इन अनुभूतियों को प्रभावित करनेवाली सांकेतिक वस्तु का चयन। अत: अभिप्रेत वस्तु, भाव या अर्थ का संकेत करने के लिए उपयुक्त आधार पर प्रतीक का चुनाव होता है। अर्थद्योतन की क्रिया में साम्य के कारण बिम्ब और प्रतीक में भ्रान्ति हो सकती है। पर दोनों में अन्तर है। जहाँ बिम्ब में वस्तु के निश्चित स्वरूप का संकेत रहता है वहाँ प्रतीक में सदैव अनिश्चित स्थिति की प्रधानता रहती है जैसा कि निम्नांकित वक्तव्य से भी स्पष्ट है—

"As defined by Hulme, therefore, an image is not unlike a symbol, both are solid analogies, but whereas our symbol, pre-

senting itself, suggest something indefinite, his image suggesting something almost as definite as itself, seems limited if not altogether assigned."[1]

यहाँ यद्यपि यह प्रकट किया गया है कि प्रतीकवाद के मूल में स्पष्टता और रहस्य प्रवृत्ति है और उसके प्रतिक्रिया-स्वरूप बिंबवाद में ठोस स्पष्टता का आग्रह अधिक है, पर इसमें मतभेद है। लुई मैकनीस का कथन है—

This is conscious reaction from Frence Symbolists but the Imagist's images in a vacuum seem no more concrete than the Symbolists floating suggestions.[2]

अतः अनिश्चयता का अन्तर, वास्तविकता नहीं। अनिश्चयता की स्थिति दोनों में ही है। कुछ विद्वानों का तो यह मत है कि प्रतीक एक वस्तु के लिए आने के कारण अधिक निश्चित संकेत देनेवाला है जबकि बिम्ब अनिश्चित व्यंजनाओं से युक्त है।[3]

उपर्युक्त विषय में मतभेद होने पर भी इसमें सन्देह नहीं कि बिम्ब-विधान के अन्तर्गत चित्रात्मकता एवं मूर्तिकरण या प्रत्यक्षीकरण की प्रवृत्ति प्रधान होने के कारण जो सहज संवेद्यता रहती है, प्रतीक-विधान में उसका अभाव रहता है। प्रतीक केवल संकेत करता है, जबकि बिम्ब उसे पूर्णतया प्रत्यक्ष या संवेद्य और ग्राह्य बना देता है। इसके अतिरिक्त प्रतीक अत्यन्त संक्षिप्त रहता है; परन्तु बिम्ब अधिक विवरणपूर्ण होता है और उपमेय को स्पष्ट करने के हेतु प्रयुक्त होता है अतः वह अधिक स्पष्ट होता है। भावना को प्रभावित करने और अनुभूति को उभारने की क्षमता बिम्ब में अधिक रहती है। प्रतीक में बौद्धिकता का पुट होने से उतनी प्रभाव-क्षमता उसमें नहीं रह पाती।

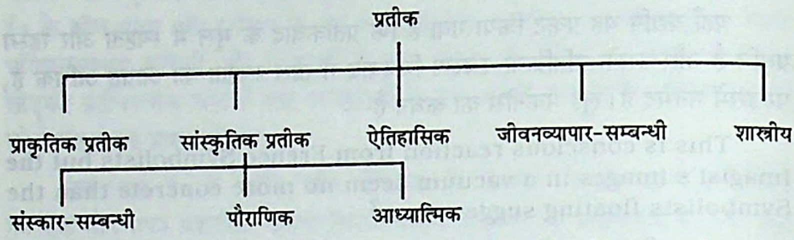
प्रतीकवाद के अन्तर्गत रहस्यवादी प्रवृत्ति अधिक पनपी। फ्रान्स के प्रसिद्ध कवि मलार्मे में रहस्यवादी अस्पष्टता एवं सांकेतिकता की प्रवृत्ति देखी जाती है। सांकेतिक होने के कारण तर्क एवं स्थूल भाव-चित्रण का तिरस्कार हुआ जिसके परिणामस्वरूप इसमें जीवन में पलायन की प्रवृत्ति आ गयी। बिम्बवाद इसकी प्रतिक्रिया में उठा हुआ वाद था, जो स्पष्टता का उद्देश्य लेकर पल्लवित हुआ। सामाजिक दृष्टि से प्रतीकवादी कविता भाव-संप्रेषण में सक्षम न होने के कारण अधिक उत्कृष्ट न समझी गयी और ह्रासोन्मुखी (decadent) कहकर इसका तिरस्कार हुआ।

फिर भी प्रतीक-विधान का यह सीमित एवं प्रतिक्रियात्मक उपयोग था। उसका अधिक स्वस्थ उपयोग भी हो सकता है और भारतीय काव्यपरम्परा में कबीर जैसे रहस्यवादी कवियों ने रहस्यानुभूतियों को व्यक्त करने के लिए बड़े सबल प्रतीकों की सृष्टि की है। इसमें सन्देह नहीं कि इसका उपयोग अधिक व्यापक भूमि पर नहीं हो सकता। इसका प्रयोग एक विशिष्ट आवश्यकता एवं संकेतगर्भ-स्थिति में ही किया जाता

---

1. Willian York Tindall : *The Literary Symbol*, पृ० 193
2. Louis Macneice : *Modern poetry*, पृ०9
3. The Literary Symbol, पृ० 104

है। काव्य में विस्तृत एवं स्वस्थ प्रयोग की भूमि को समक्ष रखकर प्रतीक-योजना का सम्भव विस्तार निम्नलिखित प्रकार से देखा जा सकता है—



काव्य में नूतन क्षेत्रों के समावेश के साथ-साथ प्रतीक-योजना का विस्तार भी देखा जा सकता है; अतः उपर्युक्त रूप वे हैं जो काव्य में बहुशः प्रयुक्त होते हैं। इन रूपों को हम उदाहरण देकर स्पष्ट करेंगे।

1. प्राकृतिक प्रतीक— प्राकृतिक प्रतीकों में निसर्ग या प्रकृति के पदार्थ या प्राणी जब किसी भावना या विचार का प्रतिनिधित्व करते हुए चित्रित किये जाते हैं।

उदाहरणार्थ—

कमल तुम्हारा दिन है
और कुमुद यामिनी तुम्हारी है।
कोई निराश क्यों हो
आती सबकी समान बारी है। (*गुप्त*)

यहाँ पर कमल इस समय सुखी का और कुमुद दुःखी का प्रतीक है। इसी प्रकार कुछ अन्य उदाहरण निम्नलिखित हैं—

पतझड़ था झाड़ खड़े थे
रूखी सी फुलवारी में,
किसलय नव कुसुम बिछाकर
आये तुम इस क्यारी में।

यहाँ पर पतझड़ विपन्न परिस्थिति का, झाड़ दुष्टों का, फुलवारी जीवन या परिवार का, किसलय नवकुसुम, मधुरता और आनन्द का तथा क्यारी हृदय का प्रतीक है। इसी प्रकार—

बन्द मेरी पुतलियों में रात है,
हास बन बिखरा अधर पर प्रात है,
मैं पपीहा मेघ क्या मेरे लिए
जिन्दगी का नाम ही बरसात है।

यहाँ पर रात निराशा का, प्रात नवीन जीवनस्फूर्ति का, पपीहा प्रेमी का, मेघ प्रिय

का तथा बरसात विषादमय, करुणामय स्थिति का प्रतीक है। एक अन्य प्राकृतिक प्रतीक का उदाहरण—

बहुत बार आई-गई यह दिवाली
मगर तम जहाँ था वहीं पर खड़ा है,
बहुत बार लौ जल बुझी पर अभी तक
कफन रात का हर चमन पर पड़ा है।
न फिर सूर्य रूठे, न फिर स्वप्न टूटे
उषा को जगाओ, निशा को सुलाओ
दिये से मिटेगा न मन का अँधेरा
धरा को उठाओ, गगन को झुकाओ। (*नीरज*)

प्राकृतिक प्रतीक का यह एक सुन्दर उदाहरण है। यहाँ पर दिवाली ज्ञानशिक्षा का, तम अज्ञान का, रात निराशा का, सूर्य भगवान का, उषा नवजागृति और उत्साह का, निशा अकर्मण्यता का, दिया लौकिक रूढ़िवादी ऊपरी शिक्षा-पद्धति का, धरा लौकिकता का तथा गगन आध्यात्मिकता का प्रतीक बनकर आया है।

2. सांस्कृतिक प्रतीक— जिसमें संस्कृति से सम्बन्धित प्रतीकों का प्रयोग किया गया हो। इसके अनेक रूप हो सकते हैं। रामायण, महाभारत, पुराणों से सम्बन्धित, बौद्ध-जैन-इस्लाम-इसाई संस्कृतियों के प्रतीक आदि इनके अन्तर्गत आ सकते हैं; परन्तु मोटे तौर पर हम इनके तीन वर्ग कर सकते हैं— (क) संस्कार-सम्बन्धी, (ख) पौराणिक, (ग) आध्यात्मिक।

संस्कार-सम्बन्धी प्रतीकों में जन्म, बधाई, उपनयन, विवाह, उत्सव आदि से सम्बन्धित प्रतीकों का प्रयोग किया जाता है, जैसे—

दुलहिनी गावहु मंगलचार।
हम घर आये राजाराम भरतार।
तन रत करि मैं मन रत करिहौं,
पंच तत्त्व बराती।
रामदेव सँग भाँवरि परिहै
मैं जोबन मदमाती। (*कबीर*)

यहाँ दुलहिन आत्मा का, भरतार परमात्मा का, भाँवरि या विवाह भक्ति भावना की तन्मयता का प्रतीक है। निम्नलिखित उदाहरण में सांस्कृतिक प्रतीक पद्धति के कई रूप देखने को मिलते हैं—

कर रहा नृत्य विध्वंस, सृजन के थके चरण,
संस्कृति की इति हो रही, क्रुद्ध हैं दुर्वासा,
बिक रही द्रौपदी नग्न खड़ी चौराहे पर,
पढ़ रहा किन्तु साहित्य सितारों की भाषा,

तुम गाकर दीपक राग जगा दो मुर्दों को,
मैं जीवित को जीने का अर्थ बताऊँगा ॥
तुम दीवाली बनकर जग का तम दूर करो,
मैं होली बनकर बिछुड़े हृदय मिलाऊँगा ॥ *(नीरज)*

यहाँ पर दुर्वासा और द्रौपदी पौराणिक प्रतीक हैं, तथा दीपक, राग, दिवाली और होली संस्कार और उत्सव-सम्बन्धी प्रतीक हैं।

पौराणिक प्रतीकों का काव्य में बहुत अधिक प्रयोग होता है और उन प्रतीकों के द्वारा भाव और विचार-संप्रेषण सहज होता है। ये प्रतीक रामायण, महाभारत, पुराणों आदि से लिये जाते हैं। उदाहरण के लिए कुछ छन्द यहाँ दिये जाते हैं—

क्या न मानव सभ्यता की भूमिजा पावन ?
क्या न इसको कैद में डाले हुए रावण ?
पर न बँधता जा रहा क्या सेतु रामेश्वर ?
स्वर्ण लंका और अणु के अस्त्र की माया।
दर्पमति लंकेश फिर सब विश्व पर छाया ।
किन्तु नवयुग रवि उदय से हारते निशिचर । *(नरेन्द्र शर्मा)*

मैं हूँ भरत तुम शकुन्तला
कहाँ है दुष्यन्त, माँ,
यह है तीर तरकस में
सभी विष बुझे खाली

❑ ❑ ❑

साहित्य दुर्वासा का महाशाप
ओ भरत सहन कर चुपचाप
दुष्यन्त की अँगूठी को
इस युग में मछलियाँ नहीं निगलतीं
वह बन्धक धरी जाती हैं। *(लक्ष्मीकान्त वर्मा)*

आध्यात्मिक प्रतीक के उदाहरण निम्नांकित हैं—

गगन गरजि बरसै अमी, बादर गहिर गँभीर ।
चहुँ दिसि दमकै दामिनी, भीजै दास कबीर ॥

यहाँ पर गगन शून्य मंडल का, गरजना अनाहत नाद का, बादल आत्मानुभूति का, दामिनी ज्योति का और भीजना आनन्द का प्रतीक है। इसी प्रकार—

स्वर्ग द्वार फिर खोल उषा ने
स्वर्ण विभा बरसाई।

यहाँ पर उषा ऊर्ध्व आध्यात्मिक चेतना का और स्वर्ण विभा अलौकिक आनन्द का प्रतीक है।

3. ऐतिहासिक प्रतीक— इतिहास के व्यक्ति और घटनाएँ जब किसी विशिष्ट भाव, विचारादि का प्रतिनिधित्व करती हुई वर्णित की जाती हैं, तब वहाँ हमें ऐतिहासिक प्रतीक प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ—

सत्य है राजा हर्षवर्धन के हाथों से मिला हुआ
पान का सुगन्धित एक लघु बीड़ा
(चाहे वह झूठ हो पर उस पर लगा हुआ वर्कदार सोना था।)
हाय बाणभट्ट! हाय
तुमको भी, तुमको भी, आखिर यही होना था।

यहाँ पर हर्षवर्धन वैभव-संपन्न, उच्चवर्गीय शासक का तथा बाणभट्ट कवि का प्रतीक है।

इसी प्रकार—

खूब चले आँधी,
नेह डोर बाँध,
नहीं जार नीरो हम
बुद्ध और गाँधी। *(वीरेन्द्र मिश्र)*

यहाँ पर जार, नीरो अत्याचारी हिंसकों के तथा बुद्ध, गाँधी शांति का संदेश देने-वाले अहिंसकों के प्रतीक बनकर आये हैं।

4. जीवन-व्यापार-सम्बन्धी प्रतीक— ये ऐसे प्रतीक हैं जिनमें जीवन से सम्बन्धित क्रिया-कलापों और दैनिक घटनाओं को प्रतीक बनाकर प्रयुक्त किया जाता है। उदाहरण के लिए—

देख तेरे देश के सिर पर खड़ा ऊँचा हिमालय
जो अभी तक है अजेय।
प्रतिनिमिष नित हिम प्रभंजन
क्रुद्ध साँपों से विकट फूत्कार करते
तिलमिलाते क्रोध से
पथ में मिला सब कुछ चबाते
भीति छाते
किन्तु उसने की कभी परवाह उनकी?
वह सभी का क्रोध
तम-सा कन्दरा में मूँदकर निश्चिन्त सोता।

तू स्वयं निज देश की शुभ भावना का है
हिमालय! (*हरिनारायण—नेहरू के प्रति*)

यहाँ पर हिमालय नेहरू का, हिम, प्रभंजन, चीन तथा अन्य देशों की धमकियों तथा आक्रमणों के प्रतीक हैं।

इसी प्रकार—

जतन बिनु मिरगनि खेत उजारे।
टारे टरत नहीं निसि बासुरि, बिडरत नाहिं बिडारे ।
अपने अपने रस के लोभी करतब न्यारे न्यारे ।
अति अभिमान बदत नहिं काहू बहुत लोग पचि हारे ॥
बुधि मेरी किरषो गुरु मेरो बिझुका अक्खिर दोइ रखवारे ।
कहै कबीर अब चरन न देहौं बेरियाँ भली सँभारे ॥

यहाँ पर मृग इन्द्रियों और वासनाओं के प्रतीक हैं, खेत साधना और ज्ञान के तथा रस विषय के प्रतीक बनकर आये हैं। इसमें मृगों का खेती चर जाने का व्यापार ही प्रतीक रूप में उपस्थित हुआ है।

5. शास्त्रीय या वैज्ञानिक प्रतीक— इन प्रतीकों का क्षेत्र-विस्तार किसी शास्त्र या विज्ञान में होता है। राजनीति, समाजशास्त्र, मनोशास्त्र, भौतिकशास्त्र, रसायन, जीव-विज्ञान आदि से जब हम प्रतीक चुनते हैं, तब वे शास्त्रीय या वैज्ञानिक प्रतीक की कोटि में आते हैं। उदाहरण के लिए—

नया चाँद आया नया चाँद आया।
नये चाँद ने इस तरह सर उठाया
कि सब कह उठे लो नया चाँद आया।
नया चाँद छोटा अँधेरा बड़ा है
नया चाँद फिर भी अकेला खड़ा है।

यहाँ पर नया चाँद साम्यवाद का प्रतीक और अँधेरा पूँजीवाद का प्रतीक है। इसी प्रकार का एक दूसरा उदाहरण—

ओ इस्पात के सत्य
मनुष्य की नाड़ियों में बह,
उसके पैरों तले बिछ,
लोहे की टोपी बन
उसके सिर पर मत चढ़
सिर पर फूलों का मुकुट ही शोभा देता है।

स्वप्नों से घर की नींव
पड़ सकती है,
इस्पात गलाकर नहीं पिया जा सकता!
फूल ही पात्र है
जिनसे मधु पिया जाता है।
मैं ही हूँ वह मधु
जिसे प्रकृति ने
असंख्य फूलों से चुना है!
जिसमें सभी आकाशों का
सुनहरा मरंद है।
ओ इस्पात के तथ्य
मैं तेरा जूता पहन
दृढ़ संकल्प के चरण बढ़ाऊँगा—
पर तुझे
मूर्धन्य स्थान
नहीं दे सकता!
तू साधन बन
साध्य न बन! (पन्त—'*कला और बूढ़ा चाँद*' से)

इस कविता में इस्पात आधुनिक विज्ञान और यान्त्रिकता का प्रतीक है और फूल मानवता तथा साहित्य-संस्कृति का प्रतीक है। विज्ञान साधन है, पर मानवता और संस्कृति साध्य है, यही कवि के कथन का लक्ष्य है।

उपर्युक्त प्रकार से मोटे तौर पर प्रतीक के विविध रूपों को समझा जा सकता है। प्रतीक का प्रभाव पड़ता है, पर उसका ठीक और निश्चित अर्थ पकड़ना कठिन कार्य होता है। प्रतीक द्वारा सामान्य बात में भी एक विशेष गौरव आ जाता है। सम्यक् प्रतीक-चयन किसी भी कवि-प्रतिभा की अपनी विशेषता होती है। ऐसे कवि के मन में प्रतीक-योजना सहज रूप से होती रहती है।

यों प्रतीक द्वारा प्रायः सूक्ष्म एवं विशिष्ट अनुभूतियों को सहज ग्राह्य बनाने का प्रयत्न किया जाता है, जैसा कबीर आदि की आध्यात्मिक अनुभूति की प्रतीक-योजना में देखने को मिलता है, परन्तु अनुभूत जीवन तथा परिचित एवं ज्ञात सिद्धान्तों की भी अभिव्यक्ति प्रतीक द्वारा अधिक स्मरणीय एवं चमत्कारिक होती है। अतः प्रतीक सामान्यतया ह्रासोन्मुखी काव्य का स्वरूप नहीं, जैसा कि यूरोप के प्रतीकवाद को कहा गया है। प्रतीक-पद्धति पर भी किसी युग के काव्य का मूल्यांकन किया जा सकता है। भारतीय दृष्टिकोण से यह साध्यवसाना लक्षणा का एक विकसित रूप है और इसका अपना शैलीगत महत्त्व है।

(ग) अभिव्यंजनावाद

अभिव्यंजनावाद की काव्यशास्त्र के अन्तर्गत तथा वादों के रूप में काफी चर्चा हुई है; पर क्रोचे का अभिव्यंजनावाद, काव्य का एक दर्शन (Philosophy of Poetry) प्रस्तुत करता है। यह वास्तव में काव्य को देखने की एक दृष्टि प्रदान करता है जिसके द्वारा यूरोप में कलावादी आंदोलन को बहुत बड़ा बल मिला; परन्तु उसमें साहित्य या कविता की कसौटी के रूप में कोई मानदण्ड हमें प्राप्त नहीं होता जिसके आधार पर सूक्ष्मता और विशदता के साथ काव्य की विशेषताओं की विस्तृत परीक्षा कर सकें, ऐसी दशा में जिस प्रकार अलंकार, रीति, ध्वनि तथा बिम्बवाद प्रतीकवाद इस दृष्टि से हमारे लिए महत्त्व रखते हैं, वैसा महत्त्व अभिव्यंजनावाद नहीं रखता।

कुछ लोगों ने अभिव्यंजनावाद की तुलना कुन्तक के वक्रोक्तिवाद से की है; परन्तु ऐसा करना उचित नहीं। दोनों का दृष्टिकोण भिन्न है, साथ ही दोनों का क्षेत्र भी भिन्न है। अतः कुन्तक का वक्रोक्तिवाद जिस प्रकार काव्य की एक कसौटी बनकर हमारे सामने आ सका है, अभिव्यंजनावाद वैसा नहीं कर सका। कुन्तक जहाँ कविता का मुख्य तत्त्व या प्राण विक्रोक्ति को मानते हैं इस प्रकार कविता के विविध रूपों में, उसके विशिष्ट सौन्दर्य में, वक्रोक्ति के विभिन्न रूपों का विश्लेषण करते हैं, वहाँ क्रोचे की कविता अभिव्यंजना है; इस दृष्टि से वह अभिव्यंजना की सृजन-प्रक्रिया की, जो प्रत्येक कला की सृजन-प्रक्रिया है— मीमांसा प्रस्तुत करता है। इस प्रकार काव्य-रचना किस प्रकार होती, उसका एक विश्लेषण अभिव्यंजनावाद है, जब विरचित या उपलब्ध काव्य में सौन्दर्य के विविध तत्त्व क्या हैं, उनके रूप में वक्रोक्ति के विभिन्न प्रकारों का निरूपण कुन्तक का ध्येय है। अतः दोनों में अन्तर है, फिर भी एक बात में साम्य देखा जा सकता है और वह यह कि दोनों ही आचार्य अपने सिद्धान्तों तथा उनके प्रतिपादन, विश्लेषण और विवेचन में अद्वितीय मौलिकता रखते हैं।

अभिव्यंजनावाद काव्य और कला के स्वरूप-विश्लेषण का एक व्यक्तिवादी सिद्धान्त है जिसका निरूपण बेनेदेतो क्रोचे ने अपने ग्रन्थ 'थियरी ऑफ इस्थेटिक' में किया है। इस सिद्धान्त के द्वारा यूरोप में बहुत कुछ कलावाद या कला कला के लिए है, इस मत के समर्थन की आधारभूमि तैयार हुई। क्रोचे इटली का एक अति प्रतिभा-सम्पन्न दार्शनिक एवं मौलिक विचारक था। इसका समय सन् 1866 से 1942 तक रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी का रोमैन्टिकवाद भी इससे प्रभावित हुआ और उसको काव्य और कला के क्षेत्र में विशेष पोषण प्राप्त हुआ। आगे चलकर इस सिद्धान्त को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से असत्य सिद्ध करने के द्वारा इसका विरोध भी हुआ है। यहाँ हम संक्षेप में क्रोचे के अभिव्यंजनावाद नामक काव्य-सिद्धान्त की रूपरेखा प्रस्तुत कर रहे हैं।

क्रोचे ज्ञान के दो रूप मानता है। एक सहज ज्ञान और दूसरा बुद्धि-उपलब्ध ज्ञान। प्रथम को हम प्रज्ञा या प्रतिभा और द्वितीय को प्रमा कह सकते हैं। प्रथम कल्पना द्वारा

प्राप्त होता है और द्वितीय तर्क एवं विचार द्वारा[1]। सहज ज्ञान का सम्बन्ध काव्य और कलाओं से है और बुद्धि या तर्कलभ्य ज्ञान या प्रमा का सम्बन्ध विज्ञान, शास्त्र और दर्शन आदि से है। प्रत्येक सहज ज्ञान या कल्पनालब्ध ज्ञान कोई व्यक्ति या रूपाकार होता है, गुण या सामान्य विशेषता नहीं। अतएव शुद्ध सहज ज्ञान अपने आप में एक अभिव्यक्ति है; क्योंकि वह बिम्बात्मक है। अत: बौद्धिक क्रिया की अपेक्षा सहज मानसक्रिया में सहज ज्ञान उसी मात्रा में प्राप्त होता है जिस मात्रा में वह अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार सहजानुभव प्राप्त करना अभिव्यंजना है, न उससे कम न उससे अधिक। सहज ज्ञान कल्पना पर पड़े प्रभाव की अभिव्यक्ति के रूप में है और क्रोचे के विचार से कल्पना पर पड़े विचार की अभिव्यक्ति ही कला है। अत: निष्कर्षत: कला सहजानुभूति है और कला या अभिव्यंजना के उपर्युक्त विश्लेषण से यह प्रकट होता है कि अभिव्यंजनावाद— कलावाद, बिम्बवाद, भाववाद आदि वादों के मूल में है।

क्रोचे की एक और विलक्षण स्थापना है कि सभी मनुष्य कवि हैं— कुछ बड़े और कुछ छोटे[2]। जिनकी सहजानुभूति या अभिव्यंजना पूर्ण है वे बड़े कवि हैं जिनकी अपूर्ण है वे छोटे। अभिव्यंजना, कला या काव्य एक सौन्दर्य-सृष्टि है। इस सृजन की प्रक्रिया की चार अवस्थाएँ हैं[3]। प्रथम कला पर पड़ा प्रभाव जिसे भारतीय रसशास्त्र के अनुसार वासना या संस्कार कहा जा सकता है; द्वितीय अभिव्यक्ति या मानसिक सौन्दर्यात्मक संश्लेषण; तृतीय सौन्दर्यानुभूति का आनन्द और चतुर्थ इसकी शारीरिक क्रिया के रूप में रूपान्तर जैसे ध्वनि, रूप, गति, रंग, रेखा आदि के रूप में प्रकटीकरण। ये चारों अवस्थाएँ जिसकी सहजानुभूति के साथ निर्वाध रूप से पूर्ण और सफल होती है वही बड़ा कवि या कलाकार है। शेष अन्य कवि या कलाकारों में ये सभी अवस्थाएँ पूर्णता को नहीं प्राप्त होतीं, पर द्वितीय स्थिति तक तो सभी आते हैं।

क्रोचे ने सौन्दर्य शास्त्र के अन्तर्गत तत्त्व और रूप— इन दो पक्षों पर भी विचार किया है और यह सिद्ध किया है कि सौन्दर्य-सत्ता के अन्तर्गत रूप ही महत्त्व का है, तत्त्व का नहीं। वास्तविक तत्त्वज्ञान की अपेक्षा सहज-ज्ञान भिन्न वस्तु है। कला, ज्ञान भी है और रूप भी, अत: वह दृष्टिगोचर तत्त्व अनुभूति या मानसिक तत्त्वों से भी भिन्न है। क्रोचे का स्वयं कथन है—

Since art is knowledge and form, it does not belong to the world of feeling and of psychic material, the reason, why so many aestheticians have so often insisted that art is appearance (schein) is precisely because they felt the necessity of distinguishing it from the more complex fact of perception by maintaining its pure intuitivity. For the same reason it has been claimed that art is sentiment. In fact, if the concept

1. Corce : Theory of Aesthetic, पृष्ठ 1
2. वही, पृष्ठ 156
3. वही, पृष्ठ 156

of art and historical reality as such be excluded, there remains no other content than reality apprehended in all its ingeniousness and immediateness in the vital effort, in sentiment, that is to say pure intuition.

(*Theory of Aesthetic*, पृष्ठ 29-30)

उपर्युक्त कथन इस बात का संकेत करता है कि क्रोचे का सहज ज्ञान वास्तव में भावात्मक ज्ञान है और कला भावाभिव्यक्ति है। भाव अनुभूति मात्र नहीं, वरन् अनुभूति का कल्पनागत या स्मृत रूप है। इसकी स्थिति भी अभिव्यंजना की पूर्णता या सफल अभिव्यंजना प्रक्रिया में देखी जा सकती है। भारतीय विचारधारा के अनुसार भाव का भी मानसिक विश्लेषण लगभग वैसा ही है जैसा कि पूर्ण अभिव्यंजना की प्रक्रिया की चारों अवस्थाओं के अन्तर्गत क्रोचे ने स्पष्ट किया है। क्रोचे के मत से ये चार अवस्थाएँ होते हुए भी अभिव्यंजना अखण्ड है और उसे विभिन्न वर्गों में भी विभक्त नहीं किया जा सकता।

क्रोचे के मत से केवल प्रभाव नहीं, वरन् प्रभाव की रूप-रचना अभिव्यंजना या कला है।[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का भी इसी प्रकार का मत है कि काव्य सामान्य का वर्णन नहीं करता, वरन् विशेष या व्यक्ति का रूप प्रस्तुत करता है। यह रूप-सर्जना ही कवि या कलाकार का काम है, सामान्य गुण-विवेचन नहीं। क्रोचे सहज-ज्ञान या अभिव्यंजना को विचार या बुद्धिजन्य ज्ञान की प्रथम सीढ़ी मानता है। इस प्रसंग में उसका विचार द्रष्टव्य है—

The relation between intuitive knowledge or expression and intellectual knowledge or concept, between art and science, poetry and prose cannot be otherwise defined than by saying that it is one of the double degree. The first degree is the expression and the second the concept, the first can exist without the second, but the second cannot exist without the first. There exists poetry without prose, but not prose without poetry. Expression, indeed is the first affirmative of human activity, poetry is "the maternal language of the human race", the first men "were by nature sublime poets."

(पृष्ठ 43)

क्रोचे के विचार से सौन्दर्य सफल अभिव्यंजना है या केवल अभिव्यंजना है; क्योंकि जो सफल नहीं वह अभिव्यंजना ही नहीं है। इस प्रकार कुरूप या भद्दा असफल अभिव्यंजना है और जिनमें अभिव्यंजना असफल है उन कला-कृतियों में भी कहीं-न-कहीं गुण विद्यमान् होते हैं, परन्तु जो सफल है उसमें भी दोष है, यह क्रोचे को स्वीकार नहीं। क्रोचे के विचार से गुण परस्पर सम्मिश्रित होते हैं अत: उनका अलग-अलग निदर्शन कठिन होता है। उसके मतानुसार सुन्दर कृतियों की कोटियाँ नहीं होतीं। असुन्दर की ही कोटियाँ होती हैं। क्रोचे के उपर्युक्त विचार निश्चयत: अत्यन्त आदर्शवादी हैं।

---

1. Croce : Theory of Aesthetic, पृष्ठ 30।

प्रकृति के सम्बन्ध में भी क्रोचे के विचार अपना वैशिष्ट्य रखते हैं। उसका कथन है कि प्रकृति उन्हीं के लिए सुन्दर है जो कलाकार या कवि की दृष्टि से देखते हैं।[1] कल्पना की दृष्टि के बिना प्रकृति का कोई अंग सुन्दर नहीं। जब कवि प्रकृति के स्वरूप को अपने दृष्टिकोण से सुधारकर प्रस्तुत करता है तब उसमें सौन्दर्य की सत्ता आती है। प्रकृति प्रेरणा भी उनको देती है जो इस प्रकार सहजानुभूति और कल्पना द्वारा देखते हैं। क्रोचे बाह्य पदार्थों को कल्पना में बिम्ब उत्पन्न करनेवाली वस्तुओं के रूप में स्वीकार करता है।

कला या अभिव्यंजना एक मानसिक क्रिया है, एक आध्यात्मिक आवश्यकता है, इसीलिए क्रोचे इसे सहजानुभूति या सहजज्ञान के रूप में स्वीकार करता है। क्रोचे ने कला को मानव की एक सहज-मानसिक क्रिया के रूप में स्वीकार करके उसकी अखण्डता और शाश्वत सत्ता को प्रमाणित किया है। फिर भी कला जिस रूप में एक पूर्ण या शाश्वत वस्तु है वह दुर्लभ वस्तु है।

क्रोचे काव्य या कला का प्रयोजन अभिव्यंजना मात्र से ही पूर्ण मानता है। उसकी दृष्टि में काव्य और कला एक ही कोटि की वस्तुएँ हैं। उसके विचार से सौन्दर्य व्यक्ति-कल्पना की वस्तु है। इन विचारों से स्पष्ट है कि अभिव्यंजनावादी मत के अनुसार कवि या कलाकार अपने अन्तर्जगत् की वस्तु को ही प्रकाशित करता है, बाह्य वस्तु को नहीं। उसके समक्ष यथार्थ का महत्त्व अन्तर्भावना को प्रभावित करने में ही है।

अभिव्यंजनावाद के अनुसार सौन्दर्य की सृष्टि अन्तस् में ही होती है। दूसरे लोग भी उसी वस्तु को सुन्दर मानते हैं जिसमें उनकी अन्तर्भावनाएँ अभिव्यंजित की गयी हों। इस दृष्टिकोण के अनुसार कलाकृति के लिए प्रत्येक वस्तु उपयुक्त है, उसके अच्छे और बुरे होने का प्रश्न नहीं।

यह अभिव्यंजनावाद का संक्षिप्त विश्लेषण है जिसकी विशेषता वैयक्तिकता में निहित है। इसमें अनेक ऐसी बातें हैं जो सर्वमान्य नहीं हो सकतीं और जिन पर आपत्ति उठायी गयी है। फिर भी इस अभिव्यंजनावाद का अपना महत्त्व है और इसके आधार पर कलावाद और काव्य में व्यक्तिवाद के विकास को बड़ा बल मिला।

(घ) व्यावहारिक समीक्षा-सम्बन्धी सिद्धान्त

व्यावहारिक समालोचना किसी सिद्धान्त-विशेष पर आधारित नहीं रहती। फिर भी हम उसके सिद्धान्तों की चर्चा करने बैठे हैं, यह एक स्वयं विरोधी बात-सी लगती है। पर बात कुछ ऐसी ही है। आलोचना का उद्देश्य किसी भी काव्य-कृति के समस्त सौन्दर्य और विशेषताओं को स्पष्ट कर उन्हें अनुभूतिगम्य बनाना है। इस दृष्टि से आलोचना के अनेक स्वरूप विकसित हुए, पर कोई एक स्वरूप इस उद्देश्य की पूर्णतया पूर्ति न कर सका। अतएव व्यावहारिक समीक्षा की आवश्यकता का अनुभव हुआ।

---

1. वही, पृष्ठ 10।

व्यावहारिक समीक्षा के सिद्धान्तों या नियमों के अनुसन्धान की पूर्वगामिनी, आलोचना की एक सामान्य प्रक्रिया है जो इसकी समुचित दृष्टि प्रदान करती है। इस प्रक्रिया को व्यवहार में लानेवाले अंग्रेजी के प्रसिद्ध समालोचक और विद्वान् आई० ए० रिचर्ड्स हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थ "प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म" (Practical Criticism) में इस प्रक्रिया को स्पष्ट किया है और निष्कर्ष-स्वरूप अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। उनके ये निष्कर्ष अंग्रेजी काव्य के आधार पर हैं, यद्यपि यह उनका अपना दृष्टिकोण है और अन्य अनेक आलोचकों ने इसे पूर्ण या महत्त्वपूर्ण स्वीकार नहीं किया। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे अपने इस नये प्रयोग के द्वारा इस दिशा में अनेक सुझाव प्रदान करते हैं। उन्हीं सुझावों के आधार पर इस विषय में भारतीय काव्य को भी ध्यान में रखकर कुछ विचारों को प्रस्तुत करने का प्रयत्न यहाँ किया गया है।

रिचर्ड्स महोदय ने अनेक अंग्रेजी कविताओं को उनके शीर्षकों और लेखकों के नामों को हटाकर विभिन्न प्रकार के शिक्षास्तर के शिक्षित व्यक्तियों को स्वतन्त्र समालोचनार्थ भेजा और उनकी समालोचनाएँ प्राप्त होने पर उनमें से तेरह का विश्लेषण अपनी पुस्तक में प्रस्तुत किया है। इसी के आधार पर उन्होंने समीक्षा की कुछ विशिष्ट बातों और नियमों का संग्रह किया है।

इसके पूर्व कि हम उन नियमों पर विचार करें, हमें पहले इस प्रयोग की महत्ता पर विचार कर लेना चाहिए। रिचर्ड्स महोदय का उद्देश्य केवल साहित्यिक समीक्षा का एक प्रयोग करना ही न था, वरन् संस्कृति को समकालीन स्थिति और शिक्षा-पद्धति का एक नवीन मार्ग भी स्पष्ट करना था।

इसके अतिरिक्त स्वयं हम काव्य के सम्बन्ध में किस प्रकार सोचते-विचारते हैं, यह ज्ञान भी अपने आपको इस प्रकार के प्रयोगों द्वारा हो जाता है।[1] इस प्रकार आत्म-विश्लेषण और शिक्षा-पद्धति के साथ-साथ इस प्रयोग का सबसे बड़ा महत्त्व सांस्कृतिक और ऐतिहासिक है। यदि इस प्रकार के व्यावहारिक समीक्षा के प्रयोग चलते रहें और विभिन्न देशों में एक ही समय चलें, तो निश्चय ही हमें इनके द्वारा संस्कृति और साहित्य का तुलनात्मक यथार्थ ज्ञान हो सकता है। इस दृष्टि से सचमुच इसका बहुत बड़ा महत्त्व है।

---

1. 'I have three aims in constructing this book. First to introduce a new kind of documentation to those who are interested in the contemporary state of culture, whether as critics, as philosophers, as teacher, as psychologists, or merely as curious persons. Secondly to provide a new technique for those who wish to discuss for themselves what they think and feel about. Poetry and why should they like or dislike it. Thirdly to prepare the way for educational methods more efficient than those we use now in developing discrimination and power to understand what we hear read. —*Practical Criticism, Introduction*, पृष्ठ 3।

यहाँ पर हमारे सामने यह प्रश्न उठता है कि इस प्रकार सांस्कृतिक या शिक्षा-सम्बन्धी ज्ञान के लिए किसी और विषय को चुना जा सकता था। काव्य को ही क्यों चुना गया और इसका ही चुना जाना क्या कुछ अधिक आवश्यक है? हाँ, काव्य इस प्रकार की समीक्षा को प्राप्त करने के लिए सर्वोपयुक्त विषय है। अन्य शास्त्रीय विषयों की ओर सभी प्रकार के व्यक्तियों की रुचि नहीं होती। विशिष्ट रुचि और बुद्धि के व्यक्ति ही इन विषयों में प्रवृत्त हो पाते हैं। परन्तु धर्म, दर्शन, अध्यात्म, नीति, आचार, सौन्दर्यशास्त्र आदि की ओर एक साथ बहुतों की रुचि और प्रवृत्ति होती है। किन्तु, इनका जो शास्त्रीय स्वरूप होता है, उसकी ओर सभी की रुझान नहीं होती, यह भी विशिष्ट ज्ञान और रुचि का विषय हो जाता है। काव्य का सम्बन्ध इन सब विषयों से होता है, अतएव काव्य के माध्यम से प्रस्तुत इन विषयों में व्यापक जन-समुदाय की सहज अभिरुचि होना एक स्वाभाविक और वास्तविक बात है। यह एक तथ्य है। अत: व्यावहारिक समीक्षा के प्रयोग के लिए काव्य को चुनना ही अधिक उपयुक्त है।

उपर्युक्त उद्देश्यों के स्पष्टीकरण के साथ एक शंका यह उठ सकती थी कि इस प्रकार के प्रयोगों का उद्देश्य सांस्कृतिक या शिक्षा-सम्बन्धी है, तो ऐसी समीक्षा से साहित्य का क्या सम्बन्ध है? और इस प्रकार साहित्यिक समीक्षा या आलोचन के क्षेत्र में इसकी चर्चा क्यों होनी चाहिए? इस शंका का उत्तर हमें काव्य को इस उद्देश्य के लिए चुने जाने के कारण में प्राप्त हो जाता है। यद्यपि 'व्यावहारिक समीक्षा' (Practical Criticism) के लेखक का उद्देश्य साहित्यिक समीक्षा नहीं, फिर भी चूँकि काव्य को ही इस प्रकार के प्रयोग के लिए सर्वोपयुक्त समझा गया है, अत: उसका सम्बन्ध निश्चयत: साहित्यिक समीक्षा से हो जाता है। इस प्रकार काव्य-समीक्षा का यह व्यावहारिक रूप न केवल साहित्यिक अभिरुचि के स्तर का एक लेखा प्रस्तुत करता है, वरन् वह मानव-अनुभूति और विचारों का एक स्वाभाविक इतिहास बन जाता है[1]।

व्यावहारिक समीक्षा-सम्बन्धी प्रयोगों में यह प्रगट होता है कि भावों या विचारों का सहज और सरल प्रकाशन कितना कठिन है, साथ ही यह निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है कि समीक्षा का प्रयास भी भावों और विचारों के आदान-प्रदान की सहजतम रीति निकालना है। समीक्षा-सम्बन्धी अनेक सिद्धान्त उसी के परिणाम हैं, परन्तु वास्तविकता तो कुछ इस प्रकार की ही है कि ये सिद्धान्त या नियम बुद्धिमानों के लिए

---

1. It serves, therefore, as an eminently suitable *bait* for any one who wishes to trap the current opinions and responses in this middle field for the purpose of examining and comparing them, and with a view to advancing our knowledge of what may be called the natural history of human opinions and feelings. –*Practical Criticism*, पृष्ठ 6

There has hardly ever been a critical rule, principle or maxim which has not been for wise men a helpful guide, but for fools a wiil-o'-the wisp.

–*I.A. Richards* : *Practical Criticism*, पृष्ठ 12

तो बड़े सहायक सिद्ध होते हैं, परन्तु अन्य के लिए वे स्वयं एक भ्रम या उलझन में डालनेवाली वस्तु बन जाते हैं। मनुष्य की विविध अभिरुचियों और विभिन्न मनोवृत्तियों के परिणाम-स्वरूप तथा विभिन्न युगों की जीवन-शैली और आदर्शों की परिवर्तनशीलता और विकास के कारण कोई भी नियम या सिद्धान्त सर्वांगीण रूप से उपयोगी नहीं सिद्ध हो पाता। इसके कारण सिद्धान्त-विशेष का आग्रह समीक्षा को अपनी सीमा में बाँधनेवाला भी होता है और उसके स्वच्छन्द विकास में बाधा भी पहुँचाता है, अत: उसके स्वच्छन्द और विकासशील रूप को ही प्रेरणा देने का प्रयत्न श्रेयस्कर है।

इस प्रकार व्यावहारिक समीक्षा के मार्ग में कठिनाइयाँ आ उपस्थित होती हैं। इन कठिनाइयों में से कुछ प्रमुख पर यहाँ विचार किया जाता है।

सबसे प्रथम कठिनाई कविता के वास्तविक अर्थग्रहण की है। किसी भी छन्द का यथार्थ तात्पर्य ग्रहण करना अत्यावश्यक है, क्योंकि अन्य बातें इसी पर निर्भर करती हैं। यह बात आश्चर्यकारी है, परन्तु व्यावहारिक समीक्षा के प्रयोगस्वरूप जो निष्कर्ष निकला वह यही था कि अधिकांश व्यक्ति कविता का अर्थ, सहज तात्पर्य नहीं समझ पाते और इसके परिणामस्वरूप उसमें व्यक्त भावानुभूति, ध्वनि और उद्देश्य को समझने में भी भ्रम कर बैठते हैं। यह भाव सरल, जटिल और क्लिष्ट सभी प्रकार की कविताओं के लिए सत्य बैठता है। किसी भी समीक्षा के लिए काव्य का अर्थ-ज्ञान तो प्रारम्भिक आवश्यकता है।

इसी के समक्ष दूसरी कठिनाई है कविता के ऐन्द्रिक प्रभाव के ग्रहण की। यह तो निर्विवाद तथ्य है कि कविता में शब्दक्रम, गद्य के शब्दक्रम से भिन्न होता है और उसका एक लयात्मक या ध्वन्यात्मक प्रभाव होता है। इस प्रभाव को ग्रहण करने के लिए हमारी श्रवणशक्ति की योग्यता आवश्यक है। लयात्मक प्रभाव को ग्रहण कर सकनेवाले व्यक्तियों पर जो प्रभाव किसी छन्द का पड़ सकता है, वह अन्यों पर नहीं। हम कवि की तद्विषयक प्रतिभा और कविता के इस गुण की विशेषता नहीं जान सकते, यदि हममें ये लयात्मक संस्कार नहीं हैं। इस त्रुटि का परिहार किन्हीं अंशों में कवि द्वारा या किसी अन्य दक्ष व्यक्ति द्वारा लयात्मक ढंग से पढ़कर किया जा सकता है, परन्तु उसके भी समग्र प्रभाव का आनन्द लेने के लिए पाठक का इस दृष्टि से संस्कृत होना आवश्यक है।

ऐन्द्रिक प्रभाव का दूसरा रूप है दृश्य-दर्शन। इसका सम्बन्ध हमारी प्रत्यक्ष करने की शक्ति से है। कवि के भीतर प्रत्यक्षीकरण की शक्ति असाधारण रूप से विद्यमान होती है और वह प्रत्यक्षीकृत वस्तुओं का वर्णन करता है। परन्तु प्रत्यक्ष करने या दृश्यदर्शन की शक्ति सब में बराबर या एक-सी नहीं होती। अत: इसके परिणामस्वरूप कविता में प्रस्तुत दृश्यों को हृदयंगम करने या उसके द्वारा प्रभाव-ग्रहण के क्षेत्र में अन्तर हो जाना स्वाभाविक है। कभी-कभी हम कवि द्वारा उद्दिष्ट प्रभाव से अधिक प्रभाव ग्रहण कर लेते हैं और कभी उस तक पहुँच नहीं पाते। इस प्रकार विभिन्न कोटि के व्यक्तियों द्वारा प्रस्तुत समीक्षाओं में भिन्नता होना स्वाभाविक है। इसके साथ-साथ एक बात और है, हमारे स्मृति-पटल पर अनेक पूर्ववर्ती घटनाओं और दृश्यों के चित्र अंकित रहते हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि हम कोई पंक्ति पढ़कर अपनी स्मृति के संस्कारों के कारण अपनी अनुभूत, किन्तु विषय से

पूर्णतया अप्रासंगिक दृश्यों और प्रभावों में मग्न हो जाते हैं जैसे कि कविवर बिहारी ने कहा है—''मन ह्वै जात अजौं वहै वा जमुना के तीर'' वैसे ही हम अपनी किसी प्रिय कल्पना या रुचि से ओत-प्रोत होकर विषय से विच्छिन्न हो जाते हैं। यह बात योग्यता या संस्कार की त्रुटि के कारण नहीं, वरन् एक स्वाभाविक-सी बात है। परन्तु इससे हम कविता की पंक्तियों का उद्दिष्ट या वांछित प्रभाव नहीं ग्रहण कर पाते, यह भी सत्य है।

इसके अतिरिक्त कभी-कभी ऐसा होता है कि संयोग से कवि उस भावना को प्रकट करता है जो हमारी अपनी भावना भी है। ऐसी दशा में हम उस भावना से इतने अभिभूत हो जाते हैं कि वह कवि की न रहकर अपनी हो जाती है। समीक्षा की दृष्टि से यह स्थिति भी आपत्तिपूर्ण है। क्योंकि ऐसी दशा में या तो हम कवि के साथ पक्षपात करेंगे या उसे कोई श्रेय न देंगे।

समीक्षा के क्षेत्र में भावुकता एक बहुत बड़ी कठिनाई है। इस भावुकता के वशीभूत होकर निश्चय ही या तो हम कुछ ऐसी अच्छाइयाँ देखने लगते हैं, जो उसमें हैं नहीं और या हम प्रसंग से पूर्णतया बहक जाते हैं। यहाँ पर यह बात स्पष्ट कर देनी आवश्यक है कि भावुक और भावक, सहृदय और समीक्षक में अन्तर है। वास्तविक गुणों का समुचित ग्रहण और प्रशंसा भावक या सहृदय का काम है जबकि भावुक अवास्तविक या काल्पनिक गुणों की प्रशंसा भी करता है। उसकी अभिव्यक्ति सदैव समीक्षा नहीं कही जा सकती।

इससे विपरीत स्थिति है अरसिकता की। इसमें पाठक या समीक्षक गुणों को देखते और प्रभावित होते हुए भी उदारता से उनकी प्रशंसा नहीं करना चाहता। यह दशा काव्य-गुणों और कवि के उत्साह पर पानी फेरनेवाली होती है। इसलिए कहा गया है—''अरसिकेषु कवित्वनिवेदनं, शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख।'' अतः समीक्षा में इस अरसिकता की स्थिति से भी सावधान रहने की आवश्यकता है। एक और बहुत बड़ी कठिनाई है सैद्धान्तिक आग्रह। यह सैद्धान्तिक आग्रह दो रूपों में देखा जा सकता है। प्रथम इस रूप में कि कविता में सत्य या जीवन के सम्बन्ध में क्या विचार प्रकट किये गये हैं। यदि पाठक या समीक्षक किसी विशेष सम्प्रदाय, विचार या सिद्धान्त का व्यक्ति है तो उस काव्य-खण्ड का मूल्यांकन उसके आधार पर करेगा। उसके होने पर उसकी प्रशंसा और न होने पर निन्दा की जा सकती है। अन्य सिद्धान्त या विचारधारा के कारण उसे निकृष्ट बताया जा सकता है। समीक्षक के सामने एक और प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या काव्य का महत्त्व उसमें व्यक्त किसी विशिष्ट सिद्धान्त या विचारधारा के कारण है? या इसके अतिरिक्त किसी अन्य बात पर। विचारधारा से इतर बात को हम महत्त्व देते हैं, तो वह कविता की शैली या शिल्प हो सकता है! वहाँ भी सैद्धान्तिक आग्रह का प्रश्न सामने आ उपस्थित होता है। शिल्प और शैली से सम्बन्धित अनेक सिद्धान्त हैं। हम उनमें से किसी एक का आग्रह उस कविता में कर सकते हैं। यदि उसमें वही शिल्पविधि या शैली अपनायी गयी है, तो वह हमें अच्छी लगती है और यदि नहीं अपनायी गयी है, तो वह कविता हमें दोषपूर्ण लगती है। भारतीय काव्य शिल्पविधि के अनेक रूप अलंकार, वक्रोक्ति, रीति, ध्वनि आदि हैं। यदि आज का काव्य हम उनमें से किसी कसौटी पर

कसने लगें, तो आवश्यक नहीं कि वह उसमें खरा ही उतरे। आज का काव्य आज के जीवन के अनुरूप और उससे सम्बन्ध रखता है। अत: इस प्रकार किसी शिल्प-सिद्धान्त का आग्रह भी समीक्षा के लिए उचित नहीं है। इसके अतिरिक्त शिल्प-सम्बन्धी बातें तो माध्यम मात्र हैं, अत: उन्हें साधन रूप में ही देखना 'आवश्यक' है। साध्य तो कुछ और है। वह उसके अन्तर्गत व्यक्त विचार, भाव, जीवन-आदर्श, संस्कृति आदि कुछ भी हो सकता है। समीक्षक को देखना यह है कि वह उद्देश्य किस प्रभाव के साथ अभिव्यक्ति पा सका है। इसी में कवि की सफलता और कविता की उत्कृष्टता निहित रहती है।

उपर्युक्त कुछ प्रमुख कठिनाइयाँ हैं जो व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में उपस्थित होती हैं। इन बातों को सामने रखने पर देखते हैं कि मानव अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में चार बातें सामने आती हैं, जिन्हें हम अभिव्यक्ति के चार पक्ष कह सकते हैं, ये हैं अर्थ, भावानुभूति, ध्वनि और उद्देश्य। किसी भी समीक्षक के लिए इन चारों पक्षों का समुचित ज्ञान अपेक्षित है। विभिन्न प्रकार की अभिव्यक्तियों में इन पक्षों की कमी या अधिकता देखी जा सकती है। एक वैज्ञानिक कृति के लिए अर्थ ही सर्वोपरि महत्त्व का है। उसका भावानुभूति और ध्वनि से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं। हाँ, उद्देश्य अवश्य उसके अर्थ का पथप्रदर्शन करता है। परन्तु एक साहित्यकार या वक्ता के लिए भावानुभूति का पक्ष महत्त्वपूर्ण है, जहाँ पर वह अपने वक्तव्य या भाषण का प्रभाव डालना चाहता है। भाव के विशिष्ट प्रभाव के लिए ध्वनि का अपना स्थान है, विशेष रूप से कविता को स्मरणीय रमणीयता के लिए ध्वनि का सहारा आवश्यक है। उपदेशात्मक और सैद्धान्तिक उक्तियों में उद्देश्य प्रधान होता है। इस प्रकार विभिन्न अभिव्यक्तियों की प्रकृति के अनुसार इन चार पक्षों के स्वरूपों में किसी का प्राधान्य या उसकी उपेक्षा रहती है।

इन पक्षों का सम्बन्ध काव्य के तत्त्वों से भी जोड़ा जा सकता है। काव्य भी एक विशिष्ट प्रकार की अभिव्यक्ति है। वरन् यह कहा जाय कि काव्य एक सजीव और पूर्ण अभिव्यक्ति है तो असमीचीन न होगा। इस अभिव्यक्ति में शब्द, अर्थ, भाव, कल्पना और बुद्धि-तत्त्वों का सामंजस्यपूर्ण समन्वय रहता है। काव्य के अतिरिक्त अन्य उक्तियों में समस्त तत्त्व विद्यमान नहीं रहते। वैज्ञानिक उक्तियाँ अर्थ और बुद्धितत्त्व-प्रधान हैं। दार्शनिक उक्तियों में अर्थ, बुद्धितत्त्वों के साथ कभी-कभी कल्पना-तत्त्व का भी समावेश हो जाता है। शब्द-तत्त्व केवल अर्थ-तत्त्व का वाहक होकर आता है, उनका अपना पूर्ण स्वरूप प्रकट नहीं होता और उसकी ध्वनि-सम्बन्धी विशेषता प्रस्फुटित नहीं हो पाती। शास्त्रीय, धार्मिक और नैतिक उक्तियों में भी यही बात देखी जाती है। अत: वह काव्य या उसके समक्ष ही कोई उक्ति है जिसमें इन पाँचों तत्त्वों का समुचित एवं सजीव तथा प्रभावपूर्ण सम्मिश्रण देखा जाता है। इसीलिए उक्तियों में सबसे महत्त्वपूर्ण काव्योक्ति मानी गयी है। पूर्वोक्त चार पक्षों का समाहार भी इन पाँचों तत्त्वों में हो जाता है।

एक बात और है। अन्य उक्तियों में ये तत्त्व अपने सामान्य, नग्न या नीरस रूप में रहते हैं, परन्तु काव्योक्ति में इनमें से प्रत्येक तत्त्व अपने द्युतिमय, अलंकृत एवं सरस रूप में दिखाई पड़ता है। शब्दतत्त्व को ही लीजिये। काव्य में यह केवल अर्थ का वाहक मात्र नहीं है, वरन् उसका अपना निजी आकर्षण है और सबसे पहले वही हमारे ध्यान को

खींचता है। संगीतात्मक ध्वनि, काकुवक्रोक्ति और भावानुकूल गति या लय का प्रभाव और उसके संचार करने की क्षमता शब्दतत्त्व में ही प्रकट हो जाती है। उसका स्वरूप न केवल अर्थ को प्रकट करने में सहायक होता है, वरन् अन्य तत्त्वों को भी चमका देता है। काव्य में शब्द रत्नों के समान दमक लेकर उगता है, वह साधारण उपयोग का पत्थर-मात्र नहीं रह जाता। उसकी द्युति में पाठक चमत्कृत और उसी की गति में वह झूम जाता है।

इसी प्रकार अर्थ-तत्त्व है। काव्य में अर्थतत्त्व शब्द के चमत्कार से पूर्ण होने के कारण अलंकृत रूप धारण करता है। अर्थ में व्यंजना का समावेश हो जाता है। वह अर्थ कल्पना और अनुभूति को सजग करता चलता है। व्यंग्यार्थ काव्य में उद्दिष्ट और प्रधान हो जाता है, अत: शब्दों के समान अर्थों से काम नहीं चलता। जिसको हम तर्क की कसौटी पर अनर्गल कह सकते हैं[1], काव्य में वह पूर्ण प्रभाव डालने में समर्थ होता है।

कल्पना और भावतत्त्व तो काव्य में ही प्रधानतया रहते हैं। काव्य में कल्पना और अनुभूति का माध्यम होने से अर्थ-तत्त्व भी प्रभावित होता है। आलंकारिक अभिव्यक्ति, जैसी एक रूपक, उत्प्रेक्षा, अन्योक्ति, प्रतीप, उपमा, अतिशयोक्ति आदि में पायी जाती है, कल्पना-प्रेरित होती है। अत: कल्पना और भावानुभूति को जाग्रत करनेवाले काव्य के शब्द-विधान में वाक्य-रचना या शब्द-क्रम का व्यावहारिक महत्त्व नहीं रहता। समीक्षक को अर्थ-ग्रहण करने के लिए अपने अनुभव या सहज संस्कारों का सहारा लेना पड़ता है। प्रसंग, परम्परा और प्रयोग के आधार पर हम काव्यगत अभिव्यक्ति के सौन्दर्य का मूल्यांकन कर सकते हैं। इसके बिना नहीं। कोरा तर्कसंगत अर्थ ही महत्त्व का नहीं होता।[2] शब्द की गति, ध्वनि और लोच से कल्पना के सम्मुख प्रस्तुत दृश्यावली से और अनुभूति पर पड़े प्रभाव से सामूहिक रूप में जो हमारी बुद्धि ग्रहण करती है, अथवा जो वैचारिक संस्कार बनते हैं वे ही महत्त्वपूर्ण होते हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने काव्यरचना के व्यापार को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

हृदय सिन्धु मति सीप समाना। स्वाति सारदा कहैं सुजाना ।
जो बरिसै बर बारि बिचारू। होहिं कबित मुक्तामनि चारू ॥

अनुभूति में डूबी हुई कल्पना या प्रतिभा में जब किसी सुन्दर विचार का प्रवेश वाणी की कृपा से होता है, तब कविता का जन्म होता है। इस प्रकार काव्यगत अर्थ सामान्य अर्थ से भिन्न है और उसमें ध्वनि, भाव और कल्पना की विशेषताओं का समावेश सहज में ही रहता है। ध्वनि, शब्दतत्त्व और छन्द के परिणामस्वरूप संगीत का

---

1. But those indirect devices for expressing feeling through logical non-sense, through statements not to be taken strictly, literally or seriously, through pre-eminently apparent in poetry are not peculiar to it.

—*Practical Criticism*, पृष्ठ 188

2. I have urged above that non-sense is admissible in poetry if the effect Justifies it. —*Practical Criticism*, पृष्ठ 164

गुण काव्य में भरती है। भाव सरसता और रोचकता की सृष्टि करते हुए हमारे मनोविकारों को जाग्रत करते हैं जिससे हमारे भीतर तन्मयता और एकाग्रता आती है और कल्पना सजीव चित्रों को सामने रखती है जो भाव आदि के प्रेरक होते हैं। इस प्रकार संगीत, चित्रकला और मनोविज्ञान की विशेषताओं से युक्त काव्य एक रमणीय रचना बन जाता है। यह विशेषता अन्य उक्तियों में नहीं पायी जाती।

कल्पना-शक्ति के माध्यम से प्रस्तुत किया हुआ अप्रस्तुत विधान केवल अलंकार की सृष्टि नहीं करता, वरन् सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अनुभूतियों को प्रकट करने में समर्थ होता है[1]। अतएव अलंकार-विधान को सदैव नव्य रूप देना, अनुभूति की सूक्ष्मता, तीव्रता और सघनता पर तथा कल्पना की शक्ति पर निर्भर करता है। इसी प्रकार काव्य में अर्थाभिव्यक्ति की प्रक्रिया साधारण न होकर जटिल होती है। अलंकारिता, उक्तिवैचित्र्य या दृश्य-चित्रण के माध्यम से अभिव्यक्त भाव या तात्पर्य को, उपर्युक्त कल्पना और अनुभूति-सम्बन्धी क्रियाओं को ध्यान में रखकर ही भलीभाँति सम्यक् ग्रहण किया जा सकता है।

पूर्वोक्त पक्षों या तत्त्वों में से किसी एक या अनेक को लेकर काव्य की अभिव्यक्ति या शिल्प-सम्बन्धी अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये हैं। परन्तु वे सभी काव्य के सम्बन्ध में सत्य होते हुए भी, सार्वकालिक काव्य की समीक्षा के लिए उपयुक्त नहीं हैं। काव्य की विशेषता उसकी नव्यता में है। युग की चेतना और अनुभूति को सँजोकर कवि जो नूतन अभिव्यक्ति करता है, उसमें उसका अनुभव और जीवन-दर्शन छिपा रहता है। मानव-सभ्यता और संस्कृति के विकास की नूतन मंजिलें जिस प्रकार ठीक पूर्ववर्ती या प्राचीन स्वरूप जैसी नहीं हो सकतीं, उसी प्रकार काव्य का स्वरूप भी पूर्ववर्ती या प्राचीन स्वरूप जैसा नहीं हो सकता। अतएव उसकी समीक्षा के लिए पूर्ववर्ती या प्राचीन सिद्धान्त पूर्ण तथा उपयुक्त नहीं हैं। इस कारण से व्यावहारिक समीक्षा शिल्पविधि-सम्बन्धी सिद्धान्तों के आग्रह से मुक्ति चाहती है। वह काव्य या उक्तियों में प्रकट धर्म, सम्प्रदाय या दर्शन-सम्बन्धी सिद्धान्तों के आग्रह से भी मुक्ति चाहती है, क्योंकि जीवन के नवीनतम प्रयोग, नित्य नये सत्य सिद्धान्तों और नियमों की खोज करते रहते हैं और प्रगतिशील जीवन को बाँधकर रखने में प्राचीन या पूर्ववर्ती सिद्धान्त पूर्णतया सक्षम नहीं होते। अतः व्यावहारिक समीक्षा एक स्वतंत्र समीक्षा-क्रम है।

इतना होते हुए भी अभिव्यक्ति और काव्य के मूल में विद्यमान जो तत्त्व है उनका प्रत्यक्षीकरण यह समीक्षा अनिवार्य समझती है। किसी अभिव्यक्ति में उसका नूतन रूप किस तरह प्रकट हुआ है यही उसकी सबसे बड़ी खोज है। उसकी कसौटी अभिव्यक्ति की पूर्णता से सम्बन्धित आदर्श है जिसका स्वरूप समीक्षक या पाठक के अध्ययन, सुरुचि, संस्कार, सहृदयता आदि की समग्रता से बनता है। उस पर कविता का मूल्यांकन उसके द्वारा प्रेषित प्रभाव के आधार पर होता है। यह प्रभाव जितना ही सामाजिक होगा, कविता की उत्कृष्टता उतनी ही व्यापक होगी।

---

1. Most descriptions of feelings and nearly all subtle descriptions are metaphorical and of the combined type.

—*Practical Criticism*, पृष्ठ 222

(आ) वस्तुवादी मानदण्ड

अभी तक समीक्षा के जिन मानदण्डों पर विचार किया गया है वे प्राय: कविता के अभिव्यक्तिवादी पक्ष को लेकर चलनेवाले हैं। परन्तु हम जानते हैं कि काव्य में अभिव्यक्ति जिस बात की होती है, वह भी महत्त्वपूर्ण है, ऐसा भी बहुत से विचारकों का मत है। काव्य में किस ढंग से अभिव्यक्ति हुई है, इस पर विचार करना उसके कलावादी पक्ष के अन्तर्गत है; पर बहुत से विचारक काव्य को केवल कला नहीं मानते, वरन् उसके अतिरिक्त उसे विद्या या सृष्टि या रचना के रूप में स्वीकार करते हैं। अतएव उनके दृष्टिकोण से काव्यरूपी अभिव्यक्ति में तत्त्व क्या है? अर्थात् वह जिसकी अभिव्यक्ति है, वह वस्तु क्या है? यह भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इस पर पाश्चात्य साहित्य में काफी विचार हुआ है; परन्तु भारतीय साहित्य में यह पक्ष उपेक्षित रहा हो, ऐसी बात नहीं। हमारा सन्त-साहित्य, भक्ति-वाङ्मय, प्रगतिवादी साहित्य तथा प्रबन्ध काव्यों की परम्परा, अभिव्यक्ति से अधिक उसके भीतर निहित सन्देश और जीवन-दर्शन, नीति, संस्कृति आदि को महत्त्वपूर्ण समझती है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने लिखा है—

सरल कबित कीरति बिमल, सोइ आदरहिं सुजान।

अर्थात् कविता सरल होनी चाहिए और उसमें निर्मल यशवाले चरित्रों का वर्णन होना चाहिए। इसी प्रकार अभिव्यक्ति के साथ-साथ कविता में वर्णित भाव क्या है, इस पर भी विचार किया जाता है। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि अभिव्यक्ति या कलावादी पक्ष के साथ-साथ उसके सामाजिक, जीवन-सम्बन्धी या वस्तुवादी पक्ष की भी परीक्षा होनी चाहिए और जो कृति दोनों ही प्रकार की कसौटियों पर खरी उतरे, वही उत्तम कविता है। इस वस्तुवादी पक्ष को देखने-परखने की अनेक कसौटियाँ हमें मिलती हैं। इनमें से मुख्यत: दो प्रकार की कसौटियाँ देखी जाती हैं— एक प्रचारवादी या आदर्शवादी और द्वितीय यथार्थवादी या वास्तविकतावादी। वस्तु (Content) को देखने के यही दो दृष्टिकोण प्रचलित हैं। एक तो उस वस्तु को आदर्श के रूप में भला या बुरा मानकर उसके पक्ष या विपक्ष में प्रचार करता है और दूसरा पक्ष काव्य को जीवन की पुन: सृष्टि समझकर कवि के अनुभव और कल्पना में जो कुछ आया उसका वर्णन रूपों या बिम्बों की रचना द्वारा करता है। इन दोनों ही पक्षों के यद्यपि विस्तृत सिद्धान्त प्राप्त नहीं होते, फिर भी इन दोनों ही प्रकार के दृष्टिकोणों को लेकर लिखनेवाले, आलोचक, विचारक और लेखक हमें मिलते हैं। हिन्दी का भक्तिकाव्य भी काफी अंशों में आदर्शवादी या प्रचारवादी दृष्टिकोण को लेकर चला है। इसी प्रकार पाश्चात्य साहित्य के अन्तर्गत नीतिवादी या साम्यवादी आदर्शों का प्रचार करनेवाले अनेक लेखक और आलोचक हैं। मैथ्यू आर्नल्ड, जान रस्किन, लियो टाल्स्टाय, क्रिस्टोफर, काडवेल, रैलफाक्स आदि आदर्शवादी या प्रचारवादी सिद्धान्त को लेकर चलनेवाले हैं और वेलिन्स्की, चर्नीशेव्स्की, दोब्रोल्युबोव, जेम्स फेरेल, स्पेण्डर (स्टीफेन) आदि यथार्थवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। फिर भी इन लेखकों और विचारकों का मुख्य प्रतिपाद्य कविता का अभिव्यक्ति-पक्ष न होकर वस्तुपक्ष है। ये सभी गण्यमान्य समालोचक हैं; अत: यह निष्कर्ष निकलता है कि

कविता या काव्य में केवल अभिव्यक्तिवादी पक्ष ही सब कुछ नहीं, वरन् वस्तुवादी पक्ष भी अपना महत्त्व रखता है और काव्यवस्तु के रूप में विचार, भाव, चरित्र, कथानक, नीति, सिद्धान्त आदि क्या हैं, इसका भी अपना महत्त्व है। कुछ और अधिक गहराई से विचार करें, तो भाषा और शब्दभण्डार भी काव्य-सामग्री के रूप में आ जाता है। अत: मुख्य विचारणीय प्रश्न यह है कि इस समस्त सामग्री का उपयोग और प्रयोग कवि ने किस प्रकार किया है और सामग्री तथा उसके उपयोग के परिणामस्वरूप अन्ततोगत्वा रचना या कृति के रूप में हमें जो वस्तु प्राप्त होती है उसका प्रभाव और स्थायित्व क्या है? इसी अन्तिम परिणति में ही कवि की प्रतिभा देखी जाती है।

परन्तु समस्त वस्तुवादी आलोचकों का मत ऐसा नहीं है। यद्यपि वस्तुवादी समग्रता विकसित काव्य के सिद्धान्त हमें प्राप्त नहीं होते, फिर भी अनेक आलोचकों और विचारकों के मत हमें प्राप्त होते हैं। प्रमुख यथार्थवादी विचारकों में वेलिन्स्की, चर्नीशेव्स्की, दोब्रोल्युबोव, जेम्स टी० फेरेल आदि मुख्य हैं जिनके विचारों को यहाँ पर संक्षेप में प्रस्तुत किया जाता है जिससे उनका यथार्थवादी या वास्तविकतावादी दृष्टिकोण स्पष्ट होता है। इन विचारकों ने काल्पनिकता की अपेक्षा वास्तविक जीवन का सम्पर्क कला और काव्य के लिए आवश्यक माना है।

वेलिन्स्की[1] की कला और साहित्य-सम्बन्धी कतिपय मान्यताएँ इस प्रकार हैं—

कला सत्य का सहज-तात्कालिक अवगहन या छवियों में सोचने की प्रक्रिया है।

कलाकार का चिरन्तन मॉडल है प्रकृति और प्रकृति में सबसे श्रेष्ठ और शुभ्र मॉडल है मानव।

कविता वास्तविक और सत्य विचारों की कला है, न कि कृत्रिम संवेदनों की। आलोचना गतिशील सौन्दर्यशास्त्र है।[2]

कविता जीवन पहले है और कला बाद में।

दार्शनिक युक्तियों में बात करता है, कवि छवियों और चित्रों में। लेकिन दोनों कहते एक ही चीज हैं।

कविता चित्रकला से बड़ी है। उसकी सीमाएँ और अन्य किसी भी कला से अधिक व्यापक हैं।

साहित्य सोसायटी का नहीं, वरन् जनता का दर्पण है। वह राष्ट्रीय आत्मा की अभिव्यक्ति है।

कला का उद्देश्य है चित्रित करना। शब्दों, ध्वनियों, रेखाओं और रंगों में प्रकृति के सार्वभौम जीवन को पुन: मूर्त बनाना।

---

1. वि० ग्रि० वेलिन्स्की (1811 से 1848) एक प्रसिद्ध रूसी लेखक, विचारक और आलोचक था। विशेष विवरण के लिए देखिये, 'दर्शन, साहित्य और आलोचना'
—*पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस*
2. आलोचना के सिद्धान्त : शिवदानसिंह चौहान, पृ० 126।

वेलिन्स्की के कविता या कला-सम्बन्धी दृष्टिकोण के तीन मूलभूत विचार-सूत्र हैं— वास्तविकता का ग्रहण, पूर्ण प्रत्यक्षीकरण और मानवता का विकास। वास्तविकता न केवल हमारे आज के युग की पुकार है, वरन् वह काव्य या कला को अधिक व्यावहारिक बनाती है। इसीलिए वेलिन्स्की के विचार से वास्तविकता, कला की कसौटी है। कला के भीतर जीवन का सत्य प्रतिबिम्बित होना चाहिए। प्रत्येक काव्य-कृति ऐसे प्रबल विचार का परिणाम होती है जो कवि के मन पर प्रभाव डालता है। पर कवि उस विचार को जीवन के दृश्यों का निर्माण करके व्यक्त करता है। इसलिए महान कला या काव्य— जीवन, वस्तुजगत् और इतिहास की भाषा बोलता है।[1]

जीवन की वास्तविकता और कवि को प्रभावित करनेवाला विचार इस प्रकार प्रत्यक्षीकृत होना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति उस वास्तविकता के साकार जीते-जागते स्वरूप को ग्रहण कर ले, यह कलात्मक पूर्णता है। इसके लिए ही कवि की प्रतिभा कार्य करती है। प्रतिभा छवियों या बिम्बों की भाषा में सोचने की क्षमता है। अतः कवि अपने अन्तर्गत, आत्मगत प्रभाव को छवियों में अंकित करके प्रत्यक्षीकरण कराता है। यह प्रत्यक्षीकरण ही उसका विशिष्ट गुण है। अपने इस कार्य से वह मानवता का विकास करता है। मानव मानव है, कवि यह जन जन को समझाता है। वेलिन्स्की का विचार है कि मानव न तो पशु है, न देवता। वह मानव है और इसी को समझना ही जीवन की यथार्थता है। इसको समझकर असमानता को दूर किया जा सकता है और तभी मानवता का विकास सम्भव है।

वेलिन्स्की की मान्यताओं का ही प्रायः विस्तार और उनकी व्याख्या चर्नीशेव्स्की और दोब्रोल्युबोव ने की है। यह बात इनकी अपनी मान्यताओं को देखने से स्पष्ट हो जायगी। चर्नीशेव्स्की की कतिपय मान्यताएँ इस प्रकार हैं—

सत्य बुद्धि की उपज नहीं है। वह जीवन की वास्तविकता की देन है। अपनी बोधेन्द्रियों द्वारा हम उसे प्राप्त करते हैं।

पूर्णता यदि प्रकृति और जीवित मानव में नहीं है, तो कला और मानव की कृतियों में उसकी खोज बहुत दूर की चीज है। जो कर्त्ता (मानव) में नहीं है, वह उसकी कृति में कैसे हो सकती है?

वास्तविकता का कल्पना से अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। वास्तविकता ही कल्पना को प्रेरित करती है और शक्ति देती है।

कला का मूल उद्देश्य जीवन में मानव के लिए रोचक प्रत्येक वस्तु को पुनः मूर्त करना है।

कला का जीवन के साथ सम्बन्ध वैसा ही होता है जैसा कि इतिहास का। उसकी विषय-वस्तु में केवल इतना अन्तर होता है कि इतिहास जहाँ सामाजिक जीवन का वर्णन करता है, वहाँ कला व्यक्तिगत जीवन का चित्रण करती है।

---

1. वही, पृष्ठ 127।

जीवन ही सुन्दर है। सुन्दर वह वस्तु है जिसमें हम जीवन को उस रूप में देखते हैं जैसा कि हमारे विचार से उसे होना चाहिए।

कला की कृतियाँ यथार्थ सौन्दर्य से तुलना में हीन होती हैं। वास्तविक वस्तुओं की छाप हमारे हृदय पर कलाकृतियों की छाप से अधिक सजीव होती है।

जीवन का पुनः चित्रण कला की विशिष्टता है और इसी में उसकी चरितार्थता है। पर इसके साथ ही वह घटना-प्रवाह द्वारा जीवन की व्याख्या भी करती चलती है।[1]

उपर्युक्त बातों से यह स्पष्ट होता है कि चर्नीशेव्स्की के विचार से कला का मुख्य लक्ष्य सत्य या वास्तविकता है। वह अरिस्टॉटिल के अनुकृति-सिद्धान्त के स्थान पर यह मानता है कि काव्य और कला जीवन और वास्तविकता की अनुकृतियाँ न होकर उनकी पुनः सृष्टि हैं। अतः कलाकार का उद्देश्य वास्तविक जीवन का शुद्ध, सत्य और यथार्थ अनुभव और ज्ञान प्राप्त करना होना चाहिए, केवल कल्पना-विलास नहीं— तभी वह अपनी कृति में जीवन की वास्तविक पुनःसृष्टि कर सकता है। कलाकार यह पुनःसृष्टि बिम्बों द्वारा करता है।

चर्नीशेव्स्की सामान्य (General) से विशेष (Individual) को अधिक महत्त्व देता है। सामान्य, विशेष का खोखला और अमूर्त प्रतिबिम्ब मात्र होता है। उसके विचार से वास्तविकता का सम्बन्ध विषय-वस्तु से होता है, उसकी अभिव्यक्ति से नहीं। अभिव्यक्ति तो कवि की अपनी शैली है और उसके कवि-प्रतिभा के अनुसार अनन्तरूप सम्भव हैं।[2]

तीसरे समीक्षक दोब्रोल्युबोव मुख्यतया दार्शनिक विचारक हैं। उनकी कला-सम्बन्धी कतिपय मान्यताएँ इस प्रकार हैं[3]—

कला का उद्देश्य जनता को शिक्षित करना है, उसके लिए जीवन की पाठ्य-पुस्तक बनना है तथा समग्र समाज के लिए आँख, कान का काम करना है।

कला और दर्शन की सम्पूर्ण सार्थकता जनता की सोई शक्तियों को जाग्रत करने में है।

जीवन साहित्य के मानों का अनुसरण नहीं करता; साहित्य के मान जीवन की धाराओं का अनुसरण करते हैं।

यदि कोई कलाकृति किसी विचार या मतविशेष को व्यक्त करती है, तो इसलिए नहीं कि उसका रचयिता उस मतविशेष को अपनी कृति में प्रतिपादित करने का बीड़ा उठाता है, वरन् इसलिए कि वास्तविक जीवन के जिन तथ्यों की ओर उसका ध्यान गया, उन तथ्यों से अनिवार्यतः यह मत प्रकट होता है।

कलाकार का लगाव सूक्ष्म विचारों और सिद्धान्तों से नहीं होता। उसका लगाव होता है जीवित छवियों से जिनमें विचार अपना मूर्तरूप धारण करते हैं।

---

1. देखिये, दर्शन, साहित्य और आलोचना : चर्नीशेव्स्की।
2. आलोचना के सिद्धान्त, पृष्ठ 133।
3. दर्शन, साहित्य और आलोचना : दोब्रोल्युबोव।

आलोचक कलाकार द्वारा अंकित छवियों से निहित अर्थ को स्पष्ट करता है।

कलाकार का वास्तविक विश्व दृष्टिकोण, वह दृष्टिकोण, जिसमें उसकी प्रतिभा का मूल निहित है, उन छवियों के सिवा और कहीं नहीं मिल सकता जिनकी वह रचना करता है।

किसी लेखक या साहित्यिक कृति को जाँचने की हमारी कसौटी यह है कि वह लेखक या साहित्यिक कृति युग और जातिविशेष की प्रकृत आकांक्षाओं को किस हद तक व्यक्त करने में सहायक होती है।

जिस हद तक लेखक की दृष्टि जीवन के तत्त्व में प्रवेश करती है और जिस हद तक जीवन के विभिन्न पहलुओं को वह अपनी कृतियों में चित्रित कर पाता है, उसी हद तक लेखक की प्रतिभा की मात्रा कम या ज्यादा होती है।

आलोचना की यथार्थवादी पद्धति लेखक पर अन्य लोगों के विचार थोपने की परिपाटी की अनुमति नहीं देती।

उपर्युक्त मान्यताओं से भलीभाँति स्पष्ट है कि दोब्रोल्युबोव कला की मूल प्रेरणा के रूप में जीवन को ही स्वीकार करता है। कला और काव्य का जीवन से—वास्तविक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है, अतएव इनमें जीवन का स्पन्दन स्वाभाविक है। साहित्य और कलाकार का मानदण्ड भी यही है कि जीवन अपने वास्तविक रूप में कहाँ तक उनकी कृतियों में प्रस्फुटित हुआ है। दोब्रोल्युबोव के विचार से वास्तविक जीवन का चित्रण करते हुए भी कला जनता को शिक्षा देती है।

इसी अन्तिम प्रसंग को लेकर आदर्शवादी या प्रचारवादी मत का भी विकास होता है। प्रश्न यह है कि कला या काव्य यदि शिक्षा और प्रेरणा देने का साधन है, तो उसका स्वरूप क्या आदर्श-प्रधान या प्रचारवादी नहीं हो जाता है? इस प्रश्न के दोनों पहलू हैं। दोनों ही पहलुओं के ठीक रीति से समझ लेने पर यथार्थ और आदर्श का झगड़ा काफी अंशों में समाप्त हो जाता है; क्योंकि आदर्श और यथार्थ— दोनों ही जीवन की वास्तविकता के अन्तर्गत हैं। कलाकार या कवि और लेखक किसका सहारा लेकर अपनी कलाकृति की सृष्टि करते हैं, यही मूल प्रश्न है। कोई कलाकार एवं लेखक जीवन के उस रूप से प्रभावित होकर लिखता है जो अनुकरणीय रूप है और उसका सम्भावित वास्तविक रूप चित्रित करता है और कोई कलाकार एवं लेखक जीवन के उस यथार्थ रूप का चित्रण करता है, जो वांछनीय या अनुकरणीय नहीं है। परन्तु दोनों ही कोटि के कलाकार यथार्थ और आदर्श के रूप में जीवन की वास्तविकता का ही चित्रण करते हैं। यथार्थ या अवांछनीय रूप का चित्रण करनेवाला कवि उसे हटाकर, वांछनीय रूप की प्रतिष्ठा करने के पक्ष में होता है और आदर्श का चित्रण करनेवाला कवि और कलाकार भी बिना यथार्थ की भूमिका के आदर्श को सजीव और वास्तविक नहीं बना सकता। अतः यथार्थ और आदर्श दोनों ही जीवन के वास्तविक रूप का आधार लेकर चलते हैं।

वस्तुवादी समीक्षा के अन्तर्गत यथार्थवादी पक्ष के विचारकों की मान्यताओं का अवलोकन किया गया जिसमें उन्होंने आदर्शवादी या सिद्धान्त-प्रचारवादी स्वरूप को

अधिक महत्त्व नहीं दिया है। इसी परम्परा में जेम्स टी० फेरेल और स्टीफेन स्पेण्डर को भी लिया जा सकता है। फेरेल ने अपने ग्रन्थ ए **नोट ऑन लिटरेरी क्रिटिसिज्म**[1] में इस विचार को व्यक्त किया है और स्पेण्डर के **डेस्ट्रक्टिव एलीमेण्ट**[2] में भी प्रचारवादी दृष्टिकोण को अपनाये बिना जीवन की वास्तविकता के चित्रण की दृष्टि स्पष्ट होती है। इस दृष्टिकोण में जीवन का चयन मात्र ही अधिक महत्त्वपूर्ण है और कलाकार जो प्रेरणा देना चाहता है वह वास्तविक जीवन के यथार्थ आदर्श रूपों का चित्रण करके ही भली-भाँति देता है। जहाँ तक जीवन के कलापूर्ण एवं तटस्थ चित्रण का प्रश्न है, यह दृष्टिकोण अधिक गहरा प्रभाव डालता है और मन में अधिक विश्वास की भावना जाग्रत करता है। साथ-ही-साथ इससे मानव-मन की ग्रन्थियों और कुंठाओं को भी बढ़ने का कोई कारण नहीं; क्योंकि मानव को मानव के रूप में ही चित्रित करने का प्रयत्न इसमें है, उसे देवता बनाने का प्रयत्न नहीं है, पर इस बात का भी ध्यान रखना है कि उसे अनावश्यक रूप से पशु या राक्षस भी न बनाया जाय।

वास्तविकता के यथार्थवादी रूप में लेखक या कलाकार जीवन में अधिक स्वच्छन्दता से रमता हुआ चलता है। उसको अपनी कल्पना के आधार पर अवास्तविकता का रंग भरने की भी आवश्यकता नहीं रहती। वस्तुवादी समीक्षा के अन्तर्गत यह पक्ष इसीलिए अधिक स्वच्छन्द कलाकृतियों को आश्रय और प्रेरणा देनेवाला होता है। साथ ही इसकी अधिक व्यापक अपील भी होती है।

दूसरा पक्ष आदर्शवादी या प्रचारवादी हैं। इस दृष्टि को लेकर चलनेवाले प्रमुख विचारक हैं— रस्किन, ताल्स्ताय, क्रिस्टोफर काडवेल। इनमें से रस्किन और ताल्स्ताय जीवन के नैतिक आध्यात्मिक पक्ष को लेकर चलनेवाले हैं और क्रिस्टोफर काडवेल भौतिक और आर्थिक पक्ष को, लेकिन सभी वस्तुपरक आदर्शवादी और प्रचारवादी दृष्टिकोण रखते हैं। इनकी मान्यताओं पर हम अलग-अलग विचार करेंगे। रस्किन की मान्यताएँ मुख्यत: निम्नांकित हैं—

(1) कवि की कृति या श्रेष्ठ कला अनैतिकता को प्रश्रय नहीं दे सकती जैसा कि प्लेटो का विचार था।

(2) कविता और कला का मूल स्रोत मानव-कल्पना के माध्यम से व्यक्त होने-वाला परम चेतन तत्त्व है, अत: उसमें अनैतिकता का प्रश्न नहीं उठता।

---

1. Literature is chiefly concerned with life in raw...if the novelist aims to present a system of ideas, the result will be that he will end not as a novelist, but as a theoretician. –*A Note on Literary Criticism*, पृष्ठ 140-141।
2. All I want to emphasize here is that if one is on the side of the greatest possible freedon, if one insists that one should write as one cares and about what one wishes, one is not a traitor to the socialist cause.

—*Destructive Element*, पृ० 235

(3) सौन्दर्य एक दैवी उपहार है। उस सौन्दर्य का चित्रण करनेवाली ललित कलाएँ सदुपदेश द्वारा माधुर्य और आलोक (Sweetness and Light) प्रदान करती हैं।

(4) कोरा मनोरंजन कला का उद्देश्य नहीं है। साहित्य और कला में शिवत्व ही मुख्य सौन्दर्य-विधायक तत्त्व है।

(5) उच्च कलाकार या साहित्यिक को उच्च चरित्रवाला होना चाहिए।

उपर्युक्त मान्यताओं के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि रस्किन मुख्यतया नैतिकता, उच्चचारित्र्य और समाज-कल्याण को ही उत्कृष्ट कला की कसौटी मानता है और इनका चित्रण करके कला और साहित्य समाज में नैतिकता और चारित्र्य का प्रचार करते हैं, रस्किन यद्यपि एक विशाल हृदय का उदार विचारक और सौन्दर्य के प्रति गहरा अनुराग रखनेवाला था, फिर भी उसकी मान्यताओं से उसके शिक्षक रूप का अधिक स्पष्टीकरण होता है। उसका दृष्टिकोण आदर्शवादी है, क्योंकि कविता और कला सदैव आध्यात्मिकता या परमचेतन तत्त्व से युक्त नहीं होती। उसके दृष्टिकोण के अनुसार यथार्थवादी रचनाओं का कोई मूल्य नहीं क्योंकि उनमें नैतिकता का प्रतिपादन नहीं रहता।

रस्किन की परम्परा में किन्तु कुछ अधिक व्यावहारिक दृष्टि को लेकर चलनेवाले प्रसिद्ध रूसी लेखक लिओ ताल्स्ताय थे। वे स्वयं एक उत्कृष्ट उपन्यासकार, नाटककार और कहानीकार थे। यद्यपि उनकी कृतियों में वास्तविक जीवन का यथार्थवादी रूप चित्रित मिलता है, फिर भी उसमें निहित संदेशों और विचारों में आदर्शवाद की ही स्थापना है। विशेष रूप से उसकी पुस्तक 'ह्वाट इज आर्ट ऐन्ड अदर एसेज' (What is Art and other Essays) में उसका आदर्शवादी रूप प्रगट होता है। ताल्स्ताय की मान्यताओं को निम्नांकित रूप में देखा जा सकता है—

(1) दूसरे की अनुभूत भावना को अपने में जगाना और फिर उसे ध्वनियों, रंगों, भंगिमाओं और शब्दों द्वारा इस प्रकार अभिव्यक्त करना कि वह भावना दूसरे लोग भी अनुभव कर सकें, कला की मुख्य प्रक्रिया है।

(2) किसी कलाकृति की विशेषता उसकी नवीनता में है और यह नवीनता मानवता के लिए महत्त्वपूर्ण विचारतत्त्व के रूप में देखी जा सकती है।

(3) रचनाकार को अपनी रचना में प्रवृत्त करनेवाले प्रेरक तत्त्व को बाह्य प्रयोजन से सम्बन्धित न होकर अभिव्यंजना की आन्तरिक अनिवार्यता से सम्बन्धित होना चाहिए।

(4) कला एक मानवीय क्रिया है और वह मनुष्यों के बीच एकता स्थापित करने का साधन है।

(5) पूर्ण कलाकृति वह होती है जिसकी विचार-वस्तु सब व्यक्तियों के लिए महत्त्वपूर्ण एवं सार्थक होती है, अतएव वह नैतिकता से युक्त होनी चाहिए।

(6) कलात्मक अभिव्यक्ति स्पष्ट और सर्वबोधगम्य होनी चाहिए। यही उसकी सुन्दरता है।

(7) पूर्ण कलाकृति सत्य, शिव और सुन्दर से युक्त होनी चाहिए।

(8) अन्य रचनाएँ अपूर्ण हैं और वे तीन कोटियों में रखी जा सकती हैं। पहली वे जो विचार-वस्तु की महत्ता के कारण अन्यों से भिन्न हैं। दूसरी वे जो रचना-विधान के सौन्दर्य के कारण अन्यों से भिन्न हैं। तीसरी वे जो आन्तरिक निष्ठा के कारण अन्यों से भिन्न हैं। प्रत्येक कलाकृति में इन तीनों में से एक-न-एक विशेषता अवश्य होनी चाहिए।

(9) इसी प्रकार इन तत्त्वों में एक या अधिक के अभाव के आधार पर भी कला-कृतियों का विभाजन किया जा सकता है। इनमें विचार-वस्तु— शिवत्व, रचना-विधान, सौन्दर्य और निष्ठा— सत्य के रूप में है। जो कला केवल धनी वर्गों के मनोरंजन के लिए निर्मित होती है वह वेश्यावृत्ति है। वास्तविक कलाकार वही है जिसके पास कुछ सन्देश देने को है।

उपर्युक्त मान्यताओं के आधार पर यह स्पष्ट है कि ताल्स्ताय वस्तुवादी किन्तु सामाजिक चरित्र के आदर्शवादी रूप को लेकर चलनेवाला विचारक है। कला का नैतिकता से सम्बन्ध मानने के कारण और मानव की एकता का सन्देश-वाहक स्वीकार करने से काव्य और कला का स्वरूप एक प्रचारवादी रूप ग्रहण करता है। ताल्स्ताय की कला-सम्बन्धी पूर्णत्व की कल्पना भी आदर्शवादी है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि ताल्स्ताय के दृष्टिकोण में सेवाभाव और मानवतावाद का स्पष्ट प्रभाव है।

वस्तुवादी विचारकों में मार्क्सवादी दृष्टिकोण को पूर्णतया अपनानेवाले क्रिस्टोफर काडवेल हैं। इनके अपने काव्य और कला-सम्बन्धी विचार विशेष रूप से इनकी पुस्तक 'इल्यूजन ऐण्ड रियलिटी' (Illusion and Reality) में व्यक्त हुए हैं। काव्य और कला के क्षेत्र में उनके विचार बड़े ही क्रान्तिकारी हैं। क्रिस्टोफर काडवेल की कतिपय मुख्य मान्यताएँ निम्नांकित हैं—

(1) कविता, मानव-मन के प्राचीन सौन्दर्यात्मक क्रियाकलापों में से एक है।

(2) कविता को जातीय, राष्ट्रीय, सामान्य, विशिष्ट के रूप में मानना ठीक नहीं, वरन् वह काफी अंशों में जीवन के आर्थिक पक्ष से सम्बन्ध रखती है।

(3) कविता की उदात्त भाषा एक सामान्य एवं समूहगत अभिव्यक्ति का सुन्दर माध्यम है।[1]

(4) काव्य का जनजीवन से सीधा सम्बन्ध है। पहले काव्य का उपयोग मानव की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होता है।

(5) काव्यगत सत्य स्वयं अपने में कोई पूर्ण वस्तु नहीं है। उसका उपयोग समाज के लिए है। प्राकृतिक शक्तियों के साथ संघर्ष करते समय तथा फसल बोने और काटने के समय काव्य का प्रारंभ हुआ और इसका विकास सामूहिक उत्सवों में हुआ।

(6) जाति और समुदाय पर आधारित प्राचीन व्यवस्था के ध्वंस और सामन्ती

---

1. Illusion and Reality, पृष्ठ 14, 15, 16।

व्यवस्था के उदय होने के साथ कला जनजीवन की वस्तु न रहकर कतिपय शासकों की वस्तु हो गयी।

(7) इसी प्रकार कविता पूँजीवादी सभ्यता में पूँजीवादी वर्ग के हाथ का एक अस्त्र बन गयी और कवि जनता का कवि न रहकर एकाकी व्यक्ति बन गया और उसकी अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति गीतिकाव्य के रूप में हुई।

(8) आधुनिक युग का पूँजीवादी काव्य असामाजिक काव्य है और किसी रूप में असामाजिकता के लिए काव्य का प्रयोग करना उसका दुरुपयोग है।

(9) कला की आधुनिक प्रवृत्तियाँ जैसे बिम्बवाद, आदर्शवाद, अति यथार्थवाद, भविष्यवाद आदि अवास्तविकता पर आधारित होने के कारण पूँजीवादी संस्कृति के परिणाम हैं।[1]

(10) काव्यगत सत्य उसके अन्तर्गत व्याप्त सामाजिक तत्त्व में निहित रहता है।

उपर्युक्त मान्यताओं के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि क्रिस्टोफर काडवेल के विचार वस्तुवादी होते हुए भी पूर्णतया मार्क्सवादी है और उनके अन्तर्गत प्रत्येक वस्तु को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की दृष्टि से देखा गया है। सामाजिक दृष्टिकोण भी रस्किन और ताल्स्ताय के नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण से भिन्नता रखता है। प्रमुखतया जन-सामान्य के लिए भौतिक उपयोगितावादी सिद्धान्त की प्रतिष्ठा काडवेल के विचारों में की गयी है। अतएव मार्क्सवादी सिद्धान्तों का आदर्श ग्रहण करते हुए भी इनमें प्रधानतया सिद्धान्त-प्रचार का आग्रह है। यह कला की अत्यन्त उपयोगितावादी कसौटी है।

(इ) भाववादी मानदण्ड

कविता और कला में अभिव्यक्ति और वस्तु-पक्ष के साथ-साथ तीसरा भाववादी पक्ष भी होता है। पाश्चात्य समीक्षा, जो विशेष रूप से मनोविश्लेषण को महत्त्व देती है, इसी भाववादी पक्ष के अन्तर्गत आती है। इसके अन्तर्गत कवि, लेखक या कलाकार द्वारा चित्रित स्थितियों और चरित्रों के मनःस्थिति-विवेचन का कार्य मुख्य रहता है। साथ-ही-साथ उन मनोभावों के चित्रण के पीछे लेखक, कवि या कलाकार की मनः-स्थिति एवं परिवेश का विश्लेषण सम्भव है, क्योंकि लेखक की अपनी निजी पारिवारिक, सामाजिक एवं वैयक्तिक स्थिति ही कलाकृति के निर्माण की प्रेरक होती है और विभिन्न पात्रों के चित्रण में वह वास्तव में अपनी निजी मानसिक अनुभूतियों का चित्रण करता है। आलोचना की इस पद्धति का आधार मनोविश्लेषण शास्त्र है और विशेष रूप से उसकी फ्रायड, एडलर और युंग द्वारा की गयी व्याख्याएँ हैं जिनमें उन्होंने कला की मानसिक प्रेरणाओं का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। अतएव यहाँ हम फ्रायड, एडलर और युंग की मान्यताओं का संक्षिप्त विवरण देना आवश्यक समझते हैं।

---

1. पाश्चात्य साहित्यालोचन और हिन्दी पर उसका प्रभाव, डॉ० रवीन्द्रसहाय वर्मा, पृष्ठ 132, 133।

मानसिक धरातल पर फ्रायड द्वारा प्रस्तुत कला-सम्बन्धी मान्यताएँ संक्षेप में इस प्रकार हैं—

(1) हमारे मानस के तीन स्तर हैं— चेतन, अर्द्धचेतन और अवचेतन (Unconscious)। अवचेतन मन, जो मन का बृहद भाग है, मूलत: हमारी दमित इच्छाओं और आकांक्षाओं का पुंज है।

(2) ये दमित इच्छाएँ काम से सम्बन्धित हैं और अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग ढूँढ़ती हैं। इन्हीं की अभिव्यक्ति का एक मार्ग स्वप्न है और दूसरा है कला।

(3) कला का मार्ग उत्कृष्ट है; क्योंकि उसके माध्यम से अवचेतन मन की दमित अतृप्त इच्छाओं और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति उदात्त एवं उत्कृष्ट रूप में होती है। कला दमित, अतृप्त इच्छाओं का उदात्तीकरण है।

(4) दमित इच्छाओं की कलात्मक अभिव्यक्ति में बाह्य जगत् का संघर्ष भी नहीं होता, अत: यह निष्कण्टक मार्ग है।

(5) दमित इच्छाओं की अभिव्यक्ति द्वारा कलाकार न केवल मानसिक एवं आन्तरिक परितोष एवं स्वस्थता प्राप्त करता है, वरन् वह समाज में भी आदर और प्रेम प्राप्त कर लेता है।

(6) अवचेतन मन की दमित इच्छाएँ कला और साहित्य के अन्तर्गत नग्नरूप में न आकर प्रतीकों के रूप में आती हैं।[1]

उपर्युक्त मान्यताओं से यह स्पष्ट है कि कलाकृति में हमें जो कुछ मिलता है, वह अपूर्ण एवं दमित इच्छाओं का रूप है। साथ ही उनकी अभिव्यक्ति के उदात्तीकरण में वे इच्छाएँ सामाजिक, राष्ट्रीय या जातीय रूप धारण कर लेती हैं। अत: जो भावपक्ष इन कृतियों में प्रकट होता है, वह अपना सामाजिक महत्त्व रखता है, क्योंकि उसी प्रकार की दमित इच्छाओंवाले अवचेतन मानस समाज में अन्य अनेक लोगों के होते हैं और इसके अतिरिक्त अभिव्यक्ति के समय उसका नितान्त वैयक्तिक एवं नग्न रूप हटकर शुभ्र सामाजिक तथा उदात्त रूप आ जाता है। कवि या कलाकार अपने इस कार्य में किस हद तक सफल हुआ है, इसका विवेचन उपर्युक्त दृष्टिकोण से किया जा सकता है।

फ्रायड की भाँति एडलर भी अवचेतन में दमित इच्छाओं की अभिव्यक्ति-प्रक्रिया को महत्त्वपूर्ण स्थान देता है, पर उसकी मूल प्रेरणा या आधार क्या है, इसमें मतभेद है। फ्रायड मूल प्रेरणा काम को मानता है, जबकि एडलर अधिकार भावना को। एडलर की मान्यताएँ इस प्रकार हैं—

(1) व्यक्तियों में हीनता की भावना काम करती है। अपने को एक क्षेत्र में हीन समझकर व्यक्ति दूसरे क्षेत्र में पूर्ति करना चाहता है।

(2) आत्महीनता के भाव से पलायन करके ही व्यक्ति अपनी इच्छाओं की पूर्ति करते हैं और कला तथा साहित्य इस पलायन का सुन्दर क्षेत्र है।

---

1. पाश्चात्य साहित्यलोचन और हिन्दी पर उसका प्रभाव, पृष्ठ 117।

(3) हीनता की भावना से उत्पन्न मानसिक व्यतिक्रम को कलाकार अपनी कलाकृतियों की रचना द्वारा दूर कर लेता है।

(4) कलाकार किसी-न-किसी रूप में आत्महीनता से आक्रान्त व्यक्ति होता है। कला उसी पूर्ति का परिणाम है।

उपर्युक्त मान्यताओं में फ्रायड का ही प्रभाव है, केवल थोड़ा अन्तर है। युंग ने फ्रायड और एडलर दोनों की मान्यताओं को एकांगी बताया है। उसके विचार से कामवासना और अधिकार-भावना दोनों ही अवचेतन मन में क्रियाशील रहती हैं। उसके विचार से सामाजिक वर्जनाओं के परिणामस्वरूप अवचेतन में पूँजीभूत इच्छाओं की अभिव्यक्ति ही कला और साहित्य अथवा रचनात्मक प्रक्रिया में देखी जा सकती है। इस प्रकार युंग की मान्यताएँ अधिक समन्वयवादी और व्यापक हैं।

ये मनोविश्लेषणात्मक कला या साहित्य-रचना की प्रेरणाएँ आंशिक रूप में सत्य मानी जा सकती हैं। समस्त साहित्य कुंठाओं या दमित भावनाओं की ही अभिव्यक्ति नहीं मानी जा सकती। कला और साहित्य में जो भावनाएँ अभिव्यक्त होती हैं, वे स्वस्थ, स्वच्छन्द, कुंठाहीन व्यक्ति की भी उदात्त, व्यापक एवं तीव्र भावनाएँ हो सकती हैं जो कि प्राकृतिक या सामाजिक परिस्थिति के प्रतिक्रियास्वरूप सहज रूप में आयी हैं और जिनमें मानव एवं जीवन के प्रति अपार, अगाध प्रेम लहराता हुआ देखा जा सकता है। अत: कलाएँ और साहित्यिक रचनाएँ सदैव विकृत एवं कुंठित मन का ही परिणाम हों, यह स्वीकार नहीं किया जा सकता। उनमें जीवन का स्वस्थ रूप भी फूलता-फलता तथा हँसता-खेलता है, इसे भी हमें स्वीकार करना होगा।

(विशेष विवरण के लिए देखिये, "पाश्चात्य काव्यशास्त्र— इतिहास, सिद्धान्त और वाद," ले० डॉ० भगीरथ मिश्र)

■■

उपसंहार

साहित्यिक उत्थान के प्रेरक सामाजिक तत्त्व

साहित्य और समाज का अटूट और अगाध सम्बन्ध है। समाज की जीवनधारा में साहित्य का कमलवत् विकास होता है; समाज के तर्क का परिणाम साहित्य का नवनीत है; समाज के शरीर का मुख साहित्य है। वह समाज की धरती पर उगनेवाले जीवन का फूल है। समाज के सुख-दुःखों की गंगा-यमुना की धाराओं के संगम पर साहित्य त्रिवेणी और तीर्थराज है। साहित्य सुगन्ध है, साहित्य मधुरिमा है। वह रूप, सौन्दर्य और प्रगति के प्रभाव का साकार चित्र है। वह समाज की बुद्धि का परिणाम और अनुभव एवं अनुभूति का सार है। साहित्य समाज की चिरस्थायी सृष्टि है। व्यक्ति उत्पन्न होते और समाप्त होते हैं, पर साहित्य उत्पन्न होने पर चिरकाल तक स्थिर रहता है; वरन् यह कहा जा सकता है कि उच्च साहित्य तो अमर ही है। साहित्य इस प्रकार समाज की अमर सृष्टि है। उसमें चित्रित जीवन का रूप शाश्वत है। आज हमारे बीच राम-रावण, बुद्ध, ईसा, रुस्तम, दुष्यन्त, सीता, शकुन्तला आदि नहीं, परन्तु साहित्य के बीच वे आज भी जीवित हैं। इतना ही नहीं, जो समाज में कभी नहीं थे, वे भी साहित्य में उत्पन्न हुए और अमर हैं। इस प्रक़ार साहित्य समाज की सृष्टि होता हुआ भी, अपने निजी समाज की सृष्टि करता है। अतः साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध भी है।

समाज की धरती से उखड़ जाने पर या समाज से विच्छिन्न हो जाने पर साहित्य की स्थिति हवाई है। जब तक एक क्षीण डोरा भी समाज से साहित्य की पतंग को बाँधे रहता है, तब तक वह दूर-दूर तक उड़ता हुआ भी प्रगतिशील, व्यवस्थित एवं सुचालित है; परन्तु वह सामाजिक सूत्र कट जाने पर वह कटी पतंग के समान दिग्भ्रमित होकर व्यर्थ उड़ता रहता है। समाज की प्रबुद्ध चेतना जो साहित्यकार में निष्ठ कहाती है, साहित्यिक सृजन की परिचालिका है जिसके बिना न उसे समाज की धरती ही मिलती है और न कल्पना का आकाश ही।

साहित्य की सार्थकता तभी है जबकि वह जीवन के प्रति एक अटूट आस्था और प्रबल उत्साह भर दे। जीवन के विविध पक्षों का सौन्दर्य इतने प्रेरक रूप में वह हमारे सामने प्रस्तुत करे कि उसकी विकृतियों को हम दूर करके उसे सुघर बनाने की तत्परता प्राप्त करें। विकृतियाँ इस रूप में और अनुपात में न आवें कि उसके सौन्दर्य को ढँक लें, रूप को बोझिल बना दें और हमारे मन में एक निराशा और निरुत्साह भर जाय तथा अगति और शिथिलता की सड़ाँध से हम ऐसे ओतप्रोत हो जायँ कि विकृति के साथ

समझौता कर लें। जहाँ पर भी साहित्य इस प्रकार की स्थिति में जाता है वहाँ पर समझ लीजिये कि उसमें असामाजिक तत्त्व प्रधान हो जाते हैं और सामाजिक तत्त्व क्षीण हो जाते हैं। ऐसी दशा में न केवल साहित्य ह्रासोन्मुख होता है, वरन् समाज भी पतन को प्राप्त करता है।

साहित्यकार के तेजस्वी व्यक्तित्व का तेज साहित्य में सदैव ज्योतित रहना चाहिए। जहाँ पर साहित्यकार तेजस्वी न होकर स्वयं विकारग्रस्त और रुग्ण रूप में आता है; वहाँ हम उसके साथ सहानुभूति भले ही रखें, परन्तु उससे कुछ प्रेरणा प्राप्त नहीं करते। ऐसा भी होता है कि उसके विकार का संक्रमण दूसरों पर हो जाय। अत: अत्यधिक रोना साहित्य में असामाजिक है।

यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि यदि साहित्यकार की निजी अनुभूति दु:खदायी हो और परिस्थितियाँ भी विषाद और निराशाग्रस्त; ऐसी दशा में उसकी प्रतिभा उसके निजी अनुभवों को प्रकाशित करेगी; तो क्या ये समस्त दु:खात्मक अनुभव के प्रकाशन असामाजिक होंगे? इस प्रसंग में उत्तर यही दिया जा सकता है कि यह साहित्यकार को निजी प्रवृत्ति एवं सामाजिक भावना दोनों पर ही निर्भर करता है। साहित्य एक सामाजिक यानी समाज के हेतु की गई सृष्टि है अत: उसमें अपनी वैयक्तिक दु:खानुभूति को सामाजिक धरातल पर, सामाजिक संवेदना के रूप में प्रकट करना अधिक उत्कृष्ट है। इस प्रसंग में गोस्वामी तुलसीदास और प्रेमचन्द का नाम लिया जा सकता है। इन दोनों के समान दु:ख और निराशापूर्ण परिस्थितियाँ और किसी की क्या होंगी या हो सकती हैं? फिर भी इनके साहित्यों में सामाजिक तत्त्व इतने उदात्त और शुभ्र रूप में प्रतिफलित हुए हैं कि इनकी रचनाएँ हमारे लिए आदर्श का काम करती हैं।

दूसरी शंका यहाँ पर एक और उठ सकती है कि व्यक्ति समाज का अवयव है। व्यक्ति ही मिलकर समाज बनाते हैं। वैयक्तिक अनुभूतियों का, चाहे वे दु:खात्मक हों चाहे सुखात्मक, साहित्य में प्रकाशन महत्त्वपूर्ण है। अत: वैयक्तिक निराशा, समाज के भीतर निराशों के प्रति संवेदना जगानेवाली होती है और इस प्रकार सामाजिक संस्कार अधिक संवेदनापूर्ण बनते हैं, तब उनको साहित्य में क्यों न स्थान मिलना चाहिए। बात हमारे सामने यही है कि हमें आगे बढ़ने की प्रेरणा तथा जीवन में प्रवेश करने का उत्साह, यदि साहित्य से मिलता है तो वह साहित्य का रूप अभिनन्दनीय है। यदि निराशा या दु:खों के चित्रण ऐसे हैं कि हमें पीड़ितों या दु:खितों के लिए कुछ करने और सोचने के लिए बाध्य करते हैं, तो वे सामाजिक उद्देश्य को ही सिद्ध करते हैं। परन्तु, यदि वे हमें स्वयं ही निराश और अकर्मण्य बनाते हैं, तो वे वांछनीय नहीं हैं। यह प्रभाव साहित्यकार के दु:खानुभूति के चित्रण में व्याप्त दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। देखना हमें यही है कि निराशा और विकृति का चित्रण हमें उसे दूर करने की कोई प्रेरणा देता है या उसके साथ समझौता करके हमारे आत्मविकास के स्थान पर आत्म-संकोच का प्रेरक बन बैठता है। यदि वह आत्मविश्वास को प्रेरणा देता है; तो वह उदात्त है अन्यथा संकीर्ण।

इस प्रकार साहित्य की कसौटी प्रधानतया सामाजिक है। वैयक्तिक आनन्द को देता हुआ भी साहित्य या काव्य का रूप सामाजिक होता है; क्योंकि वह एक साथ एक

व्यक्ति को ही नहीं, वरन् उसी प्रकार की अनुभूति समाज के अनेक व्यक्तियों को प्रदान करता है। सामाजिक सहानुभूति और चेतना की पूर्णतया अवहेलना करके साहित्य सामान्यतया नहीं पनप पाता। केवल एक स्थिति इस प्रसंग में सम्भव है जिसमें समाज पूर्णतया पतनोन्मुख और विकृत हो और साहित्यकार एक प्रबुद्ध चेतना का व्यक्ति। ऐसी दशा में वह समाज में व्याप्त भावना के विपरीत उदात्त चेतना का प्रवर्तन करता है और समाज की भर्त्सना के कशा-प्रहार से विकार, आडम्बर और प्रमाद को निकालकर स्फूर्ति एवं उदात्त चेतना प्रदान करता है। कबीर आदि का कार्य इसी प्रकार का है।

साहित्य-सृजन की प्रेरणा भी सामाजिक भावना के अनुकूल होती है, प्रतिकूल नहीं। अधिकतर विद्वानों द्वारा सृजनात्मक प्रेरणा के जो कारण माने गये हैं, वे हैं— अभाव, आत्मप्रकाशन, सौन्दर्यप्रेम, कामनापूर्ति और आनन्द। यदि हम विचार कर देखें तो इनमें भी सामाजिक सम्बन्ध देखा जा सकता है। साथ ही साहित्यकार जब इनमें से किसी तथ्य से प्रेरित होकर लिखता है, सब समाज की भावना का प्रतिनिधित्व भी करता है। अभाव की दशा में वह अपनी अथवा समाज की स्थिति में किन्हीं बातों का अभाव देखता है जो उसकी कल्पना के आदर्श समाज के भीतर होनी चाहिए। अतएव वह अपनी प्रतिभा द्वारा साहित्यिक सृष्टि करता है जिसमें उस अभाव की पूर्ति है। इसका एक पक्ष तो वैयक्तिक सन्तोष है; परन्तु दूसरा पक्ष सामाजिक है। उस अभाव को समाज के बहुत से लोग अनुभव करते हैं, अत: उसकी इस काल्पनिक पूर्ति में उन्हें भी सन्तोष मिलता है, यह सामाजिक मनोविज्ञान की बात है। पूर्ति न भी करे, तब भी अभाव का यथार्थ चित्र साहित्य में आने पर उसे पूर्ण करने की एक प्रबल भावना हमारे हृदयों में जगती है और यदि कवि या साहित्यकार ने उस दिशा में मार्ग-प्रदर्शन कर दिया, तो हम अपने बीच उस आदर्श को उतारने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार सामाजिक सम्बन्ध स्पष्ट है।

आत्मप्रकाशन या आत्माभिव्यक्ति, साहित्य-सृजन की मूल प्रेरणा मानी गयी है। साहित्यकार का आत्म, लोकमानस में प्रतिष्ठा-प्राप्त होता है। उसकी आत्माभिव्यक्ति जैसे समाज के अनेक व्यक्तियों की निजी आत्माभिव्यक्ति के रूप में होती है। उदाहरणार्थ, गोस्वामी तुलसीदास की विनयपत्रिका या मीरा की पदावली, आत्माभिव्यक्ति होते हुए भी अनेक व्यक्तियों के मन को भाती है। यहाँ पर एक प्रश्न यह उठता है कि क्या इसी प्रकार विकारपूर्ण आत्माभिव्यक्ति का भी लोकानुभव इसी प्रकार विकारी हृदयों में नहीं होगा? मैं कहता हूँ कि अवश्य होगा। साहित्य एक प्रबल और संक्रामक अभिव्यक्ति है और उसका गहरा सामाजिक प्रभाव है, अत: साहित्यकार को यही बात ध्यान में रखते हुए विकृत भावनाओं को ऐसा प्रकाश न देना चाहिए कि समाज उन्हें अपनाने लगे। विकार का विकार के रूप में ही चित्रण करना चाहिए।

सौन्दर्यप्रेम साहित्यकार की उज्ज्वल प्रेरणा है और इसका बहुत बड़ा सामाजिक महत्त्व है। रूप-गुण के सौन्दर्य के प्रति साहित्यकार सबसे अधिक संवेदनशील होता है। अत: वह इनके सूक्ष्म-से-सूक्ष्म प्रभावों को चित्रित करने में आनन्द का अनुभव करता है। साहित्य के भीतर आकर ये रूपगुण के चित्र स्थायी हो जाते हैं और समाज के

सौन्दर्यबोध को प्रकट करते हैं, यद्यपि उसके द्वारा गृहीत प्रभाव व्यक्ति-सौन्दर्य के होते हैं, पर वह साहित्य में निर्वैयक्तिकता धारण करके प्राय: आते हैं, अत: सर्वसंवेद्य हैं। राधाकृष्ण और सीताराम के सौन्दर्य-चित्रण में कवियों ने जाने कितने व्यक्ति-सौन्दर्यों की सामग्री ग्रहण की होगी। रीति-युगीन राधा के चित्रण भी इसी प्रकार के हैं। अत: साहित्य में उतरकर सौन्दर्य चिरस्थायी हो जाता है और हमारी सामाजिक सौन्दर्य-भावना का विकास भी करता है। हाँ, यह अवश्य है कि सौन्दर्य की धारणाओं को अति रूढ़ न होने देना चाहिए, उसे गतिशील बनाये रखना चाहिए। इसके लिए सहज रूप और गुणों पर कवि और साहित्यकार को विशेष ध्यान देना अपेक्षित है।

कामना-पूर्ति तो सामाजिक पृष्ठभूमि की स्पष्ट अपेक्षा करती है। प्रमुखतया यश और अर्थ की कामनाएँ साहित्य-सृजन द्वारा पूर्ण की जाती हैं। यशप्राप्ति के लिए तो निश्चय ही ऐसे साहित्य की रचना होनी चाहिए जिसका आदर समाज में हो सके। अर्थ की प्राप्ति के लिए अर्थदाता की इच्छा का ध्यान प्राय: रखा जाता है। अत: वैयक्तिक रुचि के साथ अन्यों की रुचि और सामाजिक रुचि का सम्बन्ध साहित्य से जुड़ जाता है।

आनन्द जिस रचना का प्रेरक है, वह निश्चय ही अनुभूति और कल्पना के उस स्तर पर है जिस पर साधारणीकरण होता है। अर्थात् उस रचना से एक साथ बहुत-से व्यक्ति आनन्दात्मक अनुभव प्राप्त करते हैं। अत: यह वैयक्तिक आनन्द लोक-मानस के स्तर पर होता है। कवि लोकानुभूति का प्रतिनिधित्व करता है। इस आनन्दानुभूति का एक रूप सामान्य लोकानुभूति से उच्चतर स्थिति का है। फिर भी, संवेदनात्मक होने के कारण वह निम्नस्तर से भी ग्राह्य हो सकती है। यह आनन्द की स्थिति कुछ स्पष्ट हो सकती है। साहित्यकार अपनी कल्पना में दूर चला जाता है, अत: यह अस्पष्टता स्वाभाविक है।

इस प्रकार उपर्युक्त विश्लेषण से यह प्रकट है कि साहित्य-सृजन की कोई भी प्रेरणा सामाजिक संवेदना के विरुद्ध नहीं है और उसके द्वारा उत्पन्न साहित्यिक रचनाएँ उदात्त सामाजिक तत्त्वों को अंगीकृत करने के लिए पूर्ण स्वच्छन्द हैं। अब हमें विचार यह करना है कि कौन-से सामाजिक तत्त्व ऐसे हैं जो साहित्यिक उत्थान को प्रेरित करते हैं या उसमें सहायक होते हैं या जिन तत्त्वों को प्राप्त करने पर साहित्य उत्थान के मार्ग पर अग्रसर होता रहता है।

साहित्यिक उत्थान से हमारा तात्पर्य किसी भी प्रकार से साहित्य का प्रचुर मात्रा में निर्माण नहीं है, वरन् साहित्यिक उत्थान का तात्पर्य उच्च और उदात्त साहित्य की रचना है। इससे हम यह कहना चाहें तो कह सकते हैं कि इसका तात्पर्य शाश्वत या चिरस्थायी साहित्य की रचना है। साहित्य की रचना के दो पक्ष होते हैं— एक तो वर्ण्य विषय और दूसरा अभिव्यक्ति। अभिव्यक्ति की कुशलता के कारण, कभी-कभी वर्ण्य विषय अधिक उदात्त न हो, तब भी साहित्यिक कृति चिरस्थायी हो जाती है, परन्तु उदात्त का तात्पर्य केवल यही नहीं है कि उसमें उपदेशात्मकता व शिक्षा हो, अन्य प्रकार से भी हम उदात्त या उत्कृष्ट साहित्य की सृष्टि कर सकते हैं। अत: जिन उदात्त सामाजिक तत्त्वों के समावेश से साहित्य का उत्थान होता है, उनका हम यहाँ विश्लेषण प्रस्तुत कर रहे हैं।

सबसे पहला तत्त्व है सत्य। सच्चाई या सत्य का ग्रहण सामाजिक संघटन के लिए महत्त्वपूर्ण है। अतः सत्य का उद्घाटन साहित्य का दायित्व है। इसे स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं कि समाज में सत्य का स्थान एवं महत्त्व है। उसके महत्त्व को सभी मानते और स्वीकार करते हैं। मानव-समाज के वैयक्तिक एवं सामाजिक सभी प्रयत्न सत्य को ढूँढ़ने और उसे प्रकट करने के लिए हुए हैं। धर्म और दर्शन के उच्च व्याख्याताओं ने अपने विचारों में सत्य का ही उद्घाटन और प्रचार किया। सत्य की खोज में विज्ञान भी दिन-रात संलग्न है; परन्तु इन सबके द्वारा प्रकट किए हुए सत्य में कहीं-कहीं मतवैषम्य भी मिलता है; साथ ही उसका ग्रहण बुद्धि के द्वारा होता है। साहित्य सत्य को अपने समस्त सौन्दर्य के साथ ग्रहण कर उसे प्रकट करना चाहता है। यह सत्य सिद्धान्त, नियम, नैतिकता, धर्म, अधर्म, घटना, चरित्र आदि किसी भी रूप में हो सकता है। साहित्यकार सत्य का सजीव रूप में साक्षात्कार करता है और हमें कल्पना और अनुभूति द्वारा ग्रहण कराता है। इस प्रकार सत्य का जितना ही पूर्ण और व्यापक उद्घाटन साहित्य के द्वारा हो सके उतना ही वह साहित्य उत्कृष्ट है। तुलसीदास की चौपाई—'परहित सरिस धर्म नहिं भाई। परपीड़ा सम नहिं अधमाई॥ नहिं असत्य सम पातक पुंजा। गिरिसम होहिं कि कोटिक गुंजा॥'— सत्य तत्त्व का प्रकाशन करनेवाली है।

दूसरा तत्त्व है मानवता। साहित्य सत्य के उद्घाटन द्वारा हमें उदार और संवेदनशील बनाता है। साहित्य के लिए मानव-मानव का भेद-भाव नहीं। उसकी मानव-भावना मानव मात्र को एक रूप में समझती है। कहीं का कोई प्राणी साहित्य में चित्रित हो, हम उसके सुख-दुःख से प्रभावित होते हैं। देश, काल और समाज के बंधन, साहित्य भी मानवता के विकास में बाधक नहीं है। साहित्यकार की मानवता विश्व-बन्धुत्व का सन्देश देती है। उसके लिए समस्त वसुधा मानव-कुटुम्ब है। इतना ही नहीं, साहित्यकार और कवि का समाज तो मानवेतर प्राणियों तक को अपनी परिधि में समेट लेता है। स्वर्गलोक के निवासी देवता उसके समाज के हैं। पशु-पक्षी, वृक्ष सब उसके सगे हैं। जड़चेतन का भेद साहित्य के संसार में नहीं है। वह पक्षियों को वाणी-सम्पन्न और पशुओं को करुणार्द्र चित्रित करता है। यह सब असत्य नहीं, व्यापक सत्य है। शकुन्तला के आश्रम के मृग, जायसी का हीरामन सुग्गा और पक्षी, तुलसी के वानर और रीछ, सूर की गौवें, यमुना और वंशीवट सब अनुभूतिसंकुल हैं। इतना ही नहीं, आधुनिक कवि भी इस संवेदना को असत्य समझता हो, सो बात नहीं। साकेत में गुप्त जी ने लिखा ही है—

टप टप गिरते थे अश्रु नीचे निशा में,
झड़ झड़ पड़ते थे तुच्छ तारे दिशा में।
कर पटक रही थी निम्नगा पीट छाती,
सन सन करके थी शून्य की साँस आती॥

इसी व्यापक मानव-संवेदना ने ईश्वर के अन्तर्यामी रूप को पहिचाना और प्रतिष्ठित किया। आज उस ईश्वर को मानवता, मानव-चेतना, सामाजिक चेतना जो चाहिए कहिये, वह सभी में व्याप्त है; जिसे कबीरदास कहते हैं—

सब घट मेरा साइयाँ, सूनी सेज न कोय।
भाग उन्हीं का हे सखी, निज घट परगट होय॥

और तुलसीदास जी कहते हैं—

जड़ चेतन जग जीव जत, सकल राममय जानि।
बंदहुँ सब के पदकमल, सदा जोरि जुग पानि॥

यह भावना मानवता के तत्त्व का ही चरम विकास है। इसमें व्यक्ति समाजमय है। यहाँ व्यष्टि-समष्टि का भेद समाप्त हो जाता है। साहित्य का यह प्रतिपाद्य है। इसे प्रकट कर साहित्य उत्थान को प्राप्त करता है। यह मानवता और विश्वबन्धुत्व का भाव साहित्य में हृदय को हृदय से जोड़ता है। यह भाव हमारे हृदय का विस्तार है।

साहित्य के उत्थान का तीसरा तत्त्व है निर्मल चरित्रों का चित्रण। साहित्य का सामाजिक पक्ष प्रबन्ध-काव्यों में निखरता है। जिनमें कथानक द्वारा कुछ चरित्रों का स्वरूप हमारे सामने प्रत्यक्ष होता है। यह एक साहित्य का संसार है। साहित्यकार को प्रेरणा देनेवाले निर्मल चरित्र, रोचक अथवा प्रभावशाली व्यक्ति होते हैं। चरित्र-चित्रण के प्रसंग में आदर्श और यथार्थ का प्रसंग उठाना अनावश्यक है। बड़े से बड़ा साहित्यकार यथार्थ की पृष्ठभूमि में ही किसी आदर्श चरित्र का उद्‌घाटन करता है। ऐसा आदर्शवाद वांछनीय नहीं जो यथार्थ की अवहेलना करे या उसकी हत्या ही कर दे। लोकानुभव यह भी है कि सज्जनों के सत्यकार्य का सुपरिणाम भी मिलता है और यह भी है कि सज्जनता के दुष्परिणाम प्राप्त होते हैं। सत्य और यथार्थ यही है कि इस प्रकार के परिणाम वास्तविक एवं स्वाभाविक पृष्ठभूमियों पर दिखाये जायँ। प्रेमचन्द का 'गोदान' यथार्थवादी उपन्यास है; परन्तु उसका पात्र होरी एक आदर्श चरित्र है जो कर्त्तव्य और सत्यता तथा मर्यादा पर अपना सब कुछ स्वाहा कर.देता है। समाज में उसे अपने पुण्य का फल नहीं मिला। पर ऐसे चरित्र हमारे हृदय में जो घर कर जाते हैं, वे अपने निर्मल चारित्र्य के कारण ही तो। यह निर्मल या उदार चरित्र एक क्षेत्रीय भूमि पर है। देशव्यापी या विश्वव्यापी भूमि पर जो चरित्र अपने सद्‌गुणों को प्रकट करता है, वह निश्चय ही राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा आदि के समान होता है। अतः हमें देखना यह है कि जिस चरित्र का चित्रण हुआ है वह कितनी सच्ची वास्तविक भूमि पर विकसित हुआ है। यथार्थ का तात्पर्य यह नहीं माना जा सकता कि दुष्टों, दुर्जनों, छलियों और कपटी लोगों का ही चित्रण किया जाय, क्योंकि समाज में सज्जन व्यक्ति भी बहुत बड़ी संख्या में रहते हैं और यह जीवन का वास्तविक यथार्थ है।

चरित्र-चित्रण में उदात्त गुणों का उद्‌घाटन सामाजिक उत्थान का प्रेरक होता है। उससे हमारे मन में उच्चता, चरित्र में दृढ़ता और हृदय में उत्साह प्राप्त होता है। अतः सामाजिक हित के लिए त्यागी, उदार, तेजस्वी, अन्याय का विरोध करनेवाले तथा जिनमें समाज के नेतृत्व के गुण हों, ऐसे व्यक्तियों के चरित्र पर विशेष प्रकाश डाला जाना चाहिए। उनके सभी कार्यों का पुरस्कार ही मिले, यह उचित नहीं। आपत्ति, कठिनाई, विरोध सभी उनके जीवन में आने चाहिए। इस प्रकार के चित्रणों से साहित्य उत्कृष्ट होता

है और उच्च गुणों की समाज में प्रतिष्ठा होती है। ऐसे चरित्रों के साथ दुष्ट, कपटी, क्रूर पात्रों का भी चित्रण होना आवश्यक है। महाकाव्य में नायक के चरित्र को उदात्त गुणों से ओत-प्रोत माना गया है। उसके सामाजिक सत्प्रभाव की प्रतिष्ठा के हेतु ''क्वचिन्निन्दा खलादीनां, सतां च गुणकीर्तनम्।'' अर्थात् दुष्टों की निन्दा और सज्जनों की प्रशंसा का भी विधान है। परन्तु यह सब चित्रण विश्वसनीय और स्वाभाविक होना चाहिए, भोंडा और हास्यास्पद नहीं। यह दूसरा पक्ष कला से सम्बन्ध रखता है।

सत्य के प्रसंग में ही यह कहा जा चुका है कि साहित्य सत्य को अपने समग्र रूप में प्रस्तुत करता है, वरन् उसके सुन्दर रूप का उद्घाटन करता है। सौन्दर्य का चित्रण ही साहित्य को इतना मोहक और रमणीक बनाता है। अत: साहित्यकार जीवन के विशाल अगाध खारे समुद्र से हाहाकार, गर्जन-तर्जन के बीच भी रत्नों को प्रकाशित करता है। यह सौन्दर्य-चित्रण रूप का भी होता है और गुण का भी। साहित्य ने जो रूप और सौन्दर्य की सृष्टि की है आज हम और हमारा समाज उसी से सौन्दर्यवान् है। साहित्य का सौन्दर्य तिहरा है। रूप का सौन्दर्य, गुण का सौन्दर्य और अभिव्यक्ति का सौन्दर्य। रूपात्मक सौन्दर्य-सृष्टि हमारे हृदय को कोमल और सुकुमार बनाती है और रूप को हम कोमलता एवं मृदुता के साथ देखने का संस्कार प्राप्त करते हैं। उसके प्रति कोमलता का भाव हमारे हृदय में जाग्रत होता है। सौन्दर्य की सहज प्रतिक्रिया यह है कि हम उसे सुरक्षित रखना चाहते हैं और विकृत एवं नष्ट होने से बचाना चाहते हैं। यह हमारे हृदय को कोमल और दृष्टि को सूक्ष्म तथा कल्पना को प्रसन्न बनाता है। ये रूप-चित्र हमारे मन की धरोहर होते हैं। हम उन्हें सँजोकर रखना चाहते हैं। पैर की ललाई और गति का गतिमय रूप-चित्र देखिए—

पग पग मग अगमन परति, चरन अरुनि द्युति झूलि ।
ठौर ठौर लखियतु उठे, दुपहरिया से फूलि ॥

इसी प्रकार मतिराम का एक चित्र है—

कुंदन को रँग फीको लगै झलकै असि अंगन चारु गुराई ।
आँखिन में अलसानि चितौनि मैं मंजु बिलासन की मधुराई ।
को बिन मोल बिकात नहीं मतिराम लखे अँखियान लुनाई ।
ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि त्यों-त्यों खरी निकसै ह्वै निकाई ॥

अधिक उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं। रूप का प्रभाव तो हमारे हृदय पर पड़ता ही है। गुण का सौन्दर्य रूप-सौन्दर्य को पुष्ट करता है और हृदय पर प्रभाव डालता है। हम इन सौन्दर्यों से युक्त व्यक्ति के प्रति स्नेह-प्रेम, सम्मान, श्रद्धा आदि के भावों से ओत-प्रोत हो जाते हैं और इस प्रकार हमारे सद्गुणों के संस्कार बनते हैं। अत: यह सौन्दर्य-चित्रण साहित्य का सामाजिक तत्त्व है, जिसका जितना ही विकास हो उतना ही अच्छा।

अभिव्यक्तिगत सौन्दर्य वर्ण्य-विषय से नहीं, वरन् उसके प्रकाशन की कला से सम्बन्ध रखता है। साहित्य अभिव्यक्ति पर सबसे अधिक निर्भर है। अभिव्यक्ति ही तो

साहित्य का असली रूप है। अभिव्यक्ति-सौन्दर्य के बिना तो उत्तम-से-उत्तम विषय भी प्रभावहीन है। अभिव्यक्ति भी एक सामाजिक तत्त्व है। इसके द्वारा ही व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध है, व्यक्ति-व्यक्ति का सम्बन्ध है। यदि अभिव्यक्ति नहीं, तो हम अपने सुन्दर-से-सुन्दर भाव से भी किसी को प्रभावित नहीं कर सकते। अभिव्यक्ति-सौन्दर्य ही अलंकार, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि के रूप में प्रकट होता है। अभिव्यक्ति चाहे जितनी सुन्दर और उत्कृष्ट हो, है साधन ही। अभिव्यक्ति को ही साध्य समझ लेने से साहित्य का उत्थान रुक जाता है। जब वह साधन है, तब उत्कृष्टता और सौन्दर्य के साथ पर-संवेद्यता का गुण भी उसमें होना चाहिए अर्थात् दूसरे व्यक्ति उसमें कही हुई बात को भली-भाँति सम्पूर्ण प्रभाव के साथ ग्रहण कर सकें यह आवश्यक है। इस प्रकार सरलता और सुगमता उसका प्रधान गुण है। गोस्वामी तुलसीदास के काव्य का आदर्श प्रकट करनेवाली पंक्तियाँ इसी प्रकार की मान्यता प्रकट करती हैं। वे कहते हैं—

सरल कबित कीरति बिमल, सोइ आदरहिं सुजान ।
सहज बैर बिसराय रिपु, जो सुनि, करैं बखान ॥

इस प्रकार सरलता, अभिव्यक्ति की विशेषता और विमल कीर्ति, वर्ण्य विषय की विशेषता, तुलसीदास के आदर्श के अनुसार ठहरती है। लोकहित तो समस्त साहित्यिक कृतियों का उद्देश्य होना चाहिए, यह गोस्वामी जी का निश्चित मत है—

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई।।

साहित्य रमणीय वाङ्मय है। एक प्रसिद्ध संस्कृत उक्ति 'क्षणे-क्षणे यन्नवतानुपैति, तदेव रूपं रमणीयतायाः' के अनुसार रमणीयता का स्वरूप नित्य नव्यता है। जो सदैव नव्य हो, वही साहित्य है। इस नव्यता के लिए साहित्यकार भव्य कल्पना का प्रयोग करता है। कल्पना वस्तु, तथ्य या घटना के मनोरम चित्र प्रस्तुत करती है और इन चित्रों में ही नव्यता और रमणीयता का निवास रहता है। अतः भव्य कल्पना भी साहित्य का एक तत्त्व है, जो उसे श्रोता या पाठक के लिए ग्राह्य बनाता है; भव्य कल्पना के द्वारा प्रस्तुत वस्तु, तथ्य आदि हमारे मानस में घर कर लेते हैं, जैसे—

उमगि हिये ते आयो प्रेम को प्रवाह ताते लाज गिरि परी जैसे तरुवर तीर को।

लोग मेरे नीर में सावन समझ कर डूबते हैं ।
डबडबाती आँख के मोती चुराकर गा रहा हूँ ॥
लोग मेरे दीप को सूरज समझकर जागते हैं ।
मैं सभी के स्नेह में बाती डुबो कर गा रहा हूँ ॥

❑ ❑ ❑

विद्युत् की इस चकाचौंध में देख दीप की लौ रोती है ।
अरी हृदय को थाम महल के लिए झोपड़ी बलि होती है ॥

❑ ❑ ❑

छिलके उठते जा रहे, नया अंकुर मुख दिखलाने को है,
यह जीर्ण तनोवा सिमट रहा आकाश नया आने को है ।

यह भव्य कल्पना साहित्य के उत्थान के लिए अपेक्षित है। इस भव्य कल्पना के साथ-साथ दूसरी वस्तु जो समाज को प्रभावित करती है और हमारे मर्म पर प्रहार करती है, वह है भावुक व्यंग्य। बौद्धिक व्यंग्य में तो प्रभाव मस्तिष्क पर पड़ता है और हम थोड़ी देर के लिए प्रेरित होकर रह जाते हैं, परन्तु भावुक व्यंग्यों की मार रह-रहकर कसकती रहती है। हमारे लोकगीत इन भावुक व्यंग्यों से भरे पड़े हैं जिनमें प्रकृति की संक्षिप्त पृष्ठभूमि में बड़े मार्मिक चित्र हमारे सामने आते हैं और उनमें सामाजिक विषमता, दुर्व्यवहार, गरीबी, अनैतिकता, कर्कशता आदि व्यंग्य से प्रकट रहती है। यह भावुक व्यंग्य, जो लोकगीतों की निधि है, यदि कविता में हमारे कविगण उतार सकें, तो वास्तव में आज के काव्य में मार्मिकता स्वतः आ सकती है। कुछ कवि लोकगीतों के उन्नयनशील तत्त्वों को अपनी रचनाओं में उतार भी रहे हैं। ये दो बातें अभिव्यक्ति-सौन्दर्य से सम्बन्धित थीं।

एक और सामाजिक तत्त्व का उल्लेख करके हम यह वक्तव्य समाप्त करते हैं। यह है लोकानुभव या लोकनीति का तत्त्व। संस्कृत-काव्य की अनेक सूक्तियाँ सूत्र-मंत्रवत् प्रचलित हैं। घाघ की कहावतें हमारे ग्रामसमाज के घर-घर में घर कर बैठी हैं। तुलसीदास, कबीरदास आदि की सूक्तियाँ जन-जिह्वा पर नाचती रहती हैं। इन कवि-सूक्तियों में लोकानुभव व्यक्त हुआ है। ये लोकनीति का काम करती हैं। ये कवि के जीवनानुभव का निचोड़ हैं। ये हमारा मार्ग प्रशस्त करती हैं और विविध प्रकार के अनुभव से हमें लाभान्वित कराती हैं। अतः साहित्य में लोकानुभव और लोकनीति का प्रकाशन होना चाहिए। ये सूक्तियाँ उपदेशात्मक, व्यंग्यात्मक होती हुई भी सरस हैं। जैसे—

चाह गयी चिन्ता मिटी, मनुआ बेपरवाह।
जा कछू न चाहिए, सोई साहंसाह॥
पात पात को सींचिबो, बरी बरी को लोन।
तुलसी खोटे चतुरपन, कलि डँहके कहु को न॥
तुलसी पावस के समडय, धरी कोकिलन मौन।
अब तौ दादुर बोलिहैं, हमैं पूछिहैं कौन॥
तुलसी तृण जल कूल को, निरबल निपट निकाज।
कै राखै कै सँग चलै, बाँह गहे की लाज॥

तीसरे दोहे में तो ऐसा भावुक व्यंग्य है जो कि मर्मस्पर्शी प्रभाव डालता है। ये लोकानुभव कवि के अनुभव के रूप में अभिव्यक्ति पाकर साहित्य के जगमगाते रत्न बन जाते हैं। ये सूक्तिमुक्तावलियाँ किसी भी साहित्य की अमूल्य निधि हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि साहित्य के उत्थान के लिए प्रेरक उसका सामाजिक दृष्टिकोण है और उसके सहायक सामाजिक तत्त्व हैं— सत्य, मानवता, निर्मल चरित, सौन्दर्य, भव्य कल्पना, भावुक व्यंग्य और लोकानुभव की अभिव्यक्ति। भावुक व्यंग्य और निर्मल चरित्र-चित्रण के भीतर रस का समावेश स्वतः हो जाता है। इन सामाजिक तत्त्वों से युक्त होकर साहित्य उत्थान को प्राप्त करता है। ऐसा साहित्य समाज का भी उत्थान

करता है। इस प्रकार के साहित्य-सृजन के लिए साहित्यकार को साधना, तपस्या और अनुभव-अर्जन की अपेक्षा होती है। यह साहित्य समाज में समभाव का प्रसार करता है। इसी प्रकार के साहित्य की तुलना देवमंदिर से करते हुए हमारे एक कवि ने कहा है—

जय देवमंदिर देहली, समभाव से जिस पर चढ़ी,
नृप हेममुद्रा और रंक वराटिका ।
मुनि सत्य सौरभ की कली, कवि कल्पना जिसमें लिखी,
फूले फले साहित्य की यह वाटिका ॥

कवि के स्वरों में स्वर मिलाकर हम भी इस साहित्य की वाटिका के फूलने-फलने की मंगलकामना करते हैं।

■■

परिशिष्ट : 1

कवि-कोटियाँ

भारतीय काव्यशास्त्र के अन्तर्गत काव्यात्मा की खोज से सम्बन्धित विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है और काव्य के विविध रूपों पर विचार किया गया है, किन्तु कवि-कोटियों पर प्रकाश डालनेवाले ग्रन्थों की संख्या अधिक नहीं है। इस सम्बन्ध में निश्चित एवं तथ्यपूर्ण विवरण देनेवाले प्रमुखतया दो ही ग्रन्थ हैं— राजशेखरकृत काव्यमीमांसा और क्षेमेन्द्रकृत कविकण्ठाभरण। कवि-शिक्षा और सिद्धान्तों की विवेचना करनेवाले अनेक ग्रन्थों— जैसे, नाट्यशास्त्र, काव्यालंकार, काव्यादर्श, वक्रोक्तिजीवितम्, ध्वन्यालोक, अलंकारशेखर, काव्य-कल्पलतावृत्ति, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, रसगंगाधर आदि में इस विषय में कोई महत्त्वपूर्ण उल्लेख नहीं। अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में कवि-कोटियों अर्थात् कवियों के वर्गों, जातियों और प्रकारों पर कोई उल्लेख न होने का एक कारण तो इस प्रकार के वर्गीकरण की विवाद-ग्रस्तता हो सकती है। एक व्यक्ति यदि किसी एक आधार पर एक प्रकार के कवि को उत्कृष्ट ठहराता है तो दूसरा व्यक्ति दूसरे आधार पर दूसरे प्रकार के कवि को। इस प्रकार प्रत्येक निर्णय में अन्तर हो सकता है।

दूसरा कारण यह भी है कि काव्य की कोटियों के निर्धारण में तो सरलता है, क्योंकि किसी व्यक्तिगत आक्षेप का अवसर नहीं, किन्तु कविकोटियों पर अधिक विचार एवं उनका अधिक प्रचार होने से कवि के प्रति कुछ असम्मान का भाव भी लोगों में जाग्रत हो सकता है। तीसरा कारण यह भी जान पड़ता है कि कवि-कोटियों को निश्चित करने या प्रामाणिक माननेवाले भावुक या आलोचक यदि कवित्वशक्ति की उत्कृष्टता से सम्पन्न न हुए तो स्वयं अपनी ही कसौटी पर कसे जाकर सम्मान के भाजन नहीं हो सकते। अतः इस प्रकार का यत्न अधिक आवश्यक नहीं समझा गया। इसके अतिरिक्त चौथा कारण यह भी जान पड़ता है कि यह विषय अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं समझा गया और काव्य की कोटियों पर प्रकाश डाल देने पर अवांतर रूप से कविकोटियों पर भी प्रकाश पड़ ही जाता है, अतः लोगों का अधिक ध्यान इस ओर नहीं गया।

कारण कुछ भी हो, किन्तु पक्षपातहीन दृष्टि से कवि-कोटि-निर्धारण काव्य और कवि दोनों ही की उत्कृष्टता-वृद्धि में सहायक अवश्य होता है। इसी विश्वास को लेकर इस विषय पर कुछ सामग्री प्रस्तुत करने का प्रयत्न इन पंक्तियों में किया जा रहा है। इस विषय पर सबसे महत्त्वपूर्ण प्रकाश राजशेखर की काव्य-मीमांसा में डाला गया है।

राजशेखर ने अनेक प्रसंगों में कविकोटियों का निर्देश किया है और विभिन्न आधारों पर इनका विवरण दिया है। क्षेमेन्द्र ने भावापहरण करनेवाले छ: प्रकार के कवियों का उल्लेख किया है।

कवि का उपकार करनेवाली कारयित्री या रचनात्मक प्रतिभा तीन प्रकार की होती है, सहजा, आहार्या और औपदेशिकी। इसी के आधार पर कवियों की तीन कोटियाँ निश्चित की जा सकती हैं। प्रथम सारस्वत, द्वितीय आभ्यासिक और तृतीय औपदेशिक।

सारस्वत— इस कोटि में वे कवि आते हैं जिनकी कवित्वशक्ति सहजा प्रतिभा के द्वारा पूर्वजन्म के संस्कारवश कवि-कर्म में प्रवृत्त होती है।

आभ्यासिक— इस कोटि में वे कवि आते हैं जिनकी कवित्वशक्ति आहार्यबुद्धि के द्वारा इसी जन्म के अभ्यास से जाग्रत होती है।

औपदेशिक— इस कोटि के कवि वे हैं जिनकी काव्य-रचना उपदेश के सहारे होती है।

काव्य-सेवन के आधार पर भावक या आलोचक के चार भेद माने गये हैं। अरोचकी, सतृणाभ्यवहारी, मत्सरी और तत्त्वाभिनिवेशी। ये भेद वास्तव में आलोचक के ही माने जाने चाहिए। पर कुछ लोगों ने कवि के भी यही भेद मान लिये हैं। इनमें **अरोचकी** वह है जिसे अन्य किसी का काव्य अच्छा नहीं लगता। **सतृणाभ्यवहारी** वह है जो समस्त कविता कही जानेवाली छन्दोबद्ध रचना को पढ़ता है। **मत्सरी** वह है जो दूसरों के उत्तम काव्य को न पढ़ता है और न सुनकर प्रशंसा करता है, केवल दोषों को देखता है और **तत्त्वाभिनिवेशी** वह है जो काव्य के तत्त्व में प्रवेश कर उसे पहचानता और ग्रहण करता है। सूक्ष्मतया यदि विचार करें तो, जैसा पहले कहा जा चुका है, ये भेद आलोचक के ही हैं, क्योंकि इनका सम्बन्ध कारयित्री से अधिक भावयित्री प्रतिभा से है।

केवल प्रतिभा के आधार पर किये गये वर्गीकरण में उत्तरोत्तर निम्न श्रेणी के वर्ग आये हैं और इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है **सारस्वत** उत्तम कवि हैं, **आभ्यासिक** मध्यम कवि और **औपदेशिक** अधम कवि। किन्तु इसके उपरान्त प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों ही के आधार पर जो वर्गीकरण किया गया है उसमें इस प्रकार के उच्च-नीच के सम्बन्ध में मतभेद है। राजशेखर ने इस आधार पर तीन भेद किये हैं। **शास्त्रकवि, काव्यकवि, उभयकवि**। श्यामदेव के विचार से ये उत्तरोत्तर एक-दूसरे से बढ़कर हैं, परन्तु राजशेखर का मत इससे भिन्न है। उनकी दृष्टि से प्रत्येक अपने विषय में महत्त्वपूर्ण हैं और कोई किसी से घट-बढ़ नहीं है। **काव्यकवि** में कवित्व अधिक रहता है, अध्ययन और ज्ञान उतना नहीं, **शास्त्रकवि** में अध्ययन और ज्ञान अधिक रहता है, किन्तु उसमें रस और भाव की सम्पत्ति अधिक नहीं रहती और **उभयकवि** में दोनों ही बातों का समान महत्त्व रहता है। यद्यपि राजशेखर का मत भिन्न है, परन्तु कवित्व की दृष्टि से उभयकवि को सर्वोत्तम और शास्त्रकवि को निम्नतम समझना अधिक समीचीन है। इनमें शास्त्रकवि के भी भेद राजशेखर ने दिये हैं, पर उनके नाम नहीं। काव्यकवि के प्रभेद काव्य-मीमांसा में आठ कहे गये हैं। रचनाकवि, शब्दकवि, अर्थकवि, अलंकारकवि,

उक्तिकवि, रसकवि, मार्गकवि और शास्त्रार्थकवि— ये भेद काव्य की आत्मा या तत्त्व के आधार पर किये गये हैं। संस्कृत-साहित्य में काव्य की आत्मा की खोज में विभिन्न तत्त्वों के आधार पर अनेक काव्यसिद्धान्त प्रचलित हुए। कुछ विद्वानों ने अलंकार को ही काव्य में सब कुछ माना है। **अलंकारकवि** ऐसे कवि को कहा जाता है जिसकी रचना में अलंकार की ही प्रधानता होती है। वक्रोक्तिसिद्धान्त के आधार पर जिनकी रचना में उक्तिचमत्कार की प्रधानता हो उसे **उक्तिकवि** कहना चाहिए। इसी भाँति रस की अभिव्यक्ति जिस काव्य में प्रधानतया हो उसे **रसकवि**। रीतिसिद्धान्त के आधार पर रीति या मार्ग ही काव्य की आत्मा है, तो जिसके काव्य में रीति, मार्ग या शैली की विशेषता हो उसे **मार्गकवि** कहना चाहिए। ऐसा जान पड़ता है कि राजशेखर के समय तक ध्वनि और औचित्य के काव्यसिद्धान्त प्रचलित नहीं हुए थे, अन्यथा **ध्वनिकवि** और **औचित्यकवि** भी इसी आधार पर आने चाहिए।

शास्त्रार्थकवि वह है जो अपनी रचना में बड़ी सरलतापूर्वक शास्त्र के तत्त्वों का निरूपण करता है। **रचनाकवि** वह है जिसके काव्य में वाक्यों, शब्दों या वर्णों के संगुंफन का चमत्कार हो। **अर्थकवि** के काव्य में अर्थ का चमत्कार प्रधान रूप में पाया जाता है और इसे हम **ध्वनिकवि** कह सकते हैं। **शब्दकवि** की रचना में शब्दचमत्कार ही महत्त्वपूर्ण रहता है। शब्दकवि के राजशेखर ने तीन भेद किये हैं— नामकवि, आख्यातकवि और नामाख्यातकवि। **नामकवि** की रचना में संज्ञादि शब्दों के प्रयोग का चमत्कार है, **आख्यातकवि** की रचना में क्रियापदों के प्रयोग का चमत्कार रहता है और **नामाख्यातकवि** की रचना में दोनों प्रकार के शब्दों का। यहाँ पर हम ध्यान से देखें तो शब्दकवि के सभी प्रभेद रचनाकवि के अन्तर्गत आ सकते हैं और रचनाकवि स्वयं मार्गकवि का एक प्रभेद हो सकता है। इस प्रकार मुख्यत: छ: भेद ही रह जाते हैं। इनमें ध्वनि और औचित्यकवि को जोड़ दिया जाय तो ये आठ भेद आज भी माने जा सकते हैं और इस वर्गीकरण के आधार काव्य-सिद्धान्त हैं। राजशेखर के मतानुसार उपर्युक्त कवि के दो-तीन गुण जिन कवियों की रचना में पाये जाते हैं वे साधारण हैं; जिनमें पाँच-छ: हों वे मध्य और जो सर्वगुण-सम्पन्न हों उसे **महाकवि** कहना चाहिए।

पूर्वोक्त प्रतिभा के आधार पर किये गये सारस्वत, आभ्यासिक और औपदेशिक कवियों में राजशेखर ने दस अवस्थाएँ मानी हैं, उनमें प्रथम दो में सात और अन्तिम में तीन अवस्थाएँ हैं। इन अवस्थाओं के अनुसार निम्नलिखित कवि हैं—

1. **काव्य-विद्यास्नातक** वह है जो काव्य करने की इच्छा से गुरुकुल में रहता है।
2. **हृदयकवि** वह है जो हृदय में ही कविता करता है और किसी पर प्रकट नहीं करता।
3. **अन्यापदेशीकवि** वह है जो दोषभय के कारण अपनी रचना को दूसरों की कहकर व्यक्त करता है।
4. **सेविता,** जो काव्य का अभ्यास हो जाने पर किसी प्राचीन उत्तम कवि की छाया के रूप में कविता करता है।

5. **घाटमान**, जो निर्दोष, भावपूर्ण, किन्तु प्रबन्धहीन रचनाएँ लिखता है जिसे आजकल हम मुक्तककवि कह सकते हैं।
6. **महाकवि** वह है जो किसी भी प्रकार की प्रबन्धरचना कर सकता है।
7. **कविराज** वह है जो अनेक भाषाओं में, अनेक रसों में विभिन्न प्रबन्धों की रचना कर सकता है। संसार में ऐसे कवि बिरले ही होते हैं।
8. **आवेशिक** कवि वह है जो मन्त्रादि के बल से काव्य करने की सिद्धि प्राप्त कर आवेश की अवस्था में कविता कर सकता है। आजकल जिन्हें हम आशुकवि कहते हैं, वे इसी कोटि के कवि हैं।
9. **अविच्छेदी** वह है जो किसी प्रतिबन्ध के बिना, जब इच्छा हो तभी कविता कर सकता है।
10. **संक्रमयिता** वह मन्त्रसिद्ध कवि है जो अपने मन्त्रबल से कुमार-कुमारियों में कवित्व-शक्ति का संचार कर सकता है।

उपर्युक्त अवस्थाओं से यह प्रकट होता है कि अभ्यास के द्वारा कवि एक अवस्था से दूसरी अवस्था प्राप्त कर सकता है। राजशेखर का मत है कि अभ्यास के द्वारा सुकवि के वाक्य परिपक्व होते हैं। (सततमभ्यासवशत: सुकवे: वाक्यं पाकमायाति।)

चार प्रकार के कवि कविताकाल के विचार से कहे गये हैं। प्रथम **असूर्यम्पश्य** कवि हैं, जो किसी गुफा के भीतर या घर में बैठकर निष्ठापूर्वक काव्यरचना करते हैं। द्वितीय **निषण्ण** कवि हैं जो काव्यक्रिया के लिए बैठकर रचना करता है। इसमें उतनी निष्ठा नहीं होती। इसकी रचना के वे सभी काल हैं जिनमें वह दत्तचित्त है। तृतीय **दत्तावसर** कवि हैं जो अपना अन्य सेवादिक कार्य समाप्त करके समय प्राप्त होने पर कविता करता है। इसके लिए ब्राह्म या सारस्वत मुहूर्त उत्तम काल है। चतुर्थ **प्रायोजनिक कवि** हैं जो किसी प्रयोजन को लेकर काव्यरचना करता है। इसके लिए जब कोई ऐसा प्रयोजन प्रस्तुत होता है; वही कविताकाल है, जैसे— उत्सव आयोजनादि।

रचना की मौलिकता के आधार पर कवि के चार भेद हैं, उत्पादक, परिवर्तक, आच्छादक एवं संवर्गक। **उत्पादक कवि** अपनी नवीन उद्भावना के आधार पर मौलिक रचना प्रस्तुत करता है। **परिवर्तक** दूसरे कवियों की रचना में कुछ उलटफेर करके अपनी छाप डाल उसे अपनी रचना बना लेता है। **आच्छादक कवि** कुछ साधारण हेरफेर से ही दूसरों की रचना छिपाकर उसे अपनी ही कहकर प्रसिद्ध कर देता और **संवर्गक कवि** प्रकट रूप से खुल्लमखुल्ला दूसरे के काव्य को अपना कहकर प्रकाशित करता है। इन कवियों में वास्तव में उत्पादक कवि को ही कवि मानना चाहिए, अन्य तो नकलची, चोर या डाकू हैं, कवि नहीं।

दूसरों की उक्ति हरण करनेवाले वर्ग चार प्रकार के हैं। इनकी दशा अयस्कान्त या चुम्बक के समान है। ये कवि दूसरों का आधार तो लेते हैं, पर उनमें अपने गुणों का समावेश कर देते हैं। इनके नाम हैं, भ्रामक, चुम्बक, कर्षक और द्रावक। **भ्रामक कवि**

पुराणादि की अप्रसिद्ध अथवा दूसरों के द्वारा अदृष्ट वस्तुओं का वर्णन करके दूसरों को अपनी मौलिकता के भ्रम में डाल देता है। **चुम्बक कवि** वह है जो दूसरों के भाव को ग्रहण कर उसको अपनी मनोहारी उक्तियों द्वारा अपना रंग प्रदान कर देता है। **कर्षक कवि** वह है जो दूसरों के वाक्यों और अर्थों को उनकी रचना से खींचकर अपनी रचना में स्थान देता है। **द्रावक कवि** वह है जिसकी रचना में उसके बिना जाने ही दूसरों के अर्थ आकर एक मनोहारी नवता ग्रहण करते हैं।

काव्य-मीमांसाकार ने इन चारों प्रकारों को लौकिक कहा है। इनके साथ ही उन्होंने अदृष्टचरार्थदर्शी 'चिन्तामणि' नाम के अलौकिक कवि का वर्णन किया है। उनका कथन है कि—

चिन्तासमं यस्य रसैकसूतिरुदेति चित्राकृतिरर्थसार्था ।
अदृश्यपूर्वो निपुणैः पुराणैः कविः स चिन्तामणिरद्वितीयः ॥

जिसमें एक साथ अर्थ, रस, चित्र आदि की विचित्र प्रभा रहती है, जैसी पूर्ववर्ती निपुण कवियों में भी देखने को नहीं मिलती है, वह **चिन्तामणि कवि** है।

भावापहरण करनेवाले कवियों की विभिन्न रीतियों का वर्णन राजशेखर ने अधिक विस्तार के साथ किया है जिसके विवरण की यहाँ आवश्यकता नहीं, किन्तु इसी प्रकार का वर्णन क्षेमेन्द्र का भी है जो महत्त्वपूर्ण है। कविकंठाभरण में क्षेमेन्द्र ने भावापहरण करनेवाले छः प्रकार के कवियों का वर्णन किया—

छायोपजीवी पदकोपजीवी, पादोपजीवी सकलोपजीवी ।
भवेदथप्राप्तकवित्वजीवी स्वोन्मेषतो वा भुवनोपजीव्यः ॥

इनमें से **छायोपजीवी कवि** वह है जो दूसरे कवियों के काव्य की छाया मात्र लेकर काव्य करता है, **पदकोपजीवी** दूसरे के एकाध पद को लेकर अपनी रचना सजाता है। **पादोपजीवी** छन्द का एकाध चरण लेकर अपने छन्द की पूर्ति करता है। **सकलोपजीवी** समस्त रचना को ग्रहण कर अपनी कह देता है। **प्राप्तकवित्वजीवी** कवि-शिक्षा को प्राप्त करके कविता करता है और **भुवनोपजीवी** अपने उन्मेष, आवेश या प्रतिभा के बल पर समस्त विश्व से अपने विषय को ग्रहण करता है। इनमें अन्तिम दो वास्तव में कवि हैं, किन्तु प्रथम चार तो पराश्रितमात्र हैं। क्षेमेन्द्र ने इसके बाद कवि-शिक्षा पर ही अधिक प्रकाश डाला है; कवि-कोटियों पर अधिक विवरण उपलब्ध नहीं।

ज्योतिरीश्वर कविशेखराचार्य ने अपने ग्रन्थ 'वर्णरत्नाकर' में राजदरबार के वर्णन-प्रसंग में कवियों का उल्लेख किया है। उसमें **कवि, सुकवि, सत्कवि** और **महाकवि** नामों का संकेत है; किन्तु इनके लक्षण नहीं दिये हैं।

हिन्दी के ग्रन्थों में भी कवि-कोटियों पर कोई महत्त्वपूर्ण विचार नहीं मिलता। एकाध ग्रन्थ ही ऐसे हैं जिनमें एक विषय पर प्रकाश डाला गया है। केशवदास की कविप्रिया में कवि के तीन भेदों का उल्लेख है— उत्तम, मध्यम और अधम। उनका यह वर्गीकरण वर्ण्य विषय के आधार पर है, जैसा नीचे के दोहे में देख सकते हैं—

उत्तम मध्यम अधम कवि, उत्तम हरि रस लीन ।
मध्यम बरनत मानुखनि, दोषहिं अधम अधीन ॥

इस प्रकार केशव की दृष्टि से ईश्वर का गुणगान करनेवाले उत्तम, मनुष्यों का गुणगान करनेवाले मध्यम और दोषयुक्त रचना करनेवाले या गुण को छोड़ दोषों का दिग्दर्शन करानेवाले अधम कवि हैं। यह धारणा युगविशेष में ही मान्य हो सकती है। भिखारीदास के काव्य-प्रयोजन या फल के आधार पर किये गये वर्गीकरण का उल्लेख यहाँ पर किया जा सकता है। उनके अनुसार तीन प्रकार के कवि हैं— एक वे जो अपने तप और साधन के बल से संसार में पूज्य कवि होते हैं, दूसरे जो अपने काव्य के द्वारा बहुत अधिक धन-संपत्ति और बड़ाई प्राप्त करते हैं और तीसरे वे हैं जो कवि रूप में प्रसिद्धि प्राप्त कर केवल यश के भागी होते हैं।

कवि-जाति और कवि-भेद पर कुछ सामान्य उल्लेख जगन्नाथप्रसाद 'भानु' के 'काव्यप्रभाकर' ग्रन्थ में भी हुआ है। रस-रुच्यनुसार कवियों की चार जातियाँ उन्होंने बतायी हैं जो हिन्दू-समाज में प्रचलित वर्णव्यवस्था का आधार लिए हुए हैं। उनमें उनके मनोवैज्ञानिक स्तर, रुचि और प्रवृत्ति की ओर संकेत है। भानु जी के अनुसार जिस कवि की रुचि शृंगार, हास्य, अद्भुत और शान्त रस पर रहती है वह **ब्राह्मण कवि,** जिसकी रुचि रौद्र, वीर पर रहती है वह **क्षत्रिय कवि,** जिसकी रुचि करुण रस पर हो, वह **वैश्य कवि** और जिसकी रुचि वीभत्स और भयानक रसवर्णन की ओर हो वह **शूद्र कवि** है। इस प्रकार के कवि-जाति-निश्चय से कोई वास्तविक लाभ नहीं, क्योंकि एक तो रस सभी समान महत्त्व के हैं और इस वर्णव्यवस्था से तुलना करने पर विषमता का भाव उत्पन्न होता है; दूसरे रससिद्ध कवि सभी रसों के वर्णन में समर्थ होते हैं और शृंगारादि तो सभी को प्रिय है। तीसरे, इस वर्गीकरण पर ध्यान देने से फिर करुण, वीभत्स और भयानक रसों पर लेखनी-संचालन कर कौन अपने को घटाकर सिद्ध करेगा? अतः यह वर्गीकरण ठीक नहीं।

अधम काव्य न लिखा जाय यह तो ठीक है, पर इन रसों पर लिखनेवाले कवि न हों, यह ठीक नहीं। अतः यह जातिभेद, जिसकी आज समाज में ही अधिक आवश्यकता नहीं; काव्य में कदापि समीचीन नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार 'भानु' जी ने समस्यापूर्ति करनेवाले कवियों के भी भेदों का निर्देश किया है। समस्या-पूर्ति करनेवाले कवियों की एक अलग कोटि अवश्य मानी जा सकती है; क्योंकि उनकी कल्पनाशक्ति एक निश्चित विषय, पद या छन्द की लय का आश्रय लेकर काम करती है जबकि स्वच्छन्द कवि खुलकर अपने भीतर की अनुभूति का वर्णन करता है। प्रथम में कलात्मकता अधिक है, भावात्मकता कम। भानुजी ने इन समस्या-पूर्ति करनेवाले कवियों के चार प्रकार माने हैं। प्रथम वे हैं जो अपने इष्टदेव की सहायता से किसी विषय या समस्या का तथ्य समझकर उस पर लिखते हैं। द्वितीय वे हैं जो किसी सामयिक घटना पर ढालकर छन्द की रचना करते हैं। तृतीय वे हैं जो आश्रयदाता की रुचि देखकर उसके अनुसार समस्या-पूर्ति करते हैं और चतुर्थ वे हैं जो समस्यान्तर्गत अर्थ के अनुकूल अपना छन्द ढालते हैं। इस प्रकार **प्रबन्धकवि** और **मनमौजी** कवियों के अतिरिक्त इन समस्यापूरक कवियों की भी एक अलग कोटि समझनी चाहिए।

हिन्दी-काव्य को सामने रखकर विभिन्न आधारों पर कवि-कोटियाँ निश्चित की जा सकती हैं जिनका विवरण अति विस्तृत हो सकता है। अतः विस्तारभय से उनका यहाँ **संक्षिप्त** निर्देशन ही किया जायेगा। उनमें से अधिकांश राजशेखर की कवि-कोटियों में भी आ सकते हैं, पर हिन्दी-काव्य के प्रसंग में उनका अलग ही वर्णन होना अपेक्षित है।

कथासूत्र या बंध के आधार पर काव्यकोटि के अनुसार कवि की भी दो कोटियाँ हो सकती हैं— एक प्रबन्ध कवि और दूसरे मुक्तक कवि। **मुक्तक कवि** किसी भी कथासूत्र को नहीं अपनाता जबकि **प्रबन्ध कवि** कथा या चरित्र को लेकर ही चलता है। प्रबन्ध कवि के दो आधारों पर भेद किये जा सकते हैं। यदि चरित्र या कथानक बहुत विस्तृत या पूर्ण हुआ और कवि उसमें विचित्र भावों तथा रसों का वर्णन करने में समर्थ हुआ तो उसे **महाकवि** कहते हैं। और यदि यह कथानक समस्त वृत्त या चरित्र का एक अंश मात्र ही है, तो उसे **खण्डकवि** कह सकते हैं। कथानक में यदि लौकिक या प्राकृतिक चरित्र का वर्णन है तो उसे **लौकिक कवि** और यदि दिव्य या अलौकिक चरित्र का वर्णन है तो उसे **अप्राकृत कवि** कहते हैं।

छन्दों के आधार पर कवियों के तीन भेद किये जा सकते हैं। छन्द कवि, स्वच्छन्द कवि और गीत कवि। जो अपनी रचना में नियमित छन्दों का ही प्रयोग करते हैं वे **छन्द कवि**, जो मुक्त या स्वच्छन्द छन्दों का प्रयोग करते हैं वे **स्वच्छन्द कवि** और जो गीतों का प्रयोग करते हैं उन्हें **गीत कवि** कहना चाहिए।

अभिव्यक्ति या प्रकाशन की प्रवृत्ति के आधार पर कवि की दो कोटियाँ हैं। प्रथम **मौन कवि**, द्वितीय **मुखर कवि**। मौन कवि की रचना पाठक को केवल लिपिबद्ध रूप में पढ़ने के लिए ही मिलती है, जबकि **मुखर कवि** स्वयं ही अपनी वाणी से काव्य का आस्वादन श्रोताओं को कराता है। मुखर कवि के दो प्रमुख भेद हैं— एक **गोष्ठी कवि** और दूसरे **सम्मेलनी कवि**। **गोष्ठी कवि** दस-पाँच रसिकों की गोष्ठी में ही अपनी रचना सुनाता है, जबकि **सम्मेलनी कवि** बड़े-बड़े समारोहों, समाजों और कवि सम्मेलनों में अपनी रचना सुनाते हैं। सम्मेलनी कवियों के अनेक प्रभेद हैं, जिनमें से प्रमुख हैं— समस्यापूर्वक कवि, कण्ठ कवि, अभिनय कवि, आशु कवि, मौजी कवि, एकछन्दोपजीवी कवि, भाव कवि और भाषा कवि। **समस्या कवि** किसी समस्या को ही लेकर अपना चमत्कार दिखा सकता है। **कण्ठ कवि** वह है जो अपने सुरीले और मधुर कण्ठ से साधारण कविता भी इस प्रकार पढ़ता है कि सभी पर प्रभाव पड़ता है। किन्तु कोई जब अपने-आप एकान्त में उसे पढ़ता है तब उसमें कोई विशेष सार नहीं मिलता। **अभिनय कवि** कवि-सम्मेलन में पठित कविता के साथ-साथ अपने अंग-संचालन आदि से भावों का अभिनय करता जाता है। **आशु कवि** वह है जो किसी विषय या समस्या पर किसी समय तुरन्त कविता बनाता और कहता चला जाता है। यह राजशेखर के आवेशिक या अविच्छेदी कवि के समान ही है। **मौजी कवि** वह है जो अपनी मौज में आकर कविता सुनाता है, कहने से नहीं और सुनाना प्रारम्भ करता है तो जी भरकर सुनाता चला जाता है। **एकछन्दोपजीवी कवि** वह है जो किसी एक छन्द को ही प्रत्येक

कवि-सम्मेलन में सुनाया करता है। **भाव कवि** वह है जो अपने किसी विशिष्ट भाव-चमत्कार के कारण श्रोताओं पर प्रभाव डालता है। **भाषा कवि** वह है जो अपने भाषा-चमत्कार के द्वारा जन-समुदाय को मुग्ध करता है। इन कवियों में ऐसे भी कवि हो सकते हैं जिनमें एक से अधिक विशेषताएँ विद्यमान हों। जिनमें अधिक विशेषताएँ हों उन्हें ही सिद्ध कवि कहना चाहिए। इनमें दूसरे और तीसरे प्रभेद को छोड़कर लगभग सभी प्रभेद मौन कवि के भी हो सकते हैं।

हिन्दी-कवियों की कोटियों का निर्धारण एक और आधार पर करना आवश्यक है, वह है काव्यगत प्रवृत्तियों का आधार। इस आधार पर कवियों के अनेक भेद-प्रभेद देखे जा सकते हैं जिनमें से प्रमुख भेदों का उल्लेख यहाँ सम्भव है, जो ये हैं— भक्त कवि, नीति कवि, रीति कवि, राष्ट्रीय कवि, छायावादी, प्रयोगवादी, प्रगतिवादी कवि आदि। **भक्त कवि** वे हैं जिनका प्रमुख विषय भक्ति है, इन्हें हम तीन रूपों में देख सकते हैं। सन्त कवि, अवतारवादी कवि और रहस्यवादी कवि। सन्तकवि निर्गुणोपासक और ज्ञानचर्चा करनेवाले हैं, अवतारवादी सगुणोपासक और विविध भावों में अभिव्यक्ति करनेवाले तथा रहस्यवादी कवि वे हैं जो रहस्यभावना के द्वारा अपने और जगत के भीतर एक दिव्य रूप और शक्ति का अनुभव करते हैं। **नीति कवि** अपने अनुभव के आधार पर लोक-व्यवहार की नीति का वर्णन करते हैं। **रीति कवि** वे हैं जिन्होंने लक्षण-ग्रन्थों के उदाहरण रूप में अपनी रचना की है। इनके अलंकार, रस, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि के आधार पर अनेक प्रभेद हैं। **राष्ट्रकवि** वे हैं जो देश-प्रेम और राष्ट्रीयता की भावना को लेकर प्रमुखतया कविता करते हैं। **छायावादी कवि** नये प्रतीक, उपमान और लक्ष्यार्थों को लेकर अस्पष्ट आलम्बन के प्रति कविता लिखनेवाले कवि हैं। ये हिन्दी की आधुनिक मधुर शैली का प्रयोग करनेवाले कवि माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त नवीन छन्दों, प्रतीकों और प्रभाव को लेकर ही प्रयोग करनेवाले कुछ नवीन **प्रयोगवादी** कोटि के भी कवि हैं। प्रगतिवादी कवि— काव्य द्वारा लोक की प्रगति का सिद्धान्त लेकर रचना करनेवाले कवि हैं। इनके दो भेद हैं— **प्रचारवादी** और **प्रगतिशील**। **प्रचारवादी कवि** वे हैं जो अपनी रचनाओं द्वारा मार्क्सवाद या साम्यवाद का प्रचार करते हैं और **प्रगतिशील कवि** अपनी रचनाओं द्वारा हमारी समस्याओं पर प्रकाश डालते और यथार्थ जीवन का चित्रण कर प्रगति का आदर्श समुपस्थित करते हैं। इन्हें भी हम दो वर्गों में देख सकते हैं, एक **जन-कवि** हैं जो सामान्य जनता के जीवन अथवा समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं और दूसरे **समाज कवि** हैं जो समाज की प्रगति का उद्देश्य रखकर उसके यथार्थ और आदर्श स्वरूप पर अपना कविता करते हैं। इनके भी अनेक भेद-प्रभेद हैं।

इस प्रकार ऊपर की पंक्तियों में अति संक्षेपरूप में भारतीय काव्य में प्राप्त कवि-कोटियों का निर्देशन किया गया है। इन सबके उदाहरण भी जुटाये जा सकते हैं। यदि कवि का निश्चय करने के उपरान्त हम उनकी रचना के उदाहरण भी देने का प्रयत्न करें, तो अन्य अनेक भेद-प्रभेद मिल सकते हैं। प्रस्तुत लेख के अन्तर्गत हिन्दी काव्य की कोटियों में इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा गया कि कौन घटकर और कौन बढ़कर हैं। उसे संस्कृत के वर्गीकरण के आधार पर ही जानना चाहिए। वैसे इसका निर्णय सभी कर

सकते हैं। निष्पक्ष विवेचन में तो लक्षण मात्र देने का प्रयत्न करना ही अलम् है, क्योंकि तुलसीदास जी के शब्दों में कौन बड़ा है और कौन छोटा है, इसका निर्णय देना अपराध है—

को बड़ छोट कहत अपराधू ।
गुनि गुन दोष समुझिहँहिं साधू ॥

काव्य की नूतन प्रवृत्तियों के विकास के साथ, अन्य अनेक भेद भी निकलते आयेंगे। ये भेद प्रायः कवि की किसी एक रचना या प्रवृत्ति के प्रसंग से है। एक ही कवि में अनेक प्रवृत्तियाँ और विशेषताएँ देखी जा सकती हैं। कुछ कवि रचनाओं द्वारा प्रेरक होते हैं और कुछ मनोरंजक। दोनों ही का अपना महत्त्व है। कविकोटियों का यह विवरण मनोरंजन के हेतु है, अतः इसे साधु दृष्टि से ही देखा जाना चाहिए।

■ ■

परिशिष्ट : 2

सहायक ग्रन्थ-सूची

(क) संस्कृत ग्रन्थ

1. अग्नि पुराण -व्यास
2. ईशावास्योपनिषद्
3. काव्यादर्श -दण्डी
4. काव्यानुशासन -हेमचन्द्र
5. काव्य-प्रकाश -मम्मट
6. काव्यालंकार -भामह
7. काव्यालंकार सूत्र -वामन
8. काव्य-मीमांसा -राजशेखर
9. दशरूपक -धनञ्जय
10. ध्वन्यालोक -आनन्दवर्धन
11. नाट्यशास्त्र -भरतमुनि
12. मुण्डकोपनिषद्
13. रसगंगाधर -जगन्नाथ (पण्डितराज)
14. वक्रोक्तिजीवितम् -कुन्तक
15. साहित्य-दर्पण -विश्वनाथ

(ख) हिन्दी ग्रन्थ

1. अलंकारमंजूषा -भगवानदीन 'दीन'
2. आलोचना के सिद्धान्त -शिवदानसिंह चौहान
3. कहानी का रचना-विधान -जगन्नाथ प्रसाद शर्मा
4. काव्य के रूप -गुलाब राय
5. काव्यदर्पण -रामदहिन मिश्र
6. चिन्तामणि -रामचन्द्र शुक्ल
7. दर्शन, साहित्य और आलोचना -बेलिंस्की आदि

8. पाश्चात्य आलोचना के सिद्धान्त -लीलाधर गुप्ता
9. पाश्चात्य साहित्यालोचन और हिन्दी पर उसका प्रभाव -रवीन्द्रसहाय वर्मा
10. भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा -डॉ० नगेन्द्र
11. भारतीय साहित्यशास्त्र -बलदेव उपाध्याय
12. रूपक-रहस्य -श्यामसुन्दरदास और पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
13. वाङ्मय-विमर्श -विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
14. समीक्षा-दर्शन -रामलाल सिंह
15. साहित्य-रूप -रामअवध द्विवेदी
16. साहित्यालोचन -श्यामसुन्दरदास
17. सिद्धान्त और अध्ययन -गुलाबराय
18. हिन्दी का गद्य-साहित्य -रामचन्द्र तिवारी
19. हिन्दी गद्य-मीमांसा -अम्बिकादत्त व्यास
20. हिन्दी वक्रोक्तिजीवितम् -डॉ० नगेन्द्र

(ग) अंग्रेजी ग्रन्थ

1. Aesthetic -Croce.
2. A Study in Epic Development -I.T. Myers.
3. Drama -Ashley Dukes.
4. Elements of Poetry -James R. Kreuzer.
5. Epic -A bercrombie.
6. From Virgil to Milton -C. M. Bowra.
7. History of Literary Criticism -George Saintsbury.
8. Illusion and Reality -Caudwel Cristopher.
9. Modern Poetry -Louis Macneice.
10. Oxford Lectures on Poetry -Dr. A. C. Bradley.
11. Philosophy of Fine Arts -Hegel.
12. Poetics -Aristotle.
13. Symbolism and Belief -Elmyn Beben.
14. The Art of Drama -Ronald Peacock.
15. The Literary Symbol -William Yorktindal.
16. Theory of Literature -Wellek and Warren.
17. What is Art and Other Essays -Tolstoy.

■■

लेखक-अनुक्रमणिका

■■

ग्रन्थ-अनुक्रमणिका

■ ■

डॉ. भगीरथ मिश्र के समीक्षाशास्त्र विषयक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ

पाश्चात्य काव्यशास्त्र : इतिहास, सिद्धान्त और वाद

इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में प्राचीनकाल के अंतर्गत यूनानी तथा लैटिन काव्यशास्त्रीय चिन्तन; मध्यकालीन के अंतर्गत इटैलियन, फ्रांसीसी, स्पेनी, जर्मन, रूसी, अमरीकी तथा अंग्रेजी कला-साहित्य-चिन्तन तथा आधुनिक युग के अंतर्गत मार्क्सवादी, मनोवैज्ञानिक, अस्तित्ववादी, कला-साहित्य शुद्ध चिन्तनधारा, नया साहित्य-चिन्तन अथवा नव्यालोचना पर विस्तृत विचार किया गया है।

द्वितीय खण्ड में काव्य सिद्धान्त और वादों पर विचार किया गया है। काव्य-सिद्धान्त के अंतर्गत अनुकृति, विरेचन, औदात्य, औचित्य, अभिव्यंजना, परम्परा एवं इतिहास-बोध, निर्वैयक्तिकता का सिद्धान्त, मूल्य-सिद्धान्त, संप्रेषण-सिद्धान्त, व्यावहारिक समीक्षा-संबंधी सिद्धान्त, वक्रोक्ति-सिद्धान्त पर विस्तार से विचार किया गया है।

प्रमुख वाद के अंतर्गत अस्तित्ववाद, आदर्शवाद, नव्यशास्त्रवाद, स्वच्छन्दतावाद, कलावाद, प्रतीकवाद, बिम्बवाद, प्राकृतवाद तथा अतियथार्थवाद की समीक्षा की गई है।

प्रमुख पाश्चात्य साहित्य चिन्तकों—सुकरात, प्लेटो, अरस्तू, लांजाइनस, सिसरो, होरेस, क्विंटिलियन, सेंट आगस्टाइन, टामस एक्वाइनस, दान्ते, जिराल्डी शिंटो, कैसेलवेत्रो, बोइलो, सेंट व्यूव, तेन, फ्लोवेयर, जोला, बादलेयर, मलार्मे, रिम्बो, पाल वेलरी, हेनरी वर्गसाँ, वाल्टेयर, देनिस दिदरो, रूसो, लुई विवे, डे कास्ट्र, लिओ पोण्डो अलास, बॉम गार्टन, सुल्जर, मेण्डल्सन, विंकिलमन, लेसिंग, हाइन्स, हैमन, काण्ट, गोइठे (गेटे), हम्बोल्ट, शिलर, फ़िक्टे, हीगेल, शॉपेनहोवर, फ्रेडरिख नीत्शे, बेलिंस्की, हर्जन, चर्नोशेव्स्की, दोब्रोल्युबोव, पिसारेव, तालस्टॉय, इमर्सन, हेनरी डेविड धोरो, एडगर एलेन पो, लावेल, ई॰सी॰ स्टेडमैन, सर थामस विल्सन, गैस्क्वाइन, स्टीफेन गॉसन, सर फिलिप सिडनी, विलियम वेव, सैमुअल डेनियल, लार्ड बेकन, बेन जानसन, जान ड्राइडन, जोसेफ एडीसन, अलेक्जेण्डर पोप, डॉक्टर सैमुअल जानसन, विलियम वर्ड्सवर्थ, सैमुअल टेलर कॉलरिज, विलियम हैजलिट, मैथ्यू आर्नल्ड, वाल्टर पेटर, आस्कर वाइल्ड, कार्ल मार्क्स, एंजिल्स, लेनिन, लियों ट्राटस्की, मैक्सिम गोर्की, क्रिस्टोफर काडवेल, जार्ज लूकाच, सिगमंड फ्रायड, एल्फ्रेड एडलर, कार्ल जुंग, मैक्डूगल, डॉ. हैवलाक एलिस, सोरेन

कीर्केगार्द, मार्टिन हेडेगर, कार्ल जास्पर्स, काक्का, फ्रान्ज, ज्याँ पाल सार्त्र, अल्बेयर कामू, बेनेदेतो क्रोचे, एज़रा पाउण्ड, टी॰ एस॰ इलियट, जान क्रो रैनसम, हरबर्ट रीड, आई॰ए॰ रिचर्ड्स, फ्रैंड रेमंड लीविस, एलेन टेट, टिलियर्ड, क्लीन्थ ब्रुक्स, सर विलियम सैम्पसन, लायोनेल ट्रिलिंग, डब्लू॰ के॰ विम्सट, रेनेवेलक और आस्टिन वारेन आदि के सिद्धान्तों की विस्तृत समीक्षा की गई है।

साहित्य शास्त्र के छात्रों के लिए पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है।

नया काव्यशास्त्र

नये काव्यशास्त्र की आवश्यकता पर विचार करते हुए विद्वान् लेखक ने कला और कविता के स्वरूप चिन्तन, काव्य के तत्व, काव्य की रचना प्रक्रिया, सौंदर्य और उसकी विविध अनुकृतियाँ, काव्यभाषा का स्वरूप, काव्य की विविध विधायें, पद्य काव्य या कविता के भेद तथा नये काव्यशास्त्र के मूल सूत्र पर गंभीर चिन्तन किया गया है।

काव्यशास्त्रीय चिन्तन को नयी दिशा प्रदान करने में यह ग्रन्थ निश्चय ही सहायक सिद्ध होगा।

काव्य रस : चिन्तन और आस्वाद

किसी रचना में जो आनन्द प्राप्त होता है, वही रस है। उस आनन्द में तन्मयता ही रसानुभूति और रसास्वाद है। इसी दृष्टि से प्रथम खण्ड में काव्य रस संबंधी चिन्तन का पक्ष प्रस्तुत किया गया है और इसके दूसरे खण्ड में काव्य रस के आस्वाद का विश्लेषण किया गया है।

प्रकाशक

विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी

साहित्य शास्त्र, भाषा शास्त्र, साहित्य समीक्षा

आधुनिक हिन्दी आलोचना : संदर्भ एवं दृष्टि (पारिभाषिक शब्दावली का साक्ष्य)	डॉ० रामचन्द्र तिवारी
आलोचक का दायित्व	डॉ० रामचन्द्र तिवारी
कबीर और भारतीय संत साहित्य	डॉ० रामचन्द्र तिवारी
हिन्दी गद्य : प्रकृति और रचना सन्दर्भ	डॉ० रामचन्द्र तिवारी
कृति चिन्तन और मूल्यांकन सन्दर्भ	डॉ० रामचन्द्र तिवारी
हिन्दी का गद्य-साहित्य (पूर्णतया संशोधित तथा परिवर्धित चतुर्थ संस्करण)	डॉ० रामचन्द्र तिवारी
कथा राम कै गूढ़	डॉ० रामचन्द्र तिवारी
आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	डॉ० रामचन्द्र तिवारी
काव्यरस : चिन्तन और आस्वाद	डॉ० भगीरथ मिश्र
नया काव्यशास्त्र	डॉ० भगीरथ मिश्र
पाश्चात्य काव्यशास्त्र : इतिहास, सिद्धान्त और वाद	डॉ० भगीरथ मिश्र
गोरखनाथ : नाथ सम्प्रदाय के परिप्रेक्ष्य में	डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्या
भये कबीर, कबीर	डॉ० शुकदेव सिं
हिन्दी संत काव्य : समाजशास्त्रीय अध्ययन	प्रो० वासुदेव सिं
हिन्दी नवजागरण का विमर्श	डॉ० गजेन्द्र पाठक
आलोचना की संस्कृति	डॉ० गजेन्द्र पाठक
क्रान्तिकारी कवि निराला	डॉ० बच्चन सिंह
हिन्दी काव्य में हनुमत् चरित्र	डॉ० मीनाकुमारी गुप्त
तुलसीकृत विनयपत्रिका का काव्यशास्त्रीय अध्ययन	डॉ० रामअवतार पाण्डेय, डॉ० भगवानदेव पाण्डेय
मुक्तिबोध की कविता	डॉ० ब्रजबाला सिंह
प्रगतिशील काव्यधारा और त्रिलोचन	डॉ० हरिनिवास पाण्डेय
प्रगतिशील आलोचना की परम्परा और डॉ० रामविलास शर्मा	डॉ० राजीव सिंह
आधुनिक हिन्दी कविता का वैचारिक पक्ष	डॉ० रतनकुमार पाण्डेय
सौन्दर्यबोध और हिन्दी नवगीत	डॉ० माधवेन्द्रप्रसाद पाण्डेय
हिन्दी व्यंग्य साहित्य और हरिशंकर परसाई	डॉ० मदालसा व्यास
फणीश्वरनाथ रेणु और उनका कथा साहित्य	डॉ० रागिनी वर्मा

Rs. 100.00
ISBN 81-7124-427-0
9788171244270

विश्वविद्यालय प्रकाशन
पो०बॉ० 1149, विशालाक्षी भवन,
चौक, वाराणसी - 221001
Phone & Fax : (0542) 2413741, 2413082
e-mail : sales@vvpbooks.com

www.vvpbooks.com